Subscription Rates (per issue) :—

U.S.A.	...	...	...	$ 1
U.K.	...	...	...	sh. 10
India	...	...	...	Rs. 5.00
B.H.U.	...	...	...	Rs. 3.00

RULES

(1) The "Prajñā", shall, so far as possible, be published twice a year : one issue immediately after the Dipawali, the other immediately before the Holi.

(2) All subscriptions should be sent to the Assistant Editor, "Prajñā", B.H.U. Journal, Varanasi-5.

(3) Articles intended for publication in this Journal by B.H.U. scholars should be submitted to the Faculty Editor before July 20 for the first issue and November 20 for the next issue and should reach the Editorial Board on July 30 and Nov. 30 respectively.

(4) Articles should ordinarily be type-written on foolscap paper on one side only and should not ordinarily cover more than 10 pages. Teacher-authors contributing original articles to the Journal are entitled to receive 50 off-prints gratis and the students will get 25 off-prints.

(5) Article of a highly technical nature will not be entertained.

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका

अंक १८ भाग (२) मार्च १९७०

विषय सूची

भारतीय विश्वविद्यालय : समस्याएँ और समाधान*

डॉ० कालूलाल श्रीमाली

कुलपति, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

श्री कुलाधिपति महोदय, श्री कुलपतिजी, विद्वत्-परिषद् के सदस्यगण एवं मित्रो !

मैं अतिशय गौरव का अनुभव कर रहा हूँ कि इस विश्वविद्यालय का दीक्षांत भाषण करने के लिए मुझे आमंत्रित किया गया है। जिन दिनों मैं यहाँ का विद्यार्थी था, उस समय तक इस विश्वविद्यालय का उदय नहीं हुआ था ; किन्तु महाराणा इण्टरमीडिएट कालेज में, जो कालान्तर में इस विश्वविद्यालय के उद्‌भव का मुख्याधार बना, लगभग ४५ वर्ष पूर्व के अपने छात्र जीवन की अनेक सुखद स्मृतियों को मैं अपने हृदय-पटल पर सजोये हुए हूँ। इस प्रकार प्रकारान्तर से मैं आपकी ही बिरादरी का सदस्य होने का दावा कर सकता हूँ। यहाँ आज मेरा आगमन वस्तुतः अपने घर में ही आगमन के समान है। अतः मैं आपके कुलपति महोदय के प्रति अत्यधिक आभारी हूँ कि उन्होंने आपसे मिलने के लिए मुझे यह सुअवसर प्रदान किया।

दीक्षान्त-समारोह पाण्डित्यपूर्ण भाषण अथवा सदुपदेश का अवसर होता है। आशा है आप मुझे क्षमा करेंगे यदि इस परम्परा से हट कर प्रस्तुत अवसर पर मैं अपने एक अनुभव की चर्चा करूँ, जिसने मुझे अत्यधिक विचलित किया है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का कुलपति पद-भार ग्रहण करने के तत्काल पश्चात् एम०ए० उपाधि प्राप्त एक युवक ने मेरे कार्यालय में आकर मेरी मेज पर अपना परिचय-पत्र रखते हुए कहा कि न तो उसे परिचय-पत्र की आवश्यकता है, न ही उसे प्राप्त एम०ए० की डिग्री की। वह विगत तीन वर्षों से नौकरी की तलाश करता रहा किन्तु वह विफल रहा। वह एम०ए० की अपनी उपाधि भी लौटा देना चाहता था। मुझे लगा कि वह नैराश्य से विचलित हो उठा है, अतः मैंने पूछा कि क्या मैं उसकी कोई सहायता कर सकता हूँ ? दृढ़तापूर्वक नकारात्मक उत्तर देते हुए उसने कहा कि उसकी सहायता करना मेरे लिए संभव नहीं, कारण कि उसके जैसे सहस्रों अन्य युवक काम-धंधे के लिए जी-तोड़ प्रयास करने के बावजूद बेरोजगार हैं। ऐसी स्थिति में उसने अपना भावी कार्यक्रम निश्चित कर लिया है—वह जनता के बीच काम करेगा और सर्वहारा वर्ग की कतार में शामिल होगा। इस प्रकार अपने विचारों को व्यक्त करते हुए वह अपना परिचय-पत्र मेरी मेज पर छोड़कर कार्यालय के बाहर चला गया। यह घटना विश्वविद्यालय के प्रयोजन तथा उद्देश्य के संबंध में अनेक गंभीर प्रश्न प्रस्तुत करती है : छात्र विश्वविद्यालयों में प्रवेश क्यों लेते हैं ? विश्वविद्यालयों का मुख्य कर्तव्य क्या युवकों एवं

---

* उदयपुर विश्वविद्यालय के समापवर्तन समारोह में ३ फरवरी, १९७० को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ० कालूलाल श्रीमाली का दीक्षान्त-भाषण।

युवतियों को नौकरियों के लिए प्रशिक्षित करना है अथवा उनका बौद्धिक विकास करना है जिससे वे समाज के जिम्मेदार नागरिक के रूप में अपने कर्तव्यों का निर्वाह कर सकें।

हमारे देश के विश्वविद्यालयों में प्रवेश लेने वाले बहुसंख्यक छात्रों का केवल एक उद्देश्य होता है और वह है उपाधि प्राप्त करना, जो नौकरी की प्राप्ति के लिए महत्वपूर्ण साधन समझी जाती है। ऐसे शायद ही कुछ व्यक्ति होंगे जो विश्वविद्यालयों में अपेक्षाकृत अधिक विवेकशील मानव बनने अथवा जीवन की सदनुभूतियों की उपलब्धि की आकांक्षा से प्रवेश लेते हों। यदि बिना किसी डिग्री अथवा उपाधि के ही काम-धंधा मिल जाता तो ऐसे अधिकांश छात्रों को, जो प्रवेश के लिए विश्वविद्यालयों के द्वार खटखटाते हैं, उच्चतर शिक्षा की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। केवल ज्ञान-प्राप्ति में उनकी कोई रुचि नहीं है। उनका एकमात्र उद्देश्य डिग्री प्राप्त करना है, जिससे नौकरी उपलब्ध करने में सुविधा हो सके। किन्तु उन्हें अब यह अनुभव होने लगा है कि विश्वविद्यालय की डिग्री से भी नौकरी प्राप्त करना अब आसान नहीं है और फलस्वरूप दीक्षांत समारोहों के मर्यादित शुभ अवसरों पर भी वे प्रदर्शन करने लगे हैं।

विश्वविद्यालय कभी भी युवकों तथा युवतियों को नौकरी के लिए प्रशिक्षित करने के केन्द्र नहीं रहे हैं। यह दुर्भाग्य का विषय है कि हमारे नीति-निर्माता भी अब शिक्षा का संबंध पेशे से जोड़ने लगे हैं। इस प्रकार हमने छात्रों में निराधार आशाओं का बीजारोपण किया है और वे विश्वास करने लगे हैं कि शिक्षा की एक निश्चित सीढ़ी पार करते ही उन्हें काम-धंधा उपलब्ध हो जायगा। शिक्षा के संबंध में लोगों ने निर्मूल धारणाएँ बना रखी हैं और विश्वास किया जाता है कि किसी भी प्रकार की शिक्षा से—भले ही वह छिछली और निम्न कोटि की ही क्यों न हो—आर्थिक प्रगति का मार्ग प्रशस्त हो सकता है। शिक्षा के उद्देश्य को इस प्रकार विकृत कर हम लोगों ने शिक्षित बेकारों की संख्या में अपार वृद्धि कर दी है और यही मुख्य रूप से आज की राजनीतिक अस्थिरता का प्रधान कारण है। मेरी मेज पर अपना परिचय-पत्र फेंक देने वाले उस रुष्ट युवक का यह कथन अक्षरशः सत्य है कि केवल वही बेरोजगार नहीं है, अपितु उसी की तरह हजारों ऐसे नवयुवक हैं जो सर्वहारा वर्ग के मोर्चे में सम्मिलित होंगे। यह समझना भयंकर भूल होगी कि हमारे देश की छात्र-अशांति एक अस्थायी घटनाचक्र मात्र है। यह एक गम्भीर रोग का लक्षण है जिसका यदि समुचित उपचार नहीं किया गया तो वह विस्फोट कर उठेगा। अतः यदि विश्वविद्यालयों की रक्षा करनी है तो शिक्षा के उद्देश्यों पर नये दृष्टिकोण से विचार-विमर्श करना अनिवार्य हो गया है। बाह्यान्तर घात-प्रतिघात से हमारे विश्वविद्यालय पहले से ही इतने जर्जर हो उठे हैं कि अब वे गम्भीर अध्ययन, चिंतन अथवा मनन के लिए उपयुक्त केन्द्र नहीं समझे जाते।

शिक्षा का उद्देश्य

शिक्षा का उद्देश्य विवेक के प्रयोग से मानवोचित सद्‌गुणों को विकसित करना है। प्रोफेसर राबर्ट हचिंस के शब्दों में "शिक्षा, लोगों को विवेकशील बनाने में सहायता प्रदान करने के लिए दृढ़तापूर्वक संघटित प्रयास है।" आर्थिक विकास में ही अपनी शक्ति को केन्द्रीभूत कर मानव को उत्पादन का केवल साधन मानकर हमने शिक्षा के उद्देश्यों को विकृत कर दिया है। इस प्रकार शिक्षा "मानवेतर, अमानवीय तथा मानव विरोधी" बना दी गई है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हमने केवल कुशल मानव-शक्ति के उत्पादन पर ही अपना ध्यान केन्द्रित किया और मानवीय गुणों के विकास के संबंध में प्रायः कुछ भी नहीं किया। जब शिक्षा केवल आर्थिक अथवा भौतिक प्रगति का साधन बन जाती है और अपने वास्तविक उद्देश्यों से विरत हो जाती है तो उसकी अनिवार्य परिणति राजनीतिक अस्थिरता में होती है, जो अन्ततोगत्वा आर्थिक प्रगति में भी बाधक बन जाती है। जब तक छात्रों में यह भावना जमी रहेगी कि उन्हें काम-धंधे के लिए ही शिक्षा मिल रही है तब तक विश्वविद्यालयों के प्रांगण में शांत वातावरण की प्रतिष्ठा नहीं हो सकेगी। इस समस्या के समाधान के केवल दो विकल्प हैं : या तो सरकार शिक्षा का कार्यक्रम तथा लोगों को काम-धंधा देने की व्यवस्था पर अपना पूरा नियंत्रण स्थापित कर ले जैसा कि साम्यवादी देशों में हो रहा है, अथवा इस धारणा का परित्याग कर दे कि शिक्षा जीविका का साधन-मात्र है या वह युवकों और युवतियों को नौकरी-पेशे के लिए प्रशिक्षित कर रही है।

विश्वविद्यालयों की स्थिति एवं समस्याएँ

जब उक्त छात्र ने अपना परिचय-पत्र मेरी मेज पर छोड़ दिया और अपनी उपाधि भी वापस कर देना चाहा तो विश्वविद्यालय के प्रति उसका रोष स्पष्ट था। छात्र की आकांक्षाओं को विश्वविद्यालय पूर्ण नहीं कर सका और फलस्वरूप उसने अपनी उपाधि वापस कर विश्वविद्यालय से ही अपना संबंध-विच्छेद कर लेना चाहा। विचारणीय है कि विश्वविद्यालय ही युवकों के रोष का क्यों लक्ष्य बनते हैं? गलत हो या सही, यह दुर्भाग्य का विषय है कि युवक-वर्ग विश्वविद्यालय को प्रशासन से सम्बद्ध समझता है और चूँकि वह समाज की समस्त आपदाओं तथा विषमताओं के लिए प्रशासन को ही दोषी मानता है, अतः वह प्रशासन के प्रति अपना रोष सहज ही सुलभ विश्वविद्यालय पर उतारता है। उक्त व्यवहार के लिए हम उस छात्र पर दोषारोपण नहीं कर सकते। उसने अपने जीवन के तीन बहुमूल्य वर्षों को काम-धंधे की खोज में अपव्यय किया और नैराश्य में उक्त निर्णय लिया। मैं समझता हूँ कि उक्त प्रकार का निर्णय लेने के पूर्व उस छात्र ने अपने गुरुजनों से अनेक बार सम्पर्क स्थापित किया होगा, किन्तु गुरुजन अपने काम, समितियों और सम्मेलनों में इतने व्यस्त रहते हैं कि अपने छात्रों के साथ घनिष्ठ सम्पर्क बढ़ाने का शायद ही उन्हें समय मिलता हो। खेद का विषय है कि विश्वविद्यालयों की व्यवस्था आज नौकरशाही ढाँचे के अनुरूप बन गई है जिससे छात्रों तथा अध्यापकों के बीच उस परस्पर सम्पर्क का सुअवसर ही नहीं प्राप्त होता जो अशांति के निवारण तथा समस्याओं के समाधान के लिए अत्यावश्यक है। उक्त छात्र ने तीन वर्षों तक बड़े ही धैर्य के साथ उस सोपान पर पहुँचने की प्रतीक्षा की, जो सम्भवतः उसे जीवन में सफलता एवं सुरक्षा प्रदान कर सकती थी, किन्तु उसके हाथ केवल निराशा लगी और उसने अपना प्रयास छोड़ दिया। अब वह आगे क्या करेगा? नवयुवक स्वभावतः आदर्शवादी होता है जो सामाजिक ढाँचे में आमूल परिवर्तन के लिए कृतसंकल्प है। वह वर्तमान समाज-व्यवस्था को हिंसात्मक उपायों से भी नष्ट-भ्रष्ट करने के लिए प्रेरित हो सकता है, कारण कि उसकी राय में जो समाज युवकों के लिए काम-धंधा और जीविका का अवसर प्रदान नहीं कर सकता वह स्थिर, गतिहीन और रोगग्रस्त हो चला है; अतः अब उसकी कोई उपयोगिता नहीं रह गई। ऐसी विचारधारा के लिए हम युवकों की भर्त्सना नहीं कर सकते। न तो विद्वत्-परिषद ने और न ही समाज ने छात्रों

की आकांक्षाओं-आवश्यकताओं की ओर ध्यान दिया है। उनकी ओर हम ध्यान तभी देते हैं जब वे सड़कों पर नारे लगाते हैं अथवा हिंसात्मक उपद्रवों में सम्मिलित हो जाते हैं। हमारे देश में छात्र-अशांति हाल के कुछ वर्षों की ही देन नहीं है, अपितु वह तो अनेक दशकों से युवकों की आशाओं-आकांक्षाओं की अवहेलना से घनीभूत नैराश्य का परिणाम है। आज विश्व-विद्यालय न तो बौद्धिक चिंतन-मनन को ही प्रोत्साहित कर पा रहे हैं और न ही युवकों को अपना जीवन उत्कृष्ट-विशिष्ट बनाने के लिए प्रेरित कर पा रहे हैं। पाठ्यक्रम घिसा-पिटा, दकियानूस तथा असामयिक हो चला है। यद्यपि पाठ्यक्रम तथा शिक्षा-व्यवस्था में सुधार के लिए अनेक समितियों एवं आयोगों ने संस्तुति की है, फिर भी उन्हें छात्रों की आवश्यकताओं अथवा समाज में उनकी भूमिका के अनुरूप ढालने का कोई भी सुनियोजित प्रयास नहीं किया गया है। वर्षों के वाद-विवाद तथा विचार-विमर्श के फलस्वरूप हमने अपनी शिक्षा-व्यवस्था में जो एकमात्र सुधार कार्यान्वित किया है वह है 'सेमेस्टर प्रणाली', जिससे अनेक विश्वविद्यालयों की परीक्षा-प्रणाली की असंगतियाँ द्विगुणित हो गई हैं। सेमेस्टर प्रणाली के बाह्य रूप की ही हमने नकल की है, किन्तु उसकी अन्तरात्मा के अनुरूप हमने अपनी शिक्षा-व्यवस्था में किसी भी प्रकार का सुधार नहीं किया है। विद्वत्-परिषद् के सदस्य भी, जिनसे सर्वगुण सम्पन्न होकर सदाचार एवं सद्व्यवहार का आदर्श प्रस्तुत करने की आशा की जाती है, परस्पर ईर्ष्या-द्वेष से पराभूत होकर ओछे संघर्षों एवं कुचक्रों में संलग्न है। युवकों का संवेदनशील हृदय उस समय विद्रोह कर उठता है जब वह देखता है कि विश्वविद्यालयों के पुनीत प्रांगण भी भद्दी स्वार्थ-परता और निम्न कोटि के कुचक्रों से मुक्त नहीं है। कक्षाओं में घिसे-पिटे, निर्जीव तथा आडम्बरपूर्ण व्याख्यान दिये जाते हैं किन्तु जीवन के नैतिक मूल्यों पर, जिनमें युवकों की आस्था और श्रद्धा है, विचार-विमर्श का अवसर ही नहीं प्राप्त होता। जब विश्वविद्यालयों का बौद्धिक वातावरण निष्प्राण हो चला है और नैतिक मूल्यों का चतुर्दिक ह्रास हो रहा है तो फिर कोई आश्चर्य नहीं कि विश्वविद्यालयों के प्रति युवकों में कोई आस्था नहीं रह गई है और वे उदासीन और कुछ अर्थों में जिद्दी भी हो चले हैं। आज के युवक के पास इस सर्वाधिक ज्वलंत प्रश्न का कोई उत्तर नहीं है कि "वह विश्वविद्यालय में क्यों है ?"

विश्वविद्यालयों का कर्तव्य

विश्वविद्यालय आज गम्भीररूपेण संकटग्रस्त हैं। यदि उन्हें ज्ञान के प्रकाश से दिग्दिगन्त को आलोकित कर अज्ञानान्धकार को विनष्ट करने के साधन के रूप में जीवित रखना है तो उन्हें हमारी सांस्कृतिक परम्परा के जीवन्त-तत्वों की रक्षा का प्रयास करते हुए समाज में होने वाले परिवर्तनों के अनुरूप अपने को ढालना होगा। यदि वर्तमान युग की चुनौतियों का सफलतापूर्वक सामना करना है तो विश्वविद्यालयों को सनातनी और गतिशील अथवा प्राचीन संस्कृति के शाश्वत तत्वों का संरक्षक तथा नवीन मूल्यों का जनक, दोनों कर्तव्यों का एक साथ निर्वाह करना होगा। सर ऐरिक एराबी के शब्दों में "हमारा कर्तव्य परम्परा को सुदृढ़ करते हुए आवश्यकतानुसार परम्परा में परिवर्तन-परिवर्द्धन करना होना चाहिए।" इस आदर्श का निर्वाह असम्भव नहीं है बशर्ते कि विश्वविद्यालय अपने द्वार नित नवीन विचारों के समागम के लिए सदा खुला रखें। विश्वविद्यालयों को यह सदैव स्मरण रखना होगा कि उन्हें एक जटिल

विश्व में कार्य सम्पादन करना पड़ रहा है। उन्हें नयी चिन्तन-प्रणाली खोजनी होगी, जिसमें बुद्धि की स्वतंत्रता के साथ ही जीवन के मूल्यों के प्रति श्रद्धा हो। ऐसी परिस्थिति में विश्वविद्यालयों को स्वभावतः सामाजिक मामलों में सक्रिय होना पड़ेगा और वे प्रमुख सामाजिक समस्याओं के प्रति उदासीन नहीं रह सकेंगे। राष्ट्रीयकरण, अस्पृश्यता, आर्थिक शोषण, अणुशक्ति पर नियंत्रण आदि विविध समस्याओं पर विश्वविद्यालयों में स्वतंत्र तथा निर्भीक विचार-विमर्श होना चाहिए। यदि विश्वविद्यालयों ने ऐसे प्रश्नों पर विचार-विमर्श, चिन्तन-मनन आरम्भ कर दिया तो शिक्षा अपेक्षाकृत अधिक सार्थक मालूम पड़ने लगेगी और गुरुजन भी अनुभव करने लगेंगे कि बहुसंख्यक छात्र उनके साथ हैं। छात्रों को विध्वंसात्मक राजनीति से विरत करने का यही एकमात्र मार्ग प्रतीत होता है।

आपने शान्ति के साथ मेरे भाषण को सुना, इसके लिए मैं आपका अनुगृहीत हूँ।

जय हिन्द !

————

ऋग्वेद में उषा का वैज्ञानिक स्वरूप

पं० श्रीचन्द्र पाण्डेय, ज्यौतिष शास्त्राचार्य
प्रवक्ता, प्राच्य विद्या एवं धर्मविज्ञान संकाय, का० हि० वि० वि०

प्रभातकाल में सूर्योदय से पहले और सायंकाल में सूर्यास्त के बाद एक घण्टे से अधिक समय तक अत्यन्त मनोरम काल होता है, जिसमें सूर्य का दर्शन तो नहीं होता किन्तु प्रकाश की मात्रा इतनी अधिक होती है कि कार्य सम्पादन में कोई कठिनाई नहीं होती। यह काल दिन और रात का सन्धिकाल होता है। इसीलिए इसे सन्ध्या कहते हैं। प्रातःकाल की सन्ध्या को हमारे वैदिक वाङमय में उषस् या उषाः नाम दिया गया है। इस उषःकाल की रमणीयता पर हमारे मन्त्रकर्ता ऋषि इतने मुग्ध थे कि इसके लिए ऋग्वेद में स्थान-स्थान पर अनेक मनोरम सूक्तियाँ ग्रथित हैं, जिनमें उषा के आह्लादक स्वरूप का वर्णन तो है ही, साथ ही इसकी वैज्ञानिकता का भी परिचय अनेक स्थलों पर मिलता है। कुछ वर्णन तो इतने हृदयग्राही हैं कि कोई भी सहृदय उन्हें पढ़कर आनन्दविभोर हो उठेगा। जर्मन विद्वान् मैक्समूलर ऋग्वेद की इन सूक्तियों पर इतने मुग्ध हैं कि ऋग्वेद की प्रशंसा करते हुए नहीं थकते। वे कहते हैं कि :

"यावद्भारतवर्षं स्याद्यावत्स्युर्गिरयो भुवि।
तावद् ऋग्वेद महिमा लोकेषु प्रचरिष्यति॥"

हमारे ऋषियों को यज्ञ के लिए तथा स्वाध्याय, ध्यान आदि के लिए उषःकाल कितना प्रेरणादायक रहा है, इसका निदर्शन उषःसम्बन्धी ऋग्वेद के सूक्तों में प्राप्त होता है। उषा को कहीं द्युलोक की कन्या के रूप में, कहीं सूर्य की पतिव्रता स्त्री के रूप में, कहीं पति के सान्निध्य में अपने अंगों का प्रदर्शन करती हुई अल्हण नायिका के रूप में दिखाया गया है, तो कहीं उत्तरोत्तर क्रम से दृश्य होने के कारण उषा को रात्रि की पुत्री और सूर्य को उषा का वत्स बताया गया है। यही नहीं, अपितु उषा देवी से वरदान माँगने में भी ऋषि नहीं चूकते। उत्सुकता जगाने को दृष्टि से हम यहाँ पर कतिपय मंत्रों को उद्धृत करते हैं :

"इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागाच्चित्रः प्रकेतो अजनिष्ट विभ्वा।
यथा प्रसूता सवितुः सवायँ एवा रात्र्युषसे योनिमारैक्॥"

(ऋ० १।११३।१)

अर्थात् ज्योतिष्क पदार्थों में श्रेष्ठ यह उषारूपी ज्योति आ गई है और इसके आने पर जगत् का प्रकाशक सूर्य व्यापक होकर उत्पन्न हुआ। जैसे रात्रि सूर्य से उत्पन्न हुई, वैसे ही उसने भी उषा की उत्पत्ति के लिए प्रसव-स्थान को खाली कर दिया।

यहाँ पर स्मरणीय है कि सूर्योदय के बाद रात्रि की उत्पत्ति और रात्रि के बाद उषा की उत्पत्ति और उषा के बाद सूर्य की उत्पत्ति अथवा सूर्य का उदय होता है। इसी प्राकृतिक उत्पत्ति-क्रम को वैदिक मन्त्र में उत्पाद्योत्पादकभाव रूप में वर्णित किया गया है। अन्धकार में छिपा हुआ जगत् उषा की उत्पत्ति के साथ ही प्रकाश में आने लगता है। इसी को लक्ष्य करके आगे के मंत्रों में बताया गया है कि उषा जगत् को मानों उगल रही है। 'उषा अजीगर्भुवनानि विश्वा'

अर्थात् 'उषा सम्पूर्ण भुवन को उगल रही है।' इस पद्यार्थ को समस्या के रूप में रख कर कई मन्त्रों में इसका उपयोग हुआ है। ऋग्वेद म० १।१२३ में उषा का आलंकारिक वर्णन कितना हृदयग्राही है। इसे देखिए—

"कन्येव तन्वा शाशदानाँ एषि देवि देवमियक्षमाणम्।
संस्मयमाना युवतिः पुरस्तादाविर्वक्षांसि कृणुषे विभाती॥"
(ऋ० १।१२३।१०)

अर्थात् "उषा पहले छोटी बच्ची की भाँति अपने नग्न अंगों से प्रकट होती है, फिर बड़ी होकर युवती की भाँति अपने पति सूर्य देव के सामने विहंसती हुई अपने वक्षःस्थल आदि गुह्य अंगों को दिखाती हुई शोभित होती है।"

अगले मन्त्र में उषा को पतिव्रता स्त्री की भाँति चित्रित किया गया है :

"एषा दिवोदुहिता प्रत्यदर्शि ज्योतिर्वसाना समना पुरस्तात्।
ऋतस्य पन्थानमन्वेति साधु प्रजानतीव न दिशो मिनाति॥"
(ऋ० १।१२४।३)

अर्थात् "द्युलोक की पुत्री उषा पूर्व दिशा में आगे दीख पड़ी। वह ज्योति रूपी वस्त्रों को पहनी हुई सूर्य के मार्ग का अनुसरण करती है और सूर्य के मार्ग की दिशा को जानती हुई-सी उससे तनिक भी विचलित नहीं होती है। जैसे पतिव्रता स्त्री अपने पति के सदा अनुकूल आचरण करती है, वैसे ही उषा भी अपने पति सूर्यदेव के पथ का सदा अनुगमन करती है।" अतः उषा को यहाँ पर सती स्त्री के रूप में चित्रित किया गया है।

इस प्रकार से ऋग्वेद में उषा को रात्रि तथा सूर्य के साथ पुत्री, बहिन, पुत्र तथा पति आदि अनेक रूपों में वर्णित किया गया है। उषा कहीं लोगों को जगानेवाली माता के रूप में चित्रित है तो कहीं काल की शाश्वतता के प्रतीक रूप में वर्णित है। उषा के वर्णन के कारण ही यूरोपियन विद्वानों ने ऋग्वेद को संसार के सभी धर्म ग्रन्थों में श्रेष्ठ महाकाव्य के रूप में स्वीकृत किया है। वेदों के प्रसिद्ध आलोचक मैगडानल का कहना है कि "यह देवता वैदिक काल की सबसे सुन्दर सृष्टि है और दूसरे धार्मिक साहित्य में इससे सुन्दर कृति नहीं मिलती।"

भारतीय मान्यता के अनुसार भारतीय आर्यों का आदिम निवास स्थान भारत ही है किन्तु वेदों का अध्ययन करने के बाद जर्मन विद्वान् मैक्समूलर ने भाषा-विज्ञान के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि संस्कृत, लैटिन, फारसी आदि भाषाओं में इस प्रकार का साम्य उपलब्ध होता है, जिससे प्रमाणित होता है कि इन भाषाओं को बोलने वाली जातियों का आदिम निवास स्थान एक ही था। फलतः ये जातियाँ 'आर्य' हैं और इनका आदि देश मध्य एशिया है। वहीं से इनकी शाखाएँ पश्चिम यूरोप, ईरान और भारत में फैली। पाश्चात्य विद्वानों में तथा भारत में भी यही धारणा बद्धमूल हुई। लोकमान्य तिलक ने इस मान्यता का प्रतिवाद करते हुए अपना यह मत व्यक्त किया कि आर्यों का आदिम निवास उत्तरी ध्रुव का प्रदेश है। तिलक द्वारा लिखित 'दि आर्कटिक होम इन दि वेदाज' नामक पुस्तक में ऋग्वेदीय मन्त्रों के उषा आदि के वर्णनों को ध्रुवप्रदेशीय सिद्ध करने के लिए अनेक मन्त्रों का प्रमाण दिया गया है। ऐसा मानने का आधार यह है कि वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध किया था कि उत्तरी ध्रुव-प्रदेश में अनेक वर्षों तक वसन्त ऋतु की आर्त्तव सुषमा विद्यमान थी।

बंगाली विद्वान् डॉ० अविनाशचन्द्र दास ने अपनी 'ऋग्वेदिक इण्डिया' नामक पुस्तक में तिलक की कल्पनाओं का बलवत् प्रतिवाद करके यह सिद्ध किया कि ऋग्वेद में उषा आदि के वर्णन भारतीय प्रदेश सप्तसिन्धव (पंजाब और काश्मीर) के ही दृग्विषय हैं। ध्रुवप्रदेशीय दृग्विषयों के समर्थन में मन्त्रार्थों की जो खींचतान तिलक जी ने की है, वह किसी भी प्रकार से समीचीन नहीं। डॉ० ए० सी० दास ने भूगर्भशास्त्र की उपलब्धियों के आधार पर यह सिद्ध किया कि आर्यों का आदि देश सप्तसिन्धव ही है। क्योंकि ऋग्वेदीय वर्णन सप्तसिंधव के पर्वतों और नदियों तक ही सीमित हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि जिस समय राजपूताना उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल की भूमि एक लम्बे समुद्र से घिरी थी, तभी ऋग्वेद के मन्त्र लिखे गये। फिर अत्यन्त ऊँचा विन्ध्याचल पर्वत जब इस समुद्र में गिरा तो, यह समुद्र भरता चला गया। साथ ही नदियों ने इसमें मिट्टी भरना आरम्भ कर दिया। तब राजपूताना, उत्तरप्रदेश, बिहार और बंगाल आदि में मैदानी भूखण्ड अस्तित्व में आये। राजपूताना का मरुस्थल और उसमें विलीन होनेवाली सरस्वती नदी इसके प्रत्यक्ष साक्ष्य हैं। 'शतपथ ब्राह्मण' के प्रलय की कथा तथा मनोरवसर्पणम् (मनु का काश्मीर में भागना) आज भी इस समुद्र के भरने की कथा को प्रमाणित करते हैं।

डॉ० सम्पूर्णानन्द जी ने अविनाशचन्द्र दास की युक्तियों के आधार पर ही तिलक जी की युक्तियों का प्रतिवाद करके हिन्दी में 'आर्यों का आदि देश' नामक पुस्तक लिखी है। उसमें ऋग्वेद के (१।१२३।८) मन्त्र में पठित तिलक जी के द्वारा योजन शब्द का अर्थ मुहूर्त किया गया है। जिसका उल्लेख है, वह मन्त्र निम्न है :

"सदृशीरद्य सदृशीरिदु श्वो दीर्घं सचन्ते वरुणस्य धाम।
अनवद्यास्त्रिंशतं योजनान्येकैका क्रतुं परियन्ति सद्यः।"

(ऋ० १।१२३।८)

अर्थात् आज समान और कल भी समान ही उषाएँ विशाल सूर्य के मार्ग का अनुसरण करती हैं, और प्रत्येक ३०-३० योजन दूर तक के ऊर्ध्व गमन से चक्कर काटती रहती हैं।

इस मन्त्र के विषय में तिलक जी का कहना है कि यहाँ उस ध्रुव प्रदेश के दृग्विषय का वर्णन है, जहाँ पर तीस दिन का उषःकाल होता है। उनका कहना है कि इस मन्त्र में योजन का अर्थ मुहूर्त है। क्योंकि योजन का अर्थ रथ उतनी दूरी - जितनी कि एक बार में जुते हुए घोड़े चल सकें—प्रतिदिन का निश्चित मार्ग आदि होता है। अतः उस ध्रुव प्रदेश में उषाएँ तीस दैनिक चक्कर पूरा करती हैं। तात्पर्य यह है कि ध्रुवप्रदेश में आर्यों के निवास के समय लिखे गये इस मन्त्र में उस ध्रुव प्रदेश के अन्तिम मास की उन उषाओं का वर्णन है, जहाँ पर एक मास की रात होती है। भू-पृष्ठ पर ऐसे स्थान नार्वे, स्वीडेन, साईबेरिया आदि में ६८° अक्षांश वाले प्रदेश हो सकते हैं किन्तु वर्तमान समय में वहाँ उषा जैसे दृग्विषयों के दर्शन योग्य वायुमण्डल नहीं है। मेरु प्रभा जैसे अनेक प्राकृतिक क्रियाकलाप दृष्टिगोचर होते हैं किन्तु तिलक जी जैसे गंभीर चिन्तक ऐसा इसलिए कहते हैं कि वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध किया था कि ध्रुव प्रदेश के हिमाच्छादित होने से पूर्व वहाँ वसन्त ऋतु जैसी छटा विद्यमान थी। ऋग्वेद के उषा सम्बन्धी अनेक मन्त्रों में ध्रुव-प्रदेश में निवास के समय की स्मृति का ही संकेत है। उषा सम्बन्धी अनेक मन्त्रों में इस मत के साक्ष्य उपलब्ध हैं। डॉ० सम्पूर्णानन्द जी ने अनेकधा उन

साक्ष्यों को प्रस्तुत किया है। हम यहाँ केवल उसी एक मन्त्र का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं जिसमें योजन को मुहूर्त मानने के विरुद्ध भी प्रमाण है :

"उषः प्रतीचीभुवनानि विश्वोर्ध्वा तिष्ठस्यमृतस्य केतुः ।
समानमर्थं चरणीयमाना चक्रमिव नव्यस्या ववृत्स्व ॥
(ऋ० ३।६१।८)

अर्थात् हे उषा ! सम्पूर्ण लोकों को अपने से पश्चिम की ओर रखती हुई, सूर्य को बताने वाली पताका स्वरूप तुम आकाश में ऊँचाई पर रहती हो और नये-नये स्वरूपों से युक्त हो, सूर्य के साथ एक ही मार्ग पर चलने वाली तुम गाड़ी के पहिये की भाँति बार-बार आवृत्ति (चक्कर) करती हो।

यहाँ उषा को पश्चिमाभिमुख, आकाश में खड़ी हुई बताया गया है किन्तु ध्रुव प्रदेश में कोई दिशा होती ही नहीं। क्योंकि ध्रुव तारा के सिर पर होने के कारण, उत्तर की दिशा शिर के ऊपर हुई। फलतः सूर्य क्षितिज में ही दक्षिणावर्त चक्कर करता रहता है। इसीलिए आचार्य श्रीपति ने 'सिद्धान्तशेखर' में कहा है कि "मेरौ रविर्भ्रमति भूजगतःसमन्तादाशा न कदाचिदपि तत्र विचारणीयां।" डॉ० अविनाशचन्द्र दास ने ऐसे ही मन्त्रों के अनेक प्रमाणों से तिलक की आर्यों के ध्रुवप्रदेशीय निवास सम्बन्धी युक्तियों को निःसार सिद्ध किया है, किन्तु इन युक्तियों में 'त्रिंशतं योजनान्येकैका क्रतुं परियन्ति' इस मन्त्र के 'परियन्ति' पद के द्वारा ध्रुवप्रदेशीय क्षितिज में उषा के चक्कर सम्बन्धी तिलक जी के कथन का ही प्रतिवाद हो सका है। योजन शब्द का मुहूर्त अर्थ बताने की युक्ति का प्रतिवाद अछूता ही रह गया है। अब हम अनुसन्धाताओं के उपजीव्य सायणाचार्य की इस मन्त्र की योजन सम्बन्धी उस वैज्ञानिक व्याख्या को प्रस्तुत करते हैं, जिसने मुझे इस मन्त्र के वैज्ञानिक अर्थ के अनुसन्धान की ओर प्रेरित किया है। 'त्रिंशतं योजनानि' के सम्बन्ध में सायणभाष्य में लिखा है :

"यदा नक्षत्राणि न दृश्यन्ते सूर्यश्च नोदेति उषःकालः। स चैक विंशतिघटिकाभिः षड्विंशतिपराभिश्च सम्मितः। सूर्यो हि प्रतिदिनमेकोनषटयधिकपञ्चसहस्त्रयोजनानि मेरुं प्रदीक्षिण्येन परिभ्रमति। तथा सति यत्र-यत्र लंकादि भूप्रदेशेषु सूर्यो गच्छति तस्य तस्य पुरस्तात् त्रिंशतं योजनान्युषा अपि गच्छति।"

अर्थात् "जब नक्षत्र न दीख पड़ते हों और सूर्य भी न उदय हुआ हो, वह उषःकाल है। वह २१ घटी २६ पल तुल्य है। क्योंकि सूर्य प्रतिदिन ५०५९ योजन ध्रुव की दाहिनी ओर से प्रदक्षिणा करते हुए घूमता है। ऐसी स्थिति में जहाँ लंका आदि प्रदेशों में सूर्य चलता है, उसके आगे ३० योजन उषा भी चलती है।" इस पर तिलक जी को आपत्ति यह है कि मेरु की प्रदक्षिणा करने का अर्थ पृथ्वी का अपनी धुरी पर घूम जाना है। पृथ्वी की परिधि लगभग २४,८०० मील है, अतः ५०५९ योजन=२४,८०० मील।[1] इसलिए १ योजन=४.९ मील हुआ। अतः उषा के सूर्य से ३० योजन अर्थात् ३०×४.९=१४७ मील आगे रहती है।

---

[1] १६००×$\sqrt{१०}$=५०५९ भूपरिधि योजन सूर्य सिद्धान्तीय।

$\frac{३६००\times ३० \text{ प०}}{५०५९}$ =२१ पल २२ विपल=८ मि० ३३ सेकेन्ड। सायणभाष्य में एकविंशतिविघटिकाभिः के स्थान एकविंशति घटिकाभिः छपा है।

परन्तु होता यह है कि जब सूर्य क्षितिज से १६° अंश नीचे रहता है, तभी उषा दीख पड़ती है। जब ३६०°=२४,८०० मील तो १६°=११०५ मील। इसका अर्थ यह हुआ कि उषा सूर्य से ११०५ मील, अर्थात् १००० मील आगे रहती है। इसमें और सायणाचार्योक्त १४७ मील में तो बड़ा अन्तर है। अतः सायणाचार्य की गणना अवैज्ञानिक अथ च निराधार है। तिलक की अपनी व्याख्या तो यह है कि यहाँ ध्रुव प्रदेश के दृग्विषय (प्राकृतिक क्रिया-कलाप) का वर्णन है, जहाँ तीस दिन का सवेरा होता है। वे कहते हैं कि योजन का अर्थ रथ उतनी दूरी—जितनी एक बार जुते घोड़े चल सकें—प्रतिदिन का निश्चित मार्ग आदि होता है। उनके कथनानुसार, यहाँ यह कहा गया है कि उषाएँ ३० दैनिक चक्कर पूरा करती हैं। मेरी समझ से सायणाचार्य ने व्यर्थ लम्बी चौड़ी गणना दी। इस मन्त्र का इतना ही अर्थ पर्याप्त है कि "प्रत्येक उषा अपनी निश्चित यात्रा पूरी करती है, जो ३० योजन की होती है और योजन का अर्थ मुहूर्त ही करना चाहिए। उषा की यात्रा के ३० नियत टुकड़े हैं जिसमें से एक-एक उस मार्ग को नापने के लिए योजन है" (आर्यों का आदि देश, पृ० १२५)।

तिलक जी के लिए योजन का अर्थ मुहुर्त करना इसलिए आवश्यक था कि आर्यों के ध्रुवप्रदेशीय निवास को प्रमाणित करने के लिए ३० मुहूर्त के दिन का उपयोग, एक दिन में उषाओं के पूर्ण परिभ्रमण के लिए अत्यन्त उपादेय हुआ। क्योंकि उषाएँ ३० योजन या ३० मुहूर्त्त में ध्रुव प्रदेशीय क्षितिज का एक चक्कर पूरा कर लेती हैं। परयन्ति (परितः भ्रमण करती हैं) से भी उन्हें यही संकेत मिला, किन्तु डॉ० ए० सी० दास और डॉ० सम्पूर्णानन्द जी द्वारा योजन शब्द के वैज्ञानिक स्वरूप की सिद्धि के लिए प्रयास न करना खटकने वाली बात है। अब हम आगे उषा के वैज्ञानिक स्वरूप की विवेचना करके यह बतायेंगे कि इस मन्त्र में पठित 'त्रिंशतं योजनानि' का तीस योजन अर्थ करना ही विज्ञान सम्मत है और उससे उषःकाल का वही मान आता है, जिसे तिलक जी ने बताया है।

पूर्व उल्लिखित ऋग्वेदीयमंत्र (३।६१।३) से स्पष्ट निर्देश है कि 'उषः उर्ध्वातिष्ठति' अर्थात् 'हे उषे! तुम ऊँचाई पर रहती हो।' अब प्रश्न यह उठता है कि उषा की उच्छ्रिति कितनी है? इस पर ऋ० (१।१२३।८) में निर्देश किया गया है कि 'त्रिंशतं योजनानि' अर्थात् ३० योजन। इससे स्पष्ट है कि उषा की यह ३० योजन उच्छ्रिति भूपृष्ठ से कही गई है। अर्थात् उषा भूपृष्ठ से ३० योजन की ऊँचाई पर अपनी भूपरिभ्रमण की यात्रा पूरी करती है। सायणाचार्य ने उषा की तीस योजन की दूरी भूपरिधि पर माना। परिणामतः उनके द्वारा साधित उषःकाल की परिमिति छोटी हो गई। उषा के वैज्ञानिक स्वरूप की विवेचना से यह स्पष्ट हो जायगा कि उषःकाल का जो मान ३० योजन की उच्छ्रिति से आता है, उसी को आज के विज्ञान ने बड़े-बड़े सूक्ष्ममापी यन्त्रों से प्राप्त किया है।

उषा का वैज्ञानिक स्वरूप

प्रातःकाल जब सूर्योदय होता है, तब प्रकाश धीरे-धीरे बढ़ता है। ऐसा नहीं होता कि सूर्योदय होते ही एकाएक उजाला हो जाय। इसी प्रकार सायंकाल भी सूर्यास्त होते ही एकाएक अन्धकार नहीं होता। इसका कारण हमारा वायुमण्डल है। वायुमण्डल एक पारदर्शक पदार्थ है किन्तु वह पूर्णतया स्वच्छ नहीं है साथ ही उसके स्तर भी पृथ्वी तल पर घने और उससे ऊपर क्रमशः विरल होते गये हैं। फलतः पृथ्वी तल पर वायुमण्डल में अधिक

धूलि कण और ऊपर के हल्के स्तरों में विरल धूलि कण मिले हुए हैं। प्रकाश के परावर्तन नियम के अनुसार इन्हीं धूलि कणों पर पड़ी हुई सूर्य की किरणें भी परावर्तित होकर पृथ्वी तल पर लौट आती हैं। यही कारण है कि जब सूर्य क्षितिज से नीचे ही रहता है, तभी से उसकी रश्मियाँ भूपृष्ठस्थ द्रष्टा के वायुमण्डल के धूलि कणों पर से भूतल की ओर लौटकर बिखरने लगती है, जिससे पर्याप्त प्रकाश द्रष्टा तक पहुँचने लगता है। इस प्रकार जो प्रकाश भूपृष्ठ पर पड़ता है उसे सान्ध्य-प्रकाश कहते हैं। अंग्रेजी में इसका नाम ट्वीलाइट (Twilight) है। हमारे वाङ्मय में प्रातःकालीन सान्ध्य-प्रकाश को उषा और सायंकालीन सान्ध्य-प्रकाश को सन्ध्या या प्रदोष कहते हैं।

उषा का प्रारम्भ अथवा प्रदोष का अन्त कब हुआ, यह कहना कठिन है? क्योंकि प्रकाश धीरे-धीरे बढ़ता है या घटता है, फिर भी देखा यह जाता है कि जब तक सूर्य क्षितिज के नीचे १८° से कम दूरी पर रहता है, तब तक हमें सान्ध्य-प्रकाश मिलता रहता है। बहुतों के मत से यही लोमदर्शन काल की सीमा है। अतः जिस क्षण सूर्य क्षितिज से १८° अंश नीचे पहुँचता है, उसी क्षण सन्धि प्रकाश का आरम्भ या अन्त समझना चाहिए। विषुद्वृत्तीय प्रदेशों में यह काल कुछ कम होता है। इसलिए वहाँ सूर्य के क्षितिज से १६.५° अंश नीचे रहने पर ही सान्ध्य-प्रकाश का आरम्भ अथवा अन्त हो जाता है।

१८° अंश का यह काल ७२ मिनट या ३ घटी के बराबर होता है। इसीलिए हमारे ज्योतिष तथा धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में सन्ध्या-काल ३ घटी का बताया गया है। अब प्रश्न यह उठता है कि सान्ध्य-प्रकाश का आरम्भ अथवा अन्त सूर्य के १८° अंश नीचे रहने पर ही क्यों होता है? कारण यह है कि हमारे गोल पृष्ठ के ऊपर २०० मील तक गोलाकार वायुमण्डल का घेरा है। पहले बताया जा चुका है कि वायुमण्डल के धूलि-कणों पर पड़ी सूर्य किरणें जब लौट कर बिखरती हैं तो उन्हीं से सान्ध्य-प्रकाश का उद्भव होता है। अतः पृथ्वी पर जहाँ सूर्योदय हो रहा हो, वहाँ के वायुमण्डल के ऊपरी सतह पर पड़ी सूर्य किरणों का परावर्त्तित प्रकाश भूपृष्ठ के जिस स्थान से क्षितिज में दीख पड़ेगा, वहीं पर उषा का प्रारम्भ दृष्टिगोचर होगा। क्योंकि पृथ्वी के गोल होने के कारण जैसे सबसे पहले समुद्री जहाज का कूपदण्ड (मस्तूल) दिखाई पड़ता है वैसे ही वायुमण्डल का ऊपरी प्रकाश भी सर्वप्रथम दीख पड़ेगा। इसके लिए सूर्योदय वाले स्थान के ऊपरी वायुमण्डल की सतह से भूपृष्ठ को स्पर्श करती हुई एक रेखा खींचिये। उस रेखा का भूतल के जिस स्थान पर स्पर्श हो रहा है, उस स्थान से सूर्योदय वाले स्थान तक भूपृष्ठ की परिधि में जितना बड़ा कोण अथवा भूपरिधि खण्ड सम्बन्धी दूरी आक्रान्त होगी, उससे उत्पन्न काल उषःकाल या सान्ध्य-प्रकाश काल कहा जायेगा। इसको चित्र द्वारा स्पष्ट किया जाता है।

चित्र में पृ प ख य न ग पृथ्वी की परिधि है। भू पृथ्वी का गोल केन्द्र है। वा म वा क वायुमण्डल का घेरा है। प वा=वायुमण्डल की ऊँचाई=२०० मील, प ख य पृथ्वी के इस आधे भाग में दिन है। प भू पृष्ठ पर सूर्योदय तथा य स्थान पर सूर्यास्त हो रहा है। प स्थान का क्षितिज क ग भू ख म है। प स्थान के वायुमण्डल के ऊपरी स्तर वा पर पड़ी सूर्य की किरणों का प्रकाश भू पृष्ठ की ओर नीचे बिखर रहा है। अतः वा स्थान का परावर्त्तित प्रकाश भू पृष्ठ के पृ स्थान से अपने क्षितिज में दीख पड़ेगा। इसलिए प स्थान पर सूर्योदय के समय

पृ स्थान पर उषा की पहली लाली क्षितिज में दीख पड़ेगी। चूँकि वा स्थान से वा पृ भू परिधि की स्पर्शरेखा होगी। इसलिए ∠वा पृ भू=९०°अंश होगा। अब त्रिभुज △भू पृ वा में

भू वा=भू प+प वा=½ भू व्यास+वायुमण्डल की ऊँचाई

भू पृ=½ भू व्यास,

$$\left\{ \frac{\text{भू वा}}{\text{भू प}} = \text{व्युकोज्या } \angle \text{पृ भू वा अतः (Sec} \angle \text{ पृ भू वा)} \right\}$$

ज्ञात होगी। तब पृ भू प कोण का अंशात्मक मान उषा के आरम्भ काल में पृ स्थान पर सूर्य के क्षितिज के नीचे रहने के कोण ∠पृ भू प ज्ञात हो जायेगा। हम पहले डब्ल्यू एम० स्मार्ट की 'ए टेक्स बुक ऑन स्फेरिकल एस्ट्रानामी' के उपकरणों से ∠पृ भू प का मान ज्ञात करेंगे। बाद में भारतीय उपकरणों से ३० योजन वायुमण्डल की ऊँचाई पर से वैदिक उषा के आरम्भ काल की विवेचना करेंगे।
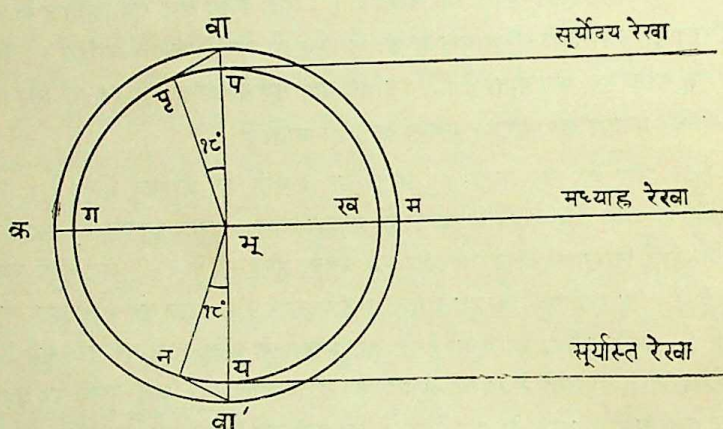
स्मार्ट के अनुसार ½ भू व्यास=३९६३.३ मील।

$$\therefore \text{Sec (व्युकोज्या)} \angle \text{पृ भू व} = \frac{३९६३\cdot३+२००}{३९६३\cdot३} = १\cdot०५०४६$$

$$\therefore \angle \text{ पृ भू व} = १७।५०^\circ = १८^\circ \text{ लगभग}$$

$$= ३ \quad \text{घटी} = ७२ \text{ मिनट}$$

ऋग्वेद के मन्त्र (१।१२३।८) में वर्णित उषा की ३० योजन की ऊँचाई वायुमण्डल की ही ऊँचाई है। अब उससे और सूर्य सिद्धान्त में वर्णित ८०० योजन के पृथ्वी के व्यासार्द्ध से उषःकाल का मान ज्ञात किया जाता है। पूर्व निर्दिष्ट चित्र में पूर्व विधि से ही —

$$\text{व्युकोज्या (Sec)} \angle \text{ पृ भू वा} = \frac{८००+३०}{८००} = \frac{८३०}{८००} = १\cdot०३७५$$

$$\therefore \angle \text{पृभूवा} = १५^\circ।२७^\circ = १६^\circ \text{ लगभग}$$

अतः ३० योजन वायुमण्डल की ऊँचाई मानने पर उषःकोण का मान लगभग १६° आता है। तिलक जी ने भी विषुवद्वृत्त में प्रातः सान्ध्य-प्रकाश के आरम्भ में उषःकाल का मान १६° या ६४ मिनट ही लिखा है। नाटिकल अलमनॉक में भी विषुवद् वृत्त के प्रदेशों में

सान्ध्य-प्रकाश (Twilight) का मान लाने के लिए सूर्य का नतांश १६/३०° मान कर ही गणित किया गया है।

उषःकाल के इस गणित सत्य के आधार पर उपर्युक्त मन्त्र में वर्णित ३० योजन की ऊँचाई वस्तुतः वायुमण्डल की ही ऊँचाई है। अतः उस मन्त्र के योजन का अर्थ मुहुर्त्त करना सर्वथा निराधार है तथा ३० योजन तुल्य उषा की ऊँचाई मानना गणित सत्य होने के कारण साधार और सर्वथा वैज्ञानिक है।

कहा जा सकता है कि भारत में वेदों के काल में इतने ऊँचे गणित का आविष्कार नहीं हुआ था। अतः उच्च गणित से साधित उषा की यह ऊँचाई यदि किसी प्रमाणान्तर से सिद्ध हो जाय, तब यह तथ्य माना जा सकता है। अन्यथा यह एक संयोग की ही बात मानी जायेगी कि मन्त्र में पठित ३० योजन की सन्ध्या वायुमण्डल की ऊँचाई की संवादिनी हो गई। इस शंका के समाधान के लिए भी हमें कहीं दूर नहीं जाना है। सन्ध्या का प्रमाण हमारे स्मृति ग्रन्थों में है, उसी से यह प्रमाणित हो जाता है कि उषा की ३० योजन की ऊँचाई भारत में ज्ञात थी। मनुस्मृति में सन्ध्या का मान—युग-मान का दशमांश कहा गया है। उसी से इसकी सिद्धि हो जाती है :

"चत्वार्याहुः सहस्त्राणि वर्षाणि तत्कृतं युगम् ।
तस्य तावच्छतीसंध्या संध्यांशश्च तथाविधः ॥"

(मनु० अ० १ श्लो० ६९)

अर्थात् ४०० दिव्य वर्षों का एक सत्ययुग का मान है तथा ४०० दिव्य वर्ष, उसकी संध्या और उतना ही सन्ध्यांश भी है। अब सन्ध्या और सन्ध्यांश दोनों को मिलाकर सत्ययुग का मान ४,८०० दिव्य वर्ष हुआ। ४०० दिव्य वर्ष ४८०० दिव्य वर्ष का १२वाँ भाग है। अतः सिद्ध है कि सम्पूर्ण दिनमान का १२वाँ भाग एक सन्ध्या होती है और अहोरात्र मान का १२वाँ भाग दोनों सन्ध्याओं का मान होता है। अतः ६० घटी के दिनमान का १२वाँ भाग ५ घटी या २ घण्टा दोनों सन्ध्या प्रकाशों का मान हुआ। इसके आधे २½ घटी या १ घण्टा की १ संध्या हुई। एक घटी ६° अंश की होती है। अतः २½ घण्टे में १५° अंश हुए, जो पूर्व साधित वैदिक उषःकाल के निकट है।

विषुवद्वृत्त या कालबोधक वृत्त में १° अंश. १० पल या ४ मिनट के तुल्य होता है। क्योंकि २५ घन्टे या ६० घटी में पृथ्वी या व्यवहार में सूर्य का एक चक्कर या ३६०° अंश की पूर्त्ति होती है। अतः यदि लोम दर्शन काल की गणना करके उसे २½ घटी या ३ घटी प्राप्त कर लिया जाय तो उसके कोणात्मक मान १५° अंश या १८° अंश पर से सूर्य-सिद्धान्त के अनुसार पृथ्वी का व्यासार्द्ध ८०० योजन मानकर वायुमण्डल की ऊँचाई ३० योजन, केवल समकोण त्रिभुज में १८° का कोण बनाकर ८०० प्रमाण की भुजा पर से नाप कर ८३० योजन कर्ण का मान ज्ञात हो जायेगा। ८३० में से ८०० घटाने पर ३० योजन वायुमण्डल की ऊँचाई होगी। अतः सामान्य कोण मापन विधिसे ही भूव्यासार्द्ध ज्ञात रहने पर वायुमण्डल या उषा की ऊँचाई उस समय भी ज्ञात की जा सकती थी, जब त्रिकोणमिति का आविष्कार नहीं हुआ था किन्तु भारत में त्रिकोण गणित का मूल सिद्धान्त समकोण त्रिभुज में भुज और कोटियों के वर्गों का योग कर्ण के वर्ग तुल्य होता है। यह पैथागोरस से ८०० वर्ष पहले बौधायन शुल्व सूत्र में लाया जा चुका था। सभी प्राचीन ज्यौतिष सिद्धान्तों में इसका उपयोग हुआ भी है।

यूरोपियन विद्वानों का यह भी कहना है कि भारत में कोण-मापन विधि का ज्ञान यूनानियों की देन है किन्तु यह ऋग्वेद के द्वारा ही असत्य प्रमाणित हो जाता है क्योंकि ऋग्वेद में वृत्त की परिधि को ३६० भागों में विभक्त करके उसको चार भागों में बाँट कर प्रत्येक का नाम एक नवति रखा जा चुका था :

"चतुर्भिः साकं नवतिं च नामभिश्चक्रं न वृत्तं व्यतींरवीविपत् ।"
(ऋ० १।१५५।६)

अर्थात् यह सूर्य रूपी विष्णु, चतुर्भिर्नामभिः साकं (चार नमनों या मोड़ों के साथ) नवतिं (नब्बे संख्या वाले) व्यतीन् (सतत गमनशील अवयवों को) वृत्तं न चक्रं (गोलाकार पहिये की भाँति) अवीविपत् (घुमाता है)। अर्थात् सूर्य एक वर्ष में नब्बे-नब्बे के चार भागों वाले चक्र को घुमाता है। इस मन्त्र से स्पष्ट है कि ऋग्वेद काल में वृत्त को चार भागों में विभक्त कर दिया गया था। उस समय ३६० तिथियों का वर्ष मानने की प्रथा थी। सौर वर्ष को भी इन्हीं ३६० अवयवों में विभक्त किया गया था। पीछे यही सौर दिनों के नाम से कहे गये।

लेखक ने सूर्योदय के आसन्न में उषा की ऊँचाई को १५° अंश से अधिक ही पाया है। अत्यन्त विरल लाली की ऊँचाई तो इससे भी अधिक अंशों की होती है। इससे भी समकोण त्रिभुज का निर्माण कर पूर्व विधि से दो बड़ी भुजाओं में ८० और ८३ का सम्बन्ध प्राप्त किया जा सकता है किन्तु एक प्रश्न यह रह जायेगा कि पृथ्वी को गेंद की भाँति गोल मानने और उसके व्यासार्द्ध को ८० योजन तुल्य उपलब्ध करने का साधन उतने प्राचीन काल में कैसे उपलब्ध हुआ? इसके लिए भी हमारे वेद में ही संकेत है। एक ऋषि प्रश्न करते हैं कि पृथ्वी का छोर कहाँ है? तो दूसरे उत्तर देते हैं कि "इयं वेदिः परमन्तं पृथिव्याः" अर्थात् यह यज्ञ वेदी जो सामने पड़ी है, वही पृथ्वी का अन्तिम छोर है। स्पष्ट है कि उत्तरदाता का संकेत पृथ्वी का गेंद के समान गोल होने की ओर है। जब पृथ्वी गेंद के समान गोल सिद्ध हो गई, तब इसकी परिधि का ज्ञान भी साधारण रीति से ही हो जाता है। पृथ्वी पर ध्रुवतारे की ऊँचाई के कोणात्मक मान का ज्ञान कोण-मापक यन्त्र से करके एक स्थान से उत्तर की ओर चलने पर ध्रुवतारे का वह कोणात्मक मान जहाँ एक अंश अधिक हो जाय, उस स्थान से पहले स्थान की दूरी भूपरिधि पर १° अंश होगी। इसको ३६० से गुणा करने पर भूपरिधि का योजनात्मक या मीलों में मान आ जायेगा। हमारे शुल्व सूत्रों में व्यास परिधि का सम्बन्ध निर्दिष्ट है। वह आधुनिक मान के लगभग है किन्तु पीछे भारत में १० का $\sqrt{१०}$ के तुल्य व्यास परिधि का सम्बन्ध ज्ञात किया गया था। इस सम्बन्ध से पृथ्वी का व्यासार्द्ध भी सरलता से ही ज्ञात किया जा सकता है।

इस प्रकार वेदों में ही गणित की पर्याप्त अभिवृद्धि की सूचना हमें प्राप्त होती है। दश गुणोत्तर संख्या प्रणाली और संख्याओं का स्थानीय मान जैसे १२५ में इकाई, दहाई, सैकड़ा आदि नियमों की संसार की देन निश्चित रूप से वेदों की ही है। इसके लिए लेखक की 'ज्योति निबन्धावली' या डॉ० अवधेशनारायण सिंह और विभूतिभूषण दत्त लिखित 'हिस्ट्री ऑव हिन्दू मैथमेटिक्स' देखनी चाहिए। अतः उषा के सम्बन्ध में वेदों में वर्णित ३० योजन की ऊँचाई को इस लेख में जो वैज्ञानिक स्वरूप दिया गया है, वह वेदों की वैज्ञानिक देन के अनुकूल ही है।

भक्ति-काल : अध्ययन की समस्याएँ

चौथीराम
शोध छात्र, हिन्दी विभाग, का० हि० वि० वि०

हिन्दी साहित्य के इतिहास में, नामकरण की दृष्टि से, संभवतः भक्ति-काल ही सबसे कम विवादास्पद रहा है। आरंभिक युग को वीर-काल तथा चारण-काल आदि अनेक नामों से अभिहित किया गया है और उत्तर मध्यकाल को, जिसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'रीति-काल' नामकरण के साथ ही शृंगार-काल कहने के लिए भी लाइसेंस प्रदान किया, पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने अपनी सबल तर्क बुद्धि से उसका लाभ उठाते हुए शृंगार-काल कहना ही अधिक उपयुक्त समझा है। भक्तिकाल का नामकरण करते समय शुक्लजी ने धर्मप्राण भक्त कवियों की काव्यात्मक प्रवृत्तियों का बड़ा ही सूक्ष्म निरीक्षण किया रहा होगा—इसमें संदेह नहीं; किन्तु यदि ध्यान-पूर्वक देखा जाय तो इस काल में भक्तिमूलक धार्मिक विचारधारा के समानांतर ही अन्य भावधाराओं का ईषद् प्रवाह भी लक्षित होता है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती; हाँ, इतना अवश्य है कि प्रधानता धार्मिक विचारधारा की ही मानी जायगी। नामकरण के समय शुक्लजी का ध्यान केवल काव्यात्मक वृत्तियों पर ही टिका रहा क्योंकि सामाजिक चेतना और मानव मूल्यों को उन्होंने विशेष महत्व नहीं दिया। यद्यपि यह सत्य है कि पूरे मध्यकाल में यदि हम आधुनिक दृष्टि से क्रांतिकारी परिवर्तन नाम की वस्तु ढूँढ़ने लगें, तो एक प्रकार से निराश ही होना पड़ेगा तथापि यह मान लेना कि उस युग में सामाजिक चेतना एकदम से लुप्त हो गई थी तथा मानव मूल्यों का महत्व ही नहीं था, उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। जिन काव्यात्मक प्रवृत्तियों के आधार पर भक्ति-काल और रीति-काल का नामकरण हुआ है उनकी मूलवर्त्तिनी विचारधाराओं के अतिरिक्त अन्य प्रवृत्तियों पर विचार किये बिना उनका समुचित मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। इस दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि भक्ति-काल में शृंगारपरक रचनाओं का अभाव नहीं है और रीति-काल में भी धर्मपरक रचनाएँ हुई हैं। अकबर के दरबार में फारसी कवियों के अतिरक्त 'रहीम', 'गंग', 'होलराय', 'प्रिथीराज', 'करनेस', 'मनोहर', 'बीरबल' तथा 'नरहरि' आदि हिन्दी के कवि भी विद्यमान थे। इनमें रहीम ने नीतिपरक दोहों के अतिरिक्त 'नायिका भेद' जैसा ग्रंथ भी लिखा तथा 'करनेस' के 'श्रुतिभूषण', 'भूपभूषण' और 'कर्णाभरण' नामक अलंकार ग्रंथ उनकी दरबारी मनोवृत्ति के ही परिचायक हैं। कृपाराम की 'हित-तरंगिणी' को भी तब इस दृष्टि से ऐतिहासिक भूल ही कहा जायगा। इसी प्रकार 'मनोहर' कवि ने भी अनेक शृंगारी दोहों की रचना की है। विद्यापति के नख-शिख वर्णन और नायिका भेद संबंधी पदों में रीतिकालीन परंपरा का बीज अंकुरित हो चुका था और उनका 'कुच वर्णन' रीतिकालीन कवियों के कुच प्रेम को भी मात करता है। इसीलिए उन्हें 'कुच का कवि' होने का गौरव भी प्राप्त हुआ ह। सूरदास की 'साहित्य लहरी' लक्षण ग्रंथों से भिन्न नहीं है और उनके 'सूरसागर' जैसे रागसागर में भी रीतिकालीन

स्वरों का आलाप सुनाई पड़ता है। इसी प्रकार रीतिकालीन साहित्य का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि वहाँ पर धार्मिक ग्रंथों की रचनाएँ कम नहीं हुई हैं।

भक्तिकाल में इन धार्मिक एवं श्रृंगारिक रचनाओं के अतिरिक्त जन-जीवन को चित्रित करने वाली कुछ लौकिक रचनाएँ भी दृष्टिगत होती हैं जिनकी परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। इतना अवश्य है कि इस श्रृंखला की कड़ियाँ बीच-बीच में टूटती रही हैं। इन काव्यों में लोक-मानस की सजीव भावनाएँ विद्यमान रहती हैं। लोक-हृदय की सरलता, निश्छल व्यावहारिकता और सहृदय-संवेद्य-क्षमता के कारण लोक-साहित्य वैदिक मार्ग के समानान्तर ही अपने पथ का निर्माण करता चला आया है। इसके द्वारा सदैव परिष्कृत साहित्य प्रभावित भी होता रहा है। भक्ति-काल में यद्यपि इसकी कोई सुव्यवस्थित परम्परा नहीं रही है, फिर भी इतना तो सत्य है कि इसने भक्त कवियों के भक्ति-साहित्य को अनुप्राणित अवश्य किया है। कबीर के साहित्य में लोकभावना तो सुरक्षित है ही, स्वयं कबीर भी लोकवेद का अनुसरण करते हुए प्रतीत होते हैं।[1] सूफी कवियों ने तो लोक-कथा को अपने काव्यों का आधार ही बनाया है। विद्यापति के गीत आज भी मिथिला में बड़े ही लोकप्रिय हैं, जिनमें लोक-गीतों का मूल स्वर विद्यमान है। उनके कुछ गीत तो विशुद्ध रूप से लोक-गीत ही प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए निम्न गीत का अवलोकन किया जा सकता है :

"मोरा रे आँगना चान्दन केरि गछिआ
ताहि चढ़ि कुररए काग रे।
सोने चोंच बाँधि देब तोहि बायस
जओं पिआ आओत आज रे।।"[2]

'सूरसागर' में जितने भी मार्मिक एवं सरस प्रसंग आये हैं, वे सब लोक-जीवन से ही अनुप्राणित कहे जा सकते हैं। ग्वाल-बालों के साथ गोपाल कृष्ण की दिनचर्या पशु-चारण युग की लौकिक संस्कृति का स्मरण दिलाती है। सच पूछा जाय तो सूरसागर ब्रज की लोक संस्कृति का आकर ग्रंथ है। इसमें जादू-टोना, वेश-भूषा, रहन-सहन तथा जन्म से लेकर मरण तक के विविध मानवीय संस्कारों का विशद चित्रण हुआ है। सूरसागर के पदों में लोक-गीतों का माधुर्य और सजीवता विद्यमान है। तुलसी के उन गीतों में भी लोकगीतों का ही मूल स्वर सुनाई पड़ता है जिनकी रचना में लोक-धर्म से प्रेरणा ली गई है। इस विवेचन से ज्ञात होता है कि भक्ति-काल में केवल धार्मिक रचनाएँ ही नहीं हुई, बल्कि श्रृंगारिक रचनाओं के साथ ही लोक-साहित्य की भी उपेक्षा नहीं की गई है। इसी बात को दृष्टिपथ में रखते हुए डॉ० रामचन्द्र तिवारी ने मध्य-काल की रचनाओं को 'राज्याश्रयी', 'धर्माश्रयी' और 'लोकाश्रयी' काव्य के रूप में वर्गीकृत करना अधिक उपयुक्त समझा है।[3] अतः हिन्दी साहित्य में मध्य-काल का अध्ययन

---

[1] पीछैं लागा जाइथा लोक वेद के साथि।
आगैं थैं सतगुर मिल्या दीपक दीया हाथि।।—क० ग्र०, पृष्ठ २ (साखी नं० ११)।

[2] विद्यापति की पदावली : रामवृक्ष बेनीपुरी, पृष्ठ २९१।

[3] देखिए, मध्ययुगीन काव्य साधना : डॉ० रामचन्द्र तिवारी, पृष्ठ २—३।

करने के लिए 'भक्ति' और 'रीति' की सीमाएँ संकुचित ही कही जायेंगी। ऊपर जिन काव्य प्रवृत्तियों की त्रिधारा की चर्चा की गई है, उसके सम्यक बोध के लिए ये शब्द उपयुक्त नहीं प्रतीत होते। अतः अभी भी उसके समुचित अध्ययन की आवश्यकता बनी हुई है।

काव्य-धारा : पृष्ठभूमि और विकास

भक्ति-काल के पूर्व देश में राजनीतिक उथल-पुथल के परिणामस्वरूप इस युग का साहित्य भी संघर्ष और संक्रांति के बीच सांस ले रहा था। आक्रामक मुसलमानों के साथ घोर संघर्ष करते हुए उत्तर भारत के राजपूतों का पतन हो चुका था, और उनके स्थान पर दिल्ली, जौनपुर और बंगाल में मुसलमानी शासन पूर्णतः स्थापित हो गया। गुलाम वंश के बाद दिल्ली का शासन-सूत्र खिलजियों के हाथ में आया, साथ ही दक्षिण भारत को भी अपने राज्य में मिलाने की उत्कट अभिलाषा अलाउद्दीन खिलजी ने देवगिरि पर आक्रमण करके वहाँ के यादव राजा रामचन्द्र को पराजित किया। इस प्रकार मुसलमानों की बढ़ती हुई राज्यलिप्सा ने हिन्दुओं का अस्तित्व ही समाप्त-सा कर दिया। राज्य-विस्तार के साथ ही मुसलमान अपने धर्म प्रचार का भी व्यापक प्रयास कर रहे थे जिसमें युगीन साहित्य का प्रभावित होना स्वाभाविक था। हिन्दू शासकों की पराजय ने वीरता का यशगान करने वाले चारणों को निराश्रित कर दिया था, जिसके परिणामस्वरूप चारणों की प्रशस्तिमूलक रचनाएँ भी कम होने लगी थीं। हिन्दुओं का साहस क्षीण हो चुका था और पौरुष भी थकने लगा था। विजयनगर का हिन्दू राज्य अपने आत्म-सम्मान के रक्षार्थ प्रयत्नशील था और इसीलिए आये दिन बहमनी राज्य से उसकी नोंक-झोंक हो जाया करती थी। तात्पर्य यह कि दूर-दूर तक मुसलमानी राज्य की स्थापना हो चुकी थी और जो इने-गिने प्रदेश हिन्दुओं के अधिकार में थे, उन पर भी मुसलिम आक्रमणकारियों का आतंक छाया हुआ था। घोर निराशा के ऐसे भयाच्छन्न वातावरण में हिन्दू जनता अपना मार्ग ढूँढ़ने में असहाय सिद्ध हो रही थी। "उसके सामने ही उसके देव-मंदिर गिराये जाते थे, देव मूर्तियाँ तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे।"[१] उसे पूर्णतः विश्वास हो गया था कि हिन्दू शासक और देश के सम्मानित व्यक्ति अब धर्म-रक्षा का कोई उपाय नहीं कर सकते। निराश जनता की मनोवृत्तियों का उल्लेख करते हुए डॉ० रामकुमार वर्मा लिखते हैं : "मुसलमान जब अपनी सत्ता के साथ अपना धर्म प्रचार करने लगे तब तो परिस्थिति और भी विषम हो गई। हिन्दुओं में मुसलमानों से लोहा लेने की शक्ति नहीं थी। वे मुसलमानों को न तो पराजित कर सकते थे और न अपने धर्म की अवहेलना ही सहन कर सकते थे। इस असहायावस्था में उनके पास ईश्वर से प्रार्थना करने के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं था। वे ईश्वरीय शक्ति और अनुकम्पा पर ही विश्वास रखने लगे। कभी-कभी यदि वीरत्व की चिनगारी भी कहीं दीख पड़ती थी तो वह दूसरे क्षण ही बुझ जाती थी या बुझा दी जाती है। इस प्रकार

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ ६३।

दुष्टों को दण्ड देने का कार्य उन्होंने ईश्वर पर ही छोड़ दिया और वे सांसारिक वस्तु-स्थिति से पारलौकिक और आध्यात्मिक वातावरण में ही विहार करने लगे।"[१] धरती की ओर से निराश होकर आकाश की ओर देखने के लिए समाज को बाध्य होना पड़ा। अपनी गौरवपूर्ण सांस्कृतिक परंपरा का सिंहावलोकन करते समय उसे गीता में कहे गये भगवान् श्रीकृष्ण के वचन स्मरण हो आये। उन्होंने आश्वासन दिया था कि "जब धर्म की हानि होती है तो उसके अभ्युत्थान के लिए मैं जन्म लेता हूँ।" धर्मप्राण जनता के लिए यह बहुत बड़ा अवलम्ब था। भगवान् की शरण में आने के अतिरिक्त और दूसरा कोई विकल्प नहीं रह गया था, जो उसकी धार्मिक भावनाओं को सुरक्षित बनाये रखता।

भक्ति-काल के पूर्व देश की धार्मिक चेतना को बड़ी ही विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ रहा था। ब्राह्मण धर्म की पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी और बौद्ध-धर्म की लोकप्रियता क्षीण हो रही थी। वह सहजयान और वज्रयान—इन दो शाखाओं में बँट कर अत्यन्त विकृत हो गया था। शाक्तों की तांत्रिक प्रणाली से प्रभावित होने के कारण सहजयानी सिद्धों में गुह्य साधना भी धीरे-धीरे घुसती जा रही थी। इन तांत्रिक सिद्धों का प्रभाव क्षेत्र केवल बंगाल ही रह गया था। साधना में पंच मकारों के सेवन को अनिवार्य माना गया तथा मद्य और मैथुन को ज्ञान प्राप्ति का प्रधान साधन मान कर समाज में नारी-पुरुष को उन्मुक्त यौनाचार और मद्य सेवन की पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान की गई। अपनी रहस्यात्मक गुह्य साधना द्वारा अनेक चमत्कार उत्पन्न करके ये साधारण जनता को चमत्कृत किया करते थे। इसी चमत्कारिता के कारण जन-सामान्य इनमें अलौकिक शक्ति का दर्शन करता था। जिस प्रकार देश के पूर्वी भागों में सिद्धों का प्रभाव था, उसी प्रकार पश्चिमी भाग—पंजाब एवं राजस्थान में नाथपन्थी योगियों का प्रभुत्व था। नाथ-पंथ का मूल भी यद्यपि वज्रयान शाखा ही कही जा सकती थी किन्तु इनकी साधना आचार-निष्ठामूलक थी। इनमें वज्रयान की-सी अश्लीलता को प्रश्रय न मिल सका। गोरखनाथ ने 'पतंजलि योग' के आधार पर हठयोग का प्रवर्तन किया। इसमें संदेह नहीं कि वज्रयानी सिद्धों और नाथपंथी योगियों ने सामान्य जनता में अपनी खूब धाक जमा ली थी किन्तु शिक्षित समाज उससे अप्रभावित ही रहा। इनकी साधना में भक्ति और प्रेम जैसे कोमल भावों को कोई महत्व नहीं दिया गया। तरह-तरह के शारीरिक कष्टों एवं पीड़ाओं द्वारा वे अपने शरीर को सहनशील बनाये रहते थे।

जिस समय उत्तर भारत में नाथों और सिद्धों की अंतस्साधना प्रचलित हो चुकी थी, उसी समय दक्षिण भारत में आडवार भक्तों की भावधारा भी प्रवाहित हो रही थी, जिसका समर्थन वहाँ के वैष्णव आचार्यों द्वारा भी किया गया। दक्षिण भारत में वैष्णव-धर्म की स्थापना करने वाले 'रामानुज', 'मध्व', 'विष्णु स्वामी' और 'निम्बार्क'—ये चार महान् आचार्य हुए। इन आचार्यों के प्रयास द्वारा वैष्णव-धर्म की पावन धारा

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास : डॉ० रामकुमार वर्मा, पृष्ठ १९२।

दक्षिण से उत्तर की ओर भी प्रवाहित होने लगी। इन आचार्यों के पश्चात् रामानंद, वल्लभाचार्य और चैतन्य महाप्रभु ने अत्यधिक व्यापक बनाते हुए इसे सुदृढ़ धरातल प्रदान किया। रामानंद की उदारता ने उत्तर भारत में अपनी सुदृढ़ परम्परा निर्धारित कर ली, जिसमें जातिगत भेदकता की उपेक्षा करके उन्होंने निम्नवर्गीय शिष्यों को भी दीक्षित किया। निःसंदेह रामानंद जी ने भक्ति आन्दोलन में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया और कबीर ने उसे पूर्णता प्रदान की। उत्तर भारत में भक्ति का विकास किस प्रकार हुआ, इस संबंध में निम्न दोहा प्रसिद्ध है :

"भक्ती द्राविड़ ऊपजी लाए रामानंद
परगट किया कबीर ने सप्त दीप नव खंड।"

कबीर से पहले महाराष्ट्र में संत नामदेव ने एक ऐसे सामान्य भक्ति मार्ग की ओर संकेत किया था, जिसमें हिन्दू और मुसलमान दोनों ने अपना समाधान ढूँढ़ निकाला। आगे चल कर इसी का सुव्यवस्थित रूप कबीर के 'निर्गुण-पंथ' में दिखायी पड़ता है। इस समय तक उत्तर भारत में मुसलमानी राज्य पूर्णतः स्थापित हो चुका था और जौनपुर राज्य सूफी संतों का गढ़ बन गया था। जौनपुर के अतिरिक्त पंजाब में भी सूफियों का बोलबाला था। इन सूफी संतों की उदार प्रेम भावना सहृदय हिन्दुओं को अपनी ओर आकृष्ट करती रही। कबीर के पहले ही नाथपंथियों ने साधना मार्ग का निर्माण तो कर दिया था किन्तु ऊबड़-खाबड़ और कंटीले योगमार्ग में शुष्कता एवं नीरसता थी। युगद्रष्टा कबीर ने उसकी झाड़-झंखाड़ को काट कर उसको समतल बनाया और भक्ति-रस से सींचकर अत्यन्त सजीव कर दिया। इन्होंने अपने समय में प्रचलित सभी धर्मों का सार तत्व ग्रहण करके जिस सामान्य भक्ति मार्ग का प्रवर्त्तन किया, उससे न केवल हिन्दू-मुसलिम समाज का कल्याण हुआ अपितु मानवमात्र की प्रतिष्ठा हो गई। ब्राह्मण धर्म की वर्णाश्रम व्यवस्था इतनी विकृत हो चुकी थी कि सामाजिक विषमता से पीड़ित होकर निम्नवर्गीय समाज का झुकाव एक तो सिद्धों और नाथों की योग साधना की ओर हो रहा था और दूसरी ओर इस्लाम धर्म की उदारता उन्हें आकृष्ट कर रही थी। स्त्री-पुत्रादि के मर जाने अथवा सम्पत्ति के नष्ट हो जाने पर सन्यासी हो जाना सामान्य बात हो गई थी। इसी प्रकार नीची जातियों को जो सम्मान अपने समाज में अनुपलब्ध था, वह इस्लाम धर्म में सहज ही प्राप्त हो रहा था। ऐसे ही समय में कबीर का सर्वग्राही भक्तिमार्ग निम्नवर्गीय जनता के लिए वरदान सिद्ध हुआ, जिसने एक बहुत बड़े जनसमुदाय को सन्यासी होने और इस्लामी आकर्षण से बचा लिया। इस संदर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है : "इसमें कोई संदेह नहीं कि कबीर ने ठीक मौके पर जनता के उस बड़े भाग को संभाला जो नाथपंथियों के प्रभाव से प्रेमभाव और भक्ति रस से शून्य और शुष्क पड़ता जा रहा था। उनके द्वारा यह बहुत ही आवश्यक कार्य हुआ। इसके साथ ही मनुष्यत्व की सामान्य भावना को आगे करके निम्न श्रेणी की जनता में उन्होंने आत्मगौरव का भाव जगाया और उसे भक्ति के ऊँचे-से-ऊँचे सोपान की ओर बढ़ने के लिए बढ़ावा दिया।"[१] नामदेव और कबीर के

---

[१] हिन्दी साहित्य का इतिहासः आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ ६७।

अतिरिक्त निर्गुण-पंथ में नानक, दादू, रैदास और मलूकदास आदि संतों का नाम उल्लेखनीय है। काव्य सौंदर्य की दृष्टि से इनकी रचनाओं का कोई विशेष महत्व नहीं है और न तो भाषा ही व्यवस्थित है। कबीर और सुन्दरदास आदि कुछ प्रतिभा संपन्न संतों को छोड़कर अन्य सभी की रचनाओं को साहित्यिक नहीं कहा जा सकता। आचार्य शुक्लजी ने निर्गुण काव्यधारा को ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी दो भागों में विभक्त किया है। ज्ञानाश्रयी शाखा में कबीर आदि संत कवियों की गणना की गई है जिनमें से दो एक को छोड़कर प्रायः सभी अशिक्षित अथवा नाममात्र को ही शिक्षित थे। अतः उन्हें ज्ञानी मान लेना कुछ उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। उनमें ज्ञान नहीं, बल्कि ज्ञानाभास ही दृष्टिगोचर होता है। नाथों की चमत्कारिक शब्दावली—'इड़ा', 'पिंगला', 'कुंडलिनी', 'नाद', 'विंदु', 'अष्टदलकमल', 'सुरति-निरति' आदि को ग्रहण करके वे ऐसा शब्दजाल बाँधते थे कि सामान्य जनता चमत्कृत हो उठती थी। कुंडलिनी जगाकर अनहद नाद सुनने से लेकर निर्झर झरने के अमृतपान तक का उल्लेख तो सुनें-सुनाये आधार पर सभी किया करते थे, किन्तु इसका ज्ञान और अनुभव भी उन्हें था—नहीं कहा जा सकता। अतः संत कवियों की शाखा को ज्ञानाश्रयी नाम देना तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता। उसे ज्ञानाभासाश्रयी कहना ही अधिक उपयुक्त है।

निर्गुण काव्यधारा की दूसरी शाखा प्रेममार्गी सूफियों की है। काव्य-मूल्यों की की दृष्टि से सूफी आख्यानकों का विशेष महत्व है। संत कवियों ने केवल स्फुट रचनाएँ ही की थीं किन्तु सूफियों ने सुन्दर प्रबंध-काव्यों की रचना की है। 'पद्मावत', 'मृगावती', 'मधुमालती', 'इन्द्रावती', 'चित्रावली' तथा 'हंस जवाहिर' आदि सूफी कवियों की महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं। इनमें 'जायसी' का 'पद्मावत' हिन्दी के प्रबंध-काव्यों में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इन सभी प्रबंध-काव्यों के कथानक की रूपरेखा एक ही प्रकार की है। कथानक का आधार, हिन्दुओं की प्रचलित लोक गाथाओं को बनाया गया है और रचना मसनवी शैली में की गई है। इनके कथानक कल्पित और एक ही साँचे में ढले हुए होते हैं। किसी अनिंद्य सुंदरी राजकुमारी के रूप-गुण की चर्चा सुनकर राजकुमार का उसके ऊपर मुग्ध होकर उसकी खोज में निकल पड़ना तथा नाना प्रकार की कठिनाइयों का सामना करते हुए अंत में उसे प्राप्त करना—यही कथानक नाम-भेद के साथ सभी रचना में स्वीकार किया गया है। यह उसका अप्रस्तुत पक्ष है, प्रस्तुत व्यंग्य रहा करता है, जिसमें आध्यात्मिक प्रेम की ओर संकेत किया गया रहता है। दूसरे शब्दों में लौकिक प्रेम (इश्कमजाजी) के द्वारा अलौकिक प्रेम (इश्क हकीकी) की व्यंजना ध्वनित की गई रहती है। जायसी ने अपने 'पद्मावत' में 'तन चितउर मन राजा कीन्हा' लिखकर इसी ओर संकेत किया है। इन्होंने आत्मा और परमात्मा के एकत्व पर जोर दिया है। माया के लिए इनके यहाँ कोई स्थान नहीं है; शैतान की कल्पना अवश्य की गई है, जो आत्मा को सदैव भटकाता रहता है। आत्मपरिष्कार द्वारा परमात्मा की प्राप्ति के लिए इन्होंने चार अवस्थाएँ—शरीयत, तरीकत, हकीकत, मारिफत—मानी हैं। इसकी चर्चा करते हुए डॉ० रामकुमार वर्मा ने लिखा है : "मारिफत में 'बेका' (जीवन) प्राप्त करने के लिए 'फना' हो जाती है। इस फना होने में

इश्क (प्रेम) का बहुत बड़ा हाथ है। बिना इश्क के बका की कल्पना ही नहीं हो सकती। इसी बका में में रूह अपने को 'अनलहक' की अधिकारिणी बना सकती है। इस 'अनलहक' में रूह आलमे 'लाहूत' की निवासिनी बनती है। लाहूत के पहले अन्य तीन जगतों में आत्मा अपने को पवित्र बनाने का प्रयत्न करती है। उसे हम परिष्करण की स्थिति (Purgatory) कह सकते हैं—आलमे नासूत (सत् भौतिक संसार), आलमे मलकूत (चित् संसार) और आलमे जबरूत (आनंद संसार)। लाहूत में हक (ईश्वर) से सामीप्य होता है, जो सदैव एक है।"[१]

प्रेम ही सूफी साधना का महत्वपूर्ण संबल है जिसकी सहायता से साधक की आत्मा तथाकथित चार अवस्थाओं को पार करती हुई हक (ईश्वर) तक पहुँचने का प्रयास करती है। अंतिम अवस्था मारिफत है जिसमें आत्मा का परमात्मा से साक्षात्कार होता है। प्रेमोन्मत्त आत्मा की यह आध्यात्मिक यात्रा है जिसके पूर्ण होते ही आत्मा और परमात्मा की भेदकता समाप्त हो जाती है तथा आत्मा में ही परमात्मा का दर्शन होने लगता है। प्रेम, सूफी साधकों के सारे कर्मों की मूल प्रेरणा होने के कारण, धार्मिक भावना से असंपृक्त नहीं है। प्रेमोन्माद को सूफी कवियों की स्वाभाविक विशे-षता के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। प्रेमाविष्ट होकर आत्मविस्मृत की अवस्था में ये रहस्यानुभूति के अखंड आनंद में निमग्न हो जाते हैं और किसी भी सांसारिक वस्तु से इनका आकर्षण समाप्त हो जाता है। भारतीय दर्शन में आत्मा और परमात्मा के संबंधों को नारी-पुरुष के रूप में देखा गया है जिसमें नारी रूप आत्मा प्रियतम ब्रह्म की वियोगाग्नि में जलती हुई उसके समागम के लिए प्रयत्नशील दिखाई पड़ती है। कबीर ने भारतीय दर्शन के अनुसार ही हरि को 'पीउ' और स्वयं को उसकी 'बहुरिया' बताया है किन्तु सूफी संतों ने ईश्वर को नारी और आत्मा को पुरुष मान कर आध्या-त्मिक संकेतों की लौकिक अभिव्यक्ति की है। उस नारी रूप ईश्वर की एक झलक पाने के लिए सूफी प्रेमियों की आत्मा बेताव रहा करती है। इस प्रकार सूफी कवियों के प्रेम दर्शन ने हिन्दी कविता को अत्यधिक प्रभावित किया है और आगे आने वाले हिन्दी के प्रेम काव्यों—विशेषतः कृष्ण-काव्य की माधुर्योपासना में सूफी प्रेमतत्व का महत्वपूर्ण योग है।

भक्ति-काल की दूसरी शाखा सगुण भक्त कवियों की है जिसके अंतर्गत दो उपशाखाएँ हैं—रामाश्रयी और कृष्णाश्रयी। उत्तरी भारत में मुसलमानी राज्यसत्ता के स्थापित होने के साथ ही इस्लाम धर्म का प्रचार भी खूब जोर-शोर के साथ हो रहा था, जिससे हिन्दुओं की धार्मिक भावना को बड़ी ठेस पहुँच रही थी। मुसलमानों ने हमारे देश पर राजनीतिक विजय तो प्राप्त कर ही ली थी, अब इस्लाम-धर्म के प्रचार द्वारा वे हमारी सांस्कृतिक पराधीनता का स्वप्न ही नहीं देख रहे थे, अपितु उस ओर क्रियाशील भी थे। हिन्दू जनता धीरे-धीरे अपनी गौरवमयी सांस्कृतिक परंपरा से विमुख होकर अपने सुनहले अतीत को भूलती जा रही थी। इस्लाम-धर्म की बढ़ती हुई लोकप्रियता हिन्दू धर्म के लिए सबसे बड़ा सिरदर्द बन रही थी जिसकी प्रतिक्रिया के कारण हिन्दी साहित्य में राम और कृष्ण काव्यों का जन्म हुआ। राम और

[१] हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास : डॉ० रामकुमार वर्मा, पृष्ठ १९६।

कृष्ण के प्रति हिन्दू जनता की भक्ति भावना बलवती होती गई, जिसका मूल बीज प्राचीन वैष्णव धारा में विद्यमान था। दक्षिणी भारत में, मुसलमानों के प्रभाव से बहुत कुछ अछूता होने के कारण वैष्णव-धर्म की प्रतिस्थापना हो चुकी थी। वैष्णव-धर्म के मूल उद्गम पर विचार करने से ज्ञात होता है कि विष्णु में देवत्व की कल्पना ने ही इसे जन्म दिया। विष्णु का उल्लेख सर्वप्रथम ऋग्वेद में प्राप्त होता है जहाँ इनकी कल्पना सूर्य रूप में की गई है। इन्हें जगत् के तीन भागों को केवल तीन पगों में माप लेने वाला, धर्म को धारण करने वाला तथा इन्द्र का सखा बताया गया है। संरक्षण की अपूर्व शक्ति से संपन्न होने के कारण विष्णु को परमपद भी कहा गया है। आगे चलकर ब्राह्मण ग्रन्थों में इनका स्वरूप बहुत कुछ परिवर्तित हो गया। शतपथ ब्राह्मण में इनके वामन रूप का चित्रण प्राप्त होता है जहाँ इन्होंने राक्षस के चंगुल से पृथ्वी का उद्धार किया है। रामायण काल में विष्णु ब्रह्म के स्थानापन्न हो गये तथा महाभारत में इनका स्रष्टा रूप भी प्रस्फुटित हुआ। ब्रह्मा को स्वयं इनके नाभि कमल से उत्पन्न हुआ बताया गया और रुद्र को इनके मस्तक से। इस प्रकार विष्णु के विकसनशील स्वरूप ने पुराणों में सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त कर लिया और आगे चलकर वैष्णव धर्म ने केवल विष्णु को ही परमब्रह्म के रूप में स्वीकार किया। ईसा से लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व ही वैष्णव धर्म की उद्भावना हो चुकी थी और इसी का परिवर्द्धित रूप भागवत-धर्म है। बाद में इसमें नारायणीय भावना का भी मिश्रण कर दिया गया जिससे इस धर्म की व्यापकता और भी अधिक बढ़ गई। डॉ० रामचन्द्र तिवारी के अनुसार भागवत-धर्म शुद्ध वैदिक धर्म नहीं था, बल्कि उसे वेद सम्मत प्रमाणित करना पड़ा था। आप का अनुमान है: "बहुत संभव है, शक्ति सम्पन्न आर्येतर जातियों को समाज की उच्चतर भूमि पर प्रतिष्ठित करने के लिए उनके विश्वासों और आचारों के साथ उनका धार्मिक उन्नयन किया गया हो और इस प्रयास में भागवत-धर्म प्रतिष्ठित हुआ हो।"[१]

बात जो भी रही हो, किन्तु यह तो ऐतिहासिक सत्य है कि आठवीं शताब्दी में आकर भारतीय जन-जीवन अनेक जातियों-उपजातियों में विभक्त होकर विकारग्रस्त हो गया था और शक, हूण, पल्लव, कुषाण और सीथियन आदि जातियों का अस्तित्व भी स्थापित हो चुका था। इसी समय अमीरों ने वैष्णव-धर्म में कृष्ण भावना को भी जोड़ कर इसे और भी व्यापक धरातल प्रदान किया।

इस समय तक आचार्य शंकर के अद्वैतवादी दर्शन की अनुगूँज भी सुनाई पड़ने लगी थी। जाति, धर्म और सम्प्रदायों में फैली हुई विषमता को देख कर उन्होंने अपने अभेद दर्शन की स्थापना की, जिसके अनुसार संपूर्ण सृष्टि को एक ही चिरंतन चेतन सत्ता से प्रोद्भासित बतलाकर जीव से उसकी अभिन्नता स्वीकार की गई। दक्षिण में आडवार भक्तों की प्रेम भावना भी आंतरिक एकता में बड़ी सहायक सिद्ध हो रही थी, जिससे सामाजिक जीवन अत्यधिक प्रभावित हुआ। वस्तुतः ईश्वर प्रेम के क्षेत्र में सबको समान अधिकार देकर आडवार भक्तों ने भारतीय जन-जीवन को एक दूसरे के निकट लाने का स्तुत्य प्रयास किया, जिसे उस समय का महान् कार्य कहा जा सकता है। आगे के प्रसिद्ध वैष्णव आचार्यों ने अपने धार्मिक सिद्धांतों

[१] मध्ययुगीन काव्य-साधना : डॉ० रामचन्द्र तिवारी, पृष्ठ १६।

में इनकी भक्ति भावना को विशेष महत्व दिया। निर्गुण काव्य-धारा का विवेचन करते समय इन आचार्यों का उल्लेख किया गया था जिन्होंने उत्तरी भारत में भी भक्ति को पल्लवित किया। 'वेबर', 'ग्रियर्सन', 'वर्नले', 'भण्डारकर' आदि कुछ विद्वानों ने वैष्णव भक्ति को ईसाइयत की देन कहा है। उनका अनुमान है कि सीथियन लोग अपने साथ क्राइस्ट की जीवन गाथा को भी साथ लाये और उन्होंने कृष्ण की जीवन गाथा के साथ उसका तालमेल बैठा लिया। क्राइस्ट और कृष्ण के नाम-साम्य को ही वे इसका आधार बनाना चाहते हैं किन्तु यह उनका भ्रम ही कहा जायगा, क्योंकि ईसा के जन्म के पूर्व ही हमारे यहाँ कृष्ण-कथा लोक प्रचलित हो चली थी और उसने समाज में अपना स्थान भी बना लिया था। यदि वैष्णव भक्ति को ईसाइयत से प्रभावित मान भी लिया जाय तो भी उसका मूल उद्गम भारतवर्ष ही सिद्ध होता है। इस संदर्भ में डॉ० रामचन्द्र तिवारी का मत न्यायसंगत प्रतीत होता है। उन्होंने लिखा है— "यदि मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन में निहित प्रेम और समता की भावना का प्रेरक स्रोत ईसाई धर्म को माना जाय तो भी घूम-फिर कर भारतवर्ष में ही लौट आना पड़ता है क्योंकि ईसाई धर्म भी बौद्ध धर्म से प्रभावित माना गया है। बौद्ध और जैन व्यापारियों के अलेक्जेंड्रिया (Alexandria) में बसने की बात बहुत पुरानी है। अशोक ने मेसीडोनिया में भी बौद्ध भिक्षुओं को प्रचारार्थ भेजा था और इन भिक्षुओं के अलेक्जेंड्रिया में पहुँचने की बात तो विदेशी विद्वान् भी स्वीकार करते हैं।"[१] इस प्रकार की धार्मिक उदारता तथा सामाजिक एकता केवल ईसाई धर्म में ही नहीं पाई जाती, वल्कि पुराण ग्रंथों में भी इस भावना का प्रतिपादन हो चुका था। इसके अतिरिक्त आडवार भक्ति में प्रेमगत एकता की चर्चा पहले की जा चुकी है। इसी भावना का विकास कृष्ण-भक्त और राम-भक्त कवियों की सगुणोपासना में पाया जाता है।

साहित्यिक मूल्यांकन

कबीर, जायसी, सूर और तुलसी आदि सभी भक्त कवियों ने अपने आराध्य के गुणगान को ही काव्य का चरम प्रतिपाद्य माना है। लोकमंगल की भावना से इनका सारा काव्य ओत-प्रोत है। कविता की सार्थकता वे इसी में मानते हैं, जिसमें प्राणी मात्र का कल्याण हो। गोस्वामी तुलसीदास ने काव्य-प्रयोजन को इस प्रकार स्पष्ट किया है :

"कीरति भनिति भूति भल सोई।
सुर सरि सम सब कर हित होई॥"[२]

तुलसीदास के काव्यों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि लोक-संग्रह की भावना और व्यक्तित्व संस्कार का प्रतिपादन किये जाने के कारण, इन्होंने अलंकरण वृत्ति को विशेष महत्व नहीं दिया। अतः अलंकारादि शोभावर्द्धक तत्व साधन रूप में ही प्रयुक्त हुए हैं। तुलसीदास ने तो अपने काव्य में लोकगीतों को भी स्थान देकर 'बहुजन हिताय' की भावना को स्वीकार करते हुए उसे बहुत ही व्यापक बना दिया है। इसीलिए उनका रामचरितमानस उस युग का प्रतिनिधि काव्य ही नहीं, युग-युग का धार्मिक ग्रंथ भी बन गया है और इसीलिए उसे पुराण-काव्य भी कहा जा सकता है। कबीर, जायसी, सूर और तुलसी सभी ने लोक-भाषा को ही

---

१ मध्ययुगीन काव्य-साधना : डॉ० रामचन्द्र तिवारी, पृष्ठ १९।

२ रामचरितमानस (बालकाण्ड) : गोस्वामी तुलसीदास।

महत्व प्रदान किया है। कबीर की भाषा में खड़ी बोली, राजस्थानी, पंजाबी, ब्रज और पूर्वी का मिश्रण पाया जाता है। इसीलिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उसे 'सधुक्कड़ी' और डॉ० श्यामसुन्दर दास ने पंचमेल खिचड़ी कहा है। जायसी और उनके परवर्ती सूफी कवियों ने ठेठ अवधी को अपनाया तथा सूरदास आदि अष्टछापी कवियों ने ब्रज-भाषा को। गोस्वामीजी ने ब्रज और अवधी दोनों पर समान अधिकार प्रदर्शित किया।

अष्ट-छाप के कवियों ने अपने काव्य में संगीत का भी महत्वपूर्ण योग प्रस्तुत किया है। इनकी कीर्तन पद शैली के द्वारा लौकिक भावनाओं को प्रश्रय मिला और पदों की लोकप्रियता भी बढ़ी। सूरदास तो संगीताचार्य थे ही, इसीलिए उनका सूरसागर रागसागर भी है। इस ग्रंथ के सभी पद किसी न किसी राग में बँधे हुए हैं जो सूर के अद्‌भुत संगीत ज्ञान का परिचय देते हैं। वस्तुतः पद शैली धर्माश्रयी कवियों की बहुत बड़ी विशेषता है जिसके कारण उनकी लोकप्रियता अधिक व्यापक बन सकी है। सूर, मीरा और तुलसी के पद आज भी बड़े चाव से गाये जाते हैं। आधुनिक हिन्दी कविता की प्रगति शैली यद्यपि इससे भिन्न है तथापि वह इसके ऋण से सर्वथा मुक्त नहीं कही जा सकती। इस युग में प्रबन्ध और मुक्तक दोनों प्रकार की रचनाएँ की गई हैं। संतों और कृष्ण-भक्त कवियों ने मुक्तक का आश्रय लिया और सूफियों ने प्रबन्ध काव्य का। तुलसी ने प्रबन्ध काव्य के साथ ही मुक्तक ग्रन्थ भी लिखे। 'रामचरितमानस' और 'पद्‌मावत' इस युग के श्रेष्ठ महाकाव्य हैं तो 'सूरसागर' ललित प्रबन्ध मुक्तक के रूप में स्तुत्य है।

हमारे यहाँ अत्यन्त प्राचीन काल से संयम, नियम एवं सदाचरण को अधिक महत्व मिलता आया है। वैष्णव भक्ति का मूलाधार उसके नैतिक मूल्यों को ही कहा जाता है। उत्तर भारत में वैष्णव भक्ति के संस्थापक आचार्य रामानुज ने भक्ति योग की साधना में यम, नियम, आसन आदि का पालन करना आवश्यक बताया है। कबीर ने भी सत्संग, इन्द्रिय-निग्रह, अहंकार, त्याग, सहानुभूति, अहिंसा आदि की महिमा का उल्लेख किया है। जायसी के 'पद्मावत' में भी नैतिक आदर्शों की प्रतिष्ठा की गई है। 'सूरसागर' में आये हुए विनय के पद भी आचार, निष्ठा, संयम, नियम तथा आदर्श मानवीय गुणों का ही प्रतिपादन करते हैं। तुलसीदासजी तो नैतिक उपदेश देने में अत्यन्त पटु हैं ही। पग-पग पर इन्होंने अपने काव्य में उपदेशात्मक सूक्तियों का प्रयोग किया है। इनके विनय के पदों में नैतिकता का पूर्ण आख्यान किया गया है। इन नैतिक मूल्यों के प्रति अत्यन्त सजग रहते हुए भी कबीर, जायसी और सूर ने प्रेम की महिमा को सर्वोपरि स्वीकार किया है। तुलसीदास के काव्य में प्रेम और नैतिक मूल्यों, दोनों को समान दृष्टि से देखा गया है। कबीर 'एकै आखर प्रेम का' पढ़ लेने से पूर्ण ज्ञानी बन जाने में जरा भी संदेह नहीं करते और जायसी भी प्रेम का प्याला पीकर अपना सब कुछ भूल जाते हैं। प्रेम-तत्व सूफी दर्शन का प्राण है, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। सूफियों से अत्यधिक प्रभावित होने के कारण कबीर ने भी प्रेम-तत्व को उसी रूप में बड़ी सहृदयता के साथ ग्रहण किया है।

सामाजिक चेतना की दृष्टि से सगुण भक्त कवियों की अपेक्षा संत कवि अधिक जागरूक हैं। तुलसी, सूर आदि सगुण भक्त कवियों ने धर्म के क्षेत्र में सामाजिक एकता पर बड़ा बल दिया था किन्तु उसके व्यावहारिक पक्ष की ओर इन्होंने कोई ध्यान नहीं दिया। इनके

भगवान् समदर्शी हैं, वे ऊँच-नीच, नारी-पुरुष आदि में किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं स्वीकार करते किन्तु स्वयं अपने व्यावहारिक जीवन में ये कवि सिद्धान्त को रूपायित न कर सके। तुलसीदासजी धार्मिक प्रगतिशीलता के प्रति कुछ चैतन्य नहीं दिखाई पड़ते। उसी विकृत वर्णाश्रम धर्म से चिपका रहना तुलसी जैसे लोकादर्शवादी कवि के लिए उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। "विप्र चरन सेवक नर-नारी" तथा "ढोल गँवार सूद्र पशु नारी"—जैसी पंक्तियों में ही उनकी आस्था जगती है। यद्यपि सूरदास को भी ब्राह्मण और शूद्र का एक साथ भोजन करना खटकता है, तथापि वे तुलसीदास से कुछ अधिक उदार कहे जा सकते हैं। इस दृष्टि से कबीर का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उन्होंने बड़ी ही निर्भीकतापूर्वक जातीय विषमता की ओर संकेत किया और तर्कपूर्वक उसका अनौचित्य भी सिद्ध किया।[१] प्राचीन वर्ण-व्यवस्था का विरोध बौद्धों ने भी किया था। उन्होंने "कम्मणा भवति ब्राह्मणो" के उद्घोष द्वारा जन्मजात उच्चता अथवा नीचता का घोर विरोध करते हुए वर्ण-व्यवस्था को चुनौती दी थी। हिन्दी में सबसे पहले कबीर ने तर्कों और प्रमाणों का सहारा लेते हुए अटूट आत्मविश्वास के साथ जन्मजात उच्चता का विरोध किया :

> "ऊँचे कुल क्या जनमियां, जे करणी ऊँच न होई।
> सुवरन कलस सुरै भर्या, साधू निंद्या सोई॥"[२]

व्याहारिक स्तर पर जातीय एकता तथा सामाजिक समानता का समर्थन इतनी निर्भीकतापूर्वक समूचे मध्ययुग का कोई भी कवि न कर सका। कबीर ने बहुत पहले ही जिस मानव धर्म की स्थापना की थी आधुनिक युग के अनेक मानवतावादी कवि भी थोड़े संशोधन और परिवर्द्धन के साथ वही बात कहते हुये पाये जाते हैं। यह भावना केवल कबीर में ही नहीं, अपितु सभी सन्त कवियों में पाई जाती है जिसे उनकी महान् उपलब्धि कहा जा सकता है।

इस युग में सांस्कृतिक परंपरा अस्त-व्यस्त हो जाने पर भी लोक धर्म की मर्यादा अभी भी सुरक्षित थी। संयुक्त पारिवारिक व्यवस्था और विविध मानवीय संस्कारों का उल्लेख सूर, तुलसी आदि कवियों ने किया है। इतना अवश्य है कि ये संस्कार अब जन-सामान्य के न रहकर कुछ इने-गिने परिवारों में ही अवशिष्ट रह गये थे। वर्ण-व्यवस्था ढहने लगी थी तथा ब्राह्मणों एवं राजपूतों में भी अनेक उप-जातियाँ बन गई थीं। कुछ और नयी जातियाँ अस्तित्व में आ गई थीं जिसके परिणामस्वरूप हिन्दुओं की धार्मिक व्यवस्था और भी विश्रृंखलित होती जा रही थी। व्रत, उपवास, अनुष्ठान आदि का विधान बढ़ता जा रहा था। "देवगिरि के अंतिम राजा के मंत्री हेमाद्रि के 'चतुर्वर्ग चिन्तामनि' ग्रन्थ में पूरे २००० व्रतों, अनुष्ठानों का विधान है।" चतुर्वर्णों में कर्म विपर्यय पाया जाने लगा था जिसका उल्लेख गोस्वामीजी ने 'रामचरितमानस' के उत्तर काण्ड में किया है। शूद्र लोग वेदाध्ययन करने लगे थे और ब्राह्मण भी अपने सदाचरण से गिरते जा रहे थे। इस युग में सामान्य नर-नारी के प्रति कोई सहानुभूति नहीं दिखाई गई। सीता, सावित्री के सती रूप का आदर्श ही प्रस्तुत किया गया किन्तु कृष्ण-

---

[१] एक बूँद एकै मल मूतर, एक चाम एक गूदा।
एक जोति में सब उपतना, कौन बाह्मन कौ सूदा॥
—कबीर ग्रन्थावली, पद सं० ५७ पृष्ठ ९३।

[२] कबीर ग्रन्थावली, पद संख्या २६९, पृ० ४२।

काव्य में राधा की अवतारणा एक महत्वपूर्ण घटना थी जिसने सामान्य नारी की इच्छाओं को भी समझने का कुछ अवसर प्रदान किया। सूर की नारी भावना अत्यन्त व्यापक और उदार है। गोस्वामीजी ने सामान्य नारी को गँवार, शूद्र और पशु की कोटि में रख कर उसका महान् तिरस्कार किया है। संत कवियों के यहाँ नारी की और भी दुर्दशा हुई है। उसे साधना मार्ग की सबसे बड़ी बाधा के रूप में देखा गया है। कबीर ने कनक और कामिनी की घोर निन्दा की है।[१]

इस युग में जन-जागरण जैसी वस्तु को ढूँढ़ते समय निराश ही होना पड़ता है। राजाओं में परिवर्तन होता रहे, जनता को उससे क्या लेना देना। वह तो आँख मूँद कर राजाज्ञा का पालन करना ही अपना परम कर्त्तव्य समझती थी। राजा भला है या बुरा, इससे उसे कोई मतलब नहीं था। राजा और प्रजा के बीच बड़ी गहरी खाई थी। 'सूरसागर' में गोपियों को जब यह ज्ञात हुआ कि उनके कृष्ण राजा बनने जा रहे हैं तो प्रसन्नता के बदले उन्हें महान् कष्ट हुआ। उन्होंने समझा कि राजा बनने पर तो कृष्ण का दर्शन भी दुर्लभ हो जायगा। राजा के प्रति जनता कितनी उदासीन रहती थी——गोपियों की मनोवृत्ति से इसका अनुमान लगाया जा सकता है। जनता स्वामिभक्त थी अवश्य, जन्म-भूमि से उसे प्यार भी था किन्तु राष्ट्रीय चेतना का उसमें सर्वथा अभाव ही पाया जाता है। सच पूछा जाय तो अंग्रेजों के संपर्क में आने के पश्चात् ही हमने राष्ट्रीयता का अर्थ समझा। नवचेतना की जो लहर मध्य युग में उठी थी, उसके मूल में राष्ट्रीय एकता जैसी कोई भावना नहीं थी बल्कि वह एक प्रकार का सांस्कृतिक जागरण अथवा सांप्रदायिक उत्थान मात्र था। औरंगजेब की कट्टर धर्मान्धता के फलस्वरूप महाराष्ट्र में शिवाजी के नेतृत्व में मराठों का जो संगठन हुआ उसे एक बहुत बड़े जन-समुदाय का समर्थन प्राप्त था—इसमें संदेह नहीं। इसी प्रकार की साम्प्रदायिक चेतना अन्यत्र भी दृष्टिगोचर होती है। मथुरा के आस-पास गोकुल जाट के नेतृत्व में विद्रोह की जो लहर आई, उसे वहाँ के हिन्दू किसानों का आन्दोलन ही कहा जायगा। पंजाब के सिक्खों और सतनामी संतों में भी इसी प्रकार की चेतना काम कर रही थी।

जो भी हो, भक्ति-काल हिन्दी साहित्य के इतिहास में अपना साहित्यिक महत्व रखता है। इस समय कबीर, जायसी, सूर और तुलसी जैसी महान् प्रतिभाएँ विद्यमान थीं जिनके साहित्य को यदि हिन्दी से निकाल दिया जाय तो उसका साहित्यिक वैभव श्रीहीन हो जायगा। अतः भक्ति-काल असंदिग्ध रूप से हिन्दी साहित्य का स्वर्ण-युग कहलाने का अधिकारी है जिसमें प्रबंध और मुक्तक काव्यों का अपूर्व वैभव विद्यमान है।

---

[१] एक कनक अरु कामनीं, विष फल कीएउ पाइ।
देखै ही थे विष चढ़ैं, खायें सूं मरि जाइ॥

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३५ सा० ३८८।

BERNARD SHAW ON TRAGEDY

S. R. JALOTE

Deptt. of English, B.H.U.

Bernard Shaw is credited with introducing a new conception of tragedy unknown to the previous generation. He disagrees with the old view of tragedy and comedy and opposes it with a new conception strikingly his own. This is the first challenge in theory to the old classifications of drama. Evidences in the history of English literature show that the English playwrights have been frequently mixing the tragic and the comic elements in their plays. Shaw himself has observed that "nothing will prevent the English playwright from mixing comedy and even tomfoolery, with tragedy. *Lear* may pass for pure tragedy; for even the Fool in *Lear* is tragic; but Shakespeare could not keep the porter out of *Macbeth* nor the clown out of *Antony and Cleopatra*. We are incorrigible in this respect, and may as well make a merit of it."[1] But Shaw's conception of tragedy is the first revolt in theory.

Though Shaw is a self-explanatory dramatist, his pronouncements about his attitude towards tragedy are very scanty and inadequate to enable the readers reach easily a certain conclusion. Shaw's view of tragedy is essentially un-Shakespearean and is influenced by his optimistic faith in the Life Force. Shaw's quarrel with Shakespeare about the fundamental view of life provides us a convenient starting point for a study of Shaw's view on tragedy. Shakespeare's fame chiefly rests on his tragedies, but Shaw's genius is essentially anti-tragic. Shaw is a worshipper in the temple of Creative Evolution and believes that Shakespeare's pessimistic philosophy is inadequate. Shaw has tremendous faith in the perfectibility of human species and the ultimate success of the Life Force. According to him this universe is not a purposeless chaos and we are not as "flies to wanton boys", but it is an evolving organism of

---

[1] G. B. Shaw: *Pen Portraits and Reviews* (London, 1932), p. 261.

discrete and purposeful phenomena. The Life Force strives to improve itself. It may have its setbacks, but Shaw always sees some greater purpose in the momentary bafflements and defeats of the Life Force. He holds, "God was not all-merciful since each error involved endless suffering and therefore there was no room for pity because the Life Force, Shaw's pet name for God, needed sacrifices in order to learn."[1] Thus Shaw believes in growth by the help of the Life Force. This teleological view of Bernard Shaw towards the organism of this universe is fundamentally opposed to the idea of tragedy.

Shaw gives a dramatic representation of the idea in his play *Simpleton of the Unexpected Isles*, where the worthless people simply disappear. In the preface to the play the author explains that the fable of the play is that "every day is a day of judgment; and its recognition as such is not the end of all things but the beginning of a real civilization."[2] The inquiry in such days of judgement is "whether you are a social asset or a social nuisance. And the penalty is liquidation."[3] At the end of the play the angel appears to announce the Day of Judgement. "The lives which have no use, no meaning, no purpose will fade out. You will have to justify your existence or perish. Only the elect shall survive."[4] "The Day of Judgement" says the angel, "is not the end of the world, but the end of its childhood and the beginning of its responsible maturity."[5] Thus Shaw sees the forces of life in death. He feels no pity and compassion as Shakespeare does for the tragic cries of the infant—"When we are born, we cry that we are come to this stage of fools." On the contrary Shaw asserts that "in the act of yelling he begins to breathe."[6]

---

[1] Stephen Winsten, *Jesting Apostle*: The Private Life of Bernard Shaw (New York, 1957), p. 64.

[2] Bernard Shaw: *The Complete Prefaces* (London, 1965), p. 642.

[3] *Ibid.*

[4] Bernard Shaw: *The Complete Plays* (London), p. 1241.

[5] *Ibid.*

[6] Bernard Shaw: *The Complete Prefaces*, "Back to Mathuselah", (London, 1965), p. 509.

With such a view of universe as an evolving organism, there can be no tragedy of heroes and villains for Bernard Shaw. According to Shaw tragedy as Shakespeare conceived is melodrama. In preface to *Plays Pleasant* he points out, "But the obvious conflicts of unmistakable good with unmistakable evil can only supply the crude drama of villain and hero, in which some absolute point of view is taken, and the dissentients are treated by the dramatist as enemies to be piously glorified or indignantly vilified. In such cheap wares I do not deal."[1] Even in *Mrs. Warren's Profession* Shaw allows Crofts to express his point of view. He says in the preface to *Plays Pleasant* that he has been "as sympathetic with Sir George Crofts as with any of the more genial and popular characters in the present volume."[2]

Thus Shaw's condemnation of Shakespearean tragedy is based on his own approach to life. Shaw holds that the elements which constitute Shakespearean tragedy are not realistic at all. The first thing in a Shakespearean tragedy which goes against Shaw's realistic test is the conflict between good and evil which figures so prominently in Shakespearean plays. Shaw believes that there is no conflict between good and evil in this world. He thinks that the really bad man is as much an impossibility as the really good man. The hardships of life are not due to malice or even to chance, but they are the greater realities of the Life Force and should not be treated as tragic themes. Thus Shaw's tragedy is essentially related to comedy by its greater realism. His admiration of Ibsen is based on this comic element which Ibsen adds to his tragedies. In the *Quintessence of Ibsenism* Shaw points out that the "new element" in Ibsen is a "tragedy that stripped the soul naked instead of bedizening it in heroic trappings."[3] Thus Shaw suggests that Ibsen began by deromanticizing tragedy, treating characters as real people instead of heroes or villains.

[1] Bernard Shaw: *The Complete Prefaces* (London, 1965), p. 729.

[2] *Ibid.*

[3] Bernard Shaw: *Major Critical Essays* (London, 1932), p. 133.

Shaw wrote two tragedies in which the undertones of comedy are strongly heard. He calls his play *St. Joan* "high tragedy" and says that he has saved it "from becoming a mere police court sensation."[1] But the play is not a tragedy in the ordinary sense of the term. It is a tragedy in Shaw's own characteristic way. There is no conflict of villain and heroine in the play, "There is no conflict in the piece. Crime, like disease, is not interesting : it is something to be done away with by general consent, and that is all about it."[2]

Hence Shaw has avoided the introduction of villains in *Saint Joan*. The Bishop and Inquisition are not represented as villains, but they are conscientious, honourable men representing the Church Millitant and Church Litigant. These mighty institutions tensely clash over the maid. Shaw says to his biographer, "What more do you want for a tragedy as great as that of Prometheus ? All the forces that bring about the catastrophe are on the grandest scale ; and the individual soul on which they press is of the most indomitable force and temper."[3] Shaw holds that a villain in a play is like the supernatural characters, like God or devil presented on the Greek stage lifted in a chariot by mechanical means.[4] Joan was not burnt by a set of murderers, but by a group of normally innocent people. "If Joan had not been burnt by normally innocent people in the energy of their righteousness her death at their hands would have no more significance than the Tokyo earthquake, which burnt a great many maidens. The tragedy of such murders is that they are not committed by murderers. They are judicial murders, pious murders ; and this contradiction at once brings an element of comedy into the tragedy : the angels may weep at the murder, but the gods laugh at the murderers."[5]

---

[1] Bernard Shaw : *The Complete Prefaces* (London, 1965), p. 63.

[2] *Ibid.*, pp. 630-1.

[3] A. Henderson : *George Bernard Shaw*—Man of the Century (New York, 1956), p. 603.

[4] Bernard Shaw : *The Complete Prefaces*, "St. Joan" (London, 1965), p. 631.

[5] *Ibid.*

In *The Doctor's Dilemma* Sir Colenso Ridgeon is not a villain and Shaw presents no conflict between hero and villain. The dilemma of Colenso Ridgeon is a complicated one. Partly he wants to marry Jennifer Dubedat ; in the event of her husband's death ; and partly he wants to save the wife from a worthless fellow. In the fourth act when Dubedat is to die Ridgeon explains that his principal consideration which determined him to cure Blenkinshop was that Jennifer might never suffer disillusionment. In the words of Ridgeon, "So long as he goes before his wife finds him out, I don't care, I fully expected this." Sir Patric replies, "It's a little hard on a lad to be killed because his wife has too high an opinion of him."[1] Again in the last act when Ridgeon meets Jennifer at the exhibition of Dubedat's pictures, he admits that he left her husband to die on purpose, and that his motive was a desire to marry her himself, and to shield her from the discovery that her husband was an unmitigated rascal.[2] A moment later Colenso Ridgeon comes to know that in obedience to her late husband's wish, she has married again, and the play ends with the last exclamation, "Then I have committed completely disinterested murder."[3] Thus Ridgeon's dilemma of making a choice between a good man and a good art is complicated by his having taken a fancy to the artist's wife. It is this dilemma which the playwright skilfully presents in the play, and not the villainy of a doctor who kills the husband with an intention to marry his wife.

But it is difficult to agree with Bernard Shaw at all the points. His contradiction and condemnation of all the components of the old form of tragedy cannot be accepted. The world is not only populated with normally innocent people, but there are so many people who constantly work against their conscience and can stoop to any extent for the fulfilment of their selfish notions. Secondly, sorrows and sufferings of

---

[1] Bernard Shaw: *The Complete Plays* (London), p. 536.

[2] *Ibid.*, pp. 544-5.

[3] *Ibid.*, p. 546.

the individuals may not move the heart of the playwright, but for others they make a universal appeal. The individual characters stand not for themselves but for universal feelings and emotions which are common to all ; and hence they make a universal appeal.

Another thing which does not stand to Shaw's test of realism is the supposed necessity for a fatal catastrophe in a tragedy. He is not at all influenced by the tradition of stage-deaths. Shaw threw over even Ibsen on this point, as Ibsen's plays retain this traditional element of Shakespearean tragedy. After Ibsen's death Shaw wrote a critical appreciation of his personality and his work, in which he said, "Ibsen seems to have succumbed without a struggle to the old notion that a play is not really a play unless it contains a murder, a suicide, or something else out of the Police Gazette."[1] Shaw is against what he calls the forced catastrophe. He refers to the case of *Wild Duck* and says that to him the girl's suicide in the play seems to be forced and incredible.[2] Shaw states that the tradition of catastrophe is "unsuitable to modern studies of life...... The moment the dramatist gives up accidents and catastrophes and takes 'slices of life' as his material, he finds himself committed to plays that have no endings."[3] In preface to *Three Plays for Puritans* he says, "But when your Shakespeare and Thackerays huddle up the matter at the end by killing somebody and covering your eyes with the undertaker's handkerchief, duly onioned with some pathetic phrase, as 'The flight of angels sing thee to thy rest.' or Adsum, or the like, I have no respect for them at all : such maudlin tricks may impose on teadrunkards, not on me."[4]

---

[1] G. Bernard Shaw : "Ibsen," *The Clarion*, June 1, 1906. Quoted from A. Henderson, *George Bernard Shaw :* Man of the Century (New York, 1956), p. 606.

[2] A. Henderson , *George Bernard Shaw* . Man of the Century (New York, 1956), p. 535.

[3] Bernard Shaw : *The Complete Prefaces, Three Plays by Brieux* (London, 1965), p. 200.

[4] Bernard Shaw : *The Complete Prefaces* (London, 1965), pp. 748-9.

Shaw wrote his play *The Doctor's Dilemma* in response to the challenge of William Archer to write a play about death. Shaw labels the play a 'tragedy', but the play falls short of its sub-title. Though Shaw has dramatized a death in the play yet as Henderson points out "the effect is not in the least Ibsenic : in spite of Dubedat's death on the stage, a couple of murders in *Caesar and Cleopatra,* no less than three corpses in *As Far As Thought Can Reach,* and two deaths as symbolic as that of Solness in *The Master Builder,* at the end of *Heart-break House,* the fatal catastrophe is as systematically excluded in Shaw's plays as it is exploited in Ibsen's."[1] Shaw has not met Archer's challenge in *The Doctor's Dilemma* by treating death soberly and seriously. Shaw's death do not touch people or move them to tears.

Shaw has also criticized Shakespeare for making sexual infatuation a tragic theme. Shakespeare has glorified love which is abhorrent to Bernard Shaw. According to him great heroes do not act in that foolish way. Such weaknesses of human nature may be treated in a comic spirit, but they should not be made to appeal to our sympathy. In preface to *Three Plays for Puritans* Shaw states, "Besides, I have a technical objection to making sexual infatuation a tragic theme Experience proves that it is only effective in the comic spirit. We can bear to see Mrs. Quickly pawning her plate for love of Falstaff, but not Antony running away from the battle of Actium for love of Cleopatra. Let realism have its demonstration, comedy its criticism, or even bawdry its horse-laugh at the expense of sexual infatuation, if it must ; but to ask us to subject our souls to its ruinous glamor, to worship it, deify it, and imply that it alone makes our life worth loving, is nothing but folly gone mad erotically—a thing compared to which Falstaff's unbeglamored drinking and drabbing is respectable and rightminded."[2]

---

[1] A. Henderson : *George Bernard Shaw*—Man of the Century (New York, 1956), p. 535.

[2] Bernard Shaw : *The Complete Prefaces* (London, 1965), p. 749.

Thus Shaw has represented his Napoleon and Caessar unlike the conventional heroes. Shaw believes that Napoleon succeeded not because of his soldierly talents, but because his view of life was not coloured by conventional standard of right and wrong; and that he was too clever to be betrayed by the feminine charm. Simlarly, unlike Shakespeare's Anatony, Shaw's Caesar is not a slave to any woman. At the moment of crisis Cleopatra's life is less important for him than that of the humblest soldier.

All these things bring home to us that Shaw has scoffed at all the devices of Classical and Romantic tragedy. He dissents from the usual opinion that tragedy is a higher dramatic form than comedy. He holds that tragedy is an outmoded form of drama, because it "remains unchanged from Eschylus to Richard Wagner."[1] Hence Shaw concludes that "Comedy has become the higher form. The element of accident in Tragedy has always been its weak spot; for though an accident may be sensational, nothing can make it interesting or save it from being irritating."[2]

Shaw's only play having a serious claim to tragedy is *St. Joan.* But the play presents another aspect of tragedy which is greater than the incineration of Joan. Shaw has stated death in his other plays as well, but they are tragedies neither in the conventional way nor in the Shavian way. Though Louis Dubedat's death is handled well by Shaw, yet it does not touch us deeply. The death of a worthless man does not make the play a tragedy, any more than does the play's construction in five acts. "The most tragic thing in the world is" comments Ridgeon just after the death of Dubedat, "a man of genius who is not also a man of honor."[3] According to Henderson, ""The tragedy of Dubedat is not his death buth is life."[4]

[1] G. B. Shaw: *Pen Portraits and Reviews* (London, 1932), p. 262.
[2] *Ibid.*, p. 263.
[3] Bernard Shaw: *The Complete Plays* (London), p. 540.
[4] A. Henderson: *Bernard Shaw:* Playboy and Prophet (New York, 1932), p. 617.

In certain respects *The Doctor's Dilemma* may be called a tragi-comedy. Shaw has given the definition of tragi-comedy in *Pen Portraits and Reviews*, as a form different from melo-drama; "It begins as tragedy with scraps of fun in it, like *Macbeth* and ends as comedy without mirth in it, the place of mirth being taken by a more or less bitter and critical irony- We do not call the result melodrama, because that term has come to mean drama in which crude emotions are helped to expression by musical accompaniment."[1] Though Shaw does not approve of Dubedat's behaviour, he is always on the side of artists and poets against the rest of the world. More-over we do not at all feel comfortable at the death of a bohemian artist. The play also contains an exposure of the medical profession. The doctor is interested not in the patient but in the disease. "B.B's" treatment has made the disease of Dubedat worse, and yet his words are, "An enormously inte-resting case." This is undoubtedly a great tragic irony which is followed by Dubedat's death. But the last act strikes the anti-climax of the play. Shaw has vindicated Ridgeon against the sin of Dubedat's death by explaining the absurd motive which impels the doctor to let the artist die his own death. Hence the play is a tragi-comedy, made tasteful by the splendid character drawing of the doctors.

Similarly *Heartbreak House* ends with two deaths on the stage; but the play cannot be called a tragedy. The death of Mangan and burglar at the end of the play suggests the existence of justice in the heavens. Mangan pretends to be a financial magnate and wants to marry Ellie. But his "millions are false." Henderson, however, finds another aspect of tragedy in the play and calls the play as Shaw's "first genuine tragedy—a tragedy on a large scale—the tragedy of England which is deep heartbreak for Shaw."[2] "In retrospect," ob-serves Henderson, "we see it as a prophecy of the World War,

[1] G. B. Shaw. *Pen Portraits and Reviews* (London, 1932), p. 261.
[2] A. Henderson: *George Bernard Shaw—Man of the Century* (New York, 1956), pp. 628-9.

the break up of the British Empire, the loss of India as colony, the smashup of the aristocracy, the rise of the Independent Labour Party, and the collossal, overawing power of communism and Soviet Russia and the awakening of China, the slumbering giant of the Far East."[1] But it is to be noted that a mere prophecy cannot make the play a tragedy. Ofcourse a play cannot be a tragedy unless there is some calamity or sad event in it. But it is the treatment which can give a play the real character of a tragedy. Moreover the prophecy of the play which Henderson has referred to is not a tragic theme for the playwright. For Shaw in an evolving cosmos to be static is to die. Shaw is a great opponent of Imperialism and aristocracy, because according to him they hamper the progress and growth of the Life force. Mankind is moving in a particular direction, and the forces which hamper its progress are unheroic. Hence a play prophecying the break up of Imperialism and aristocracy cannot form the tragic theme for Bernard Shaw.

The 'genuine tragedy' of Bernard Shaw is not *Heartbreak House*, but *St. Joan* is the only tragedy of Shaw, as already pointed out, in its own characteristic way. The play ends not with the death of Joan, but with an epilogue wherein she offers to return, but is rejected by all. Herein lies the genuine tragedy of the play. Her question, "How long, O Lord, how long ?" is not meant to emphasize her tragic suffering, but it reminds us that though humanity has progressed to protestantism, it has a long way to go before it will be ready to receive saintly spirits like Joan. Her memorable words are, "O God that madest this beautiful earth, when will it be ready to receive Thy saints ? How long, O Lord, how long ?" Her tragedy is that if she returned again the same fate would be ready for her. When Mahatma Gandhi was assasinated Shaw's comment to the press was, "This shows how dangerous it is to be too good."[2] Thus the tragedy presented by the

[1] *Ibid.*, p. 629.

[2] Edmund Fuller, *George Bernard Shaw*: A Critic of Western Morale (New York, 1950), p. 72.

play is that it is very difficult for the rare precursors of superman to get along with the society of common men and do their creative work without being crucified, poisoned, burned and imprisoned.

Shaw never intends to make the incineration of St. Joan a tragic theme. Apprehending this universe as an evolving cosmos, tragedy of an individual is obsolete for Bernard Shaw. "This is the true joy of life", Shaw points out in his preface to *Man and Superman*, "the being used for a purpose recognized by yourself as a mighty one ; the being thoroughly worn out before you are thrown on the scrap heap ; the being a force of Nature instead of a feverish selfish little clod of ailments and grievances complaining that the world will not devote itself to making you happy. And also the only real tragedy in life is the being used by personally minded men for purposes which you recognize to be base." The dramatic theme of *St. Joan* is undoubtedly tragic but its treatment is Shavian in as much as the play is enveloped in an atmosphere of wit and humour and the conflict is reduced to the minimum. There are undertones of comic spirit in the play without which the play as Shavian drama would be incomplete.

Thus Shaw has gone beyond the limited view of a tragic dramatist. If his tragedy is put to the test of traditional standards, it will certainly be a *sui generis* and not a tragedy. What are tragedies to other people, often are not tragedies to Shaw. His tragedy is only a Shavianized tragedy. Henderson has pointed out, "In death the author of *Back to Mathuselah* sees an evolutionary device to make room joyfully for something better."[1] "Like flies to wanton boys are we to the Gods," says Shakespeare's character, "they kill us for their sport." Like pawns in the great game of life are we to God, says Shaw : He uses us for His own great purposes.[2]

---

[1] A. Henderson : *George Bernard Shaw*—Man of the Century (New York, 1956), p. 608.

[2] A. Henderson : *Bernard Shaw*—Playboy and Prophet (New York, 1932), p. 528.

Bernard Shaw is nothing if not a revolutionary. He has his own distinct approach to the tragic views. According to him the genuine tragedy occurs when a superman, who is the prime agent of the Life Force, is involved in the conflicts with the social institutions which ultimately press him down and to a large extent subjugate him. What occurs to him is concerned with the forces shaping the destiny of mankind. "God helps those who help themselves."[1] If mankind wants to save itself it must facilitate the course of the Life Force. "The power that produced Man when the monkey was not up to the mark, can produce a higher creature than Man if Man does not come up to the mark. What it means is that if Man is to be saved, Man must save himself. There seems no compelling reason why he should be saved. He is by no means an ideal creature. At his present best many of his ways are so unpleasant that they are unmentionable in polite society, and so painful that he is compelled to pretend that pain is often a good. Nature holds no brief for the human experiment: it must stand or fall by its results. If Man will not serve, Nature will try another experiment."[2]

---

[1] Bernard Shaw: *The Complete Prefaces* "Back to Mathuselah" (Lonon 1965), p. 506.

[2] *Ibid.*

THE POSITION OF THE ŚŪDRAS AS DESCRIBED BY THE EARLY MUSLIM WRITERS

M. P. SINGH,

Lecture in History, Kashi Vidyapeeth.

According to the Varṇāśrama system the fourth group of society consisted of the Śūdras. We have some information about the status of the Śūdras during the early medieval period from the accounts of some Muslim writers. Among them Al-Bīrūnī is the only writer who mentions about the origin of this section of the Hindu social organization. While placing the Śūdras fourth in the category of the traditional four varṇas, Al-Bīrūnī writes that they were created from the feet of Brahma.[1] The Chinese pilgrim Yuan Chwang also mentions Śūdras as the fourth in order of the Hereditary class distinctions.[2] Al-Bīrūnī statement regarding the origin of the Śūdras is the same as depicted in the Hindu works.[3] But there are few other Muslim writers who do not speak about the four Varṇas and put the Śūdras in the fourth place among the seven castes (*ajnās*) or classes (*gūrūh*) of the Hindus. Ibn Khurdadbeh says that 'there are seven classes of the Hindus......4th Śūdariā who are by profession husbandmen.'[4] According to Al-Idrīsī, the Shārdūya (Śūdras) were peasants and agriculturists.[5] Gardīzī and Marvāzī also put...them in the fourth place out of seven in the social order and add that the Kṣhatriyas marry the Śūdra women and also give their women in marriage to the Śūdras, but the Brāhmaṇas did not enter into matrimonial connections with

---

[1] Al-Bīrūnī (tr. Sachau) I, pp. 100-101.

[2] Watters, I. p. 168.

[3] Ṛgveda, X. 90. 1-2, 12. Śānti Parva, 122. 4-5, Manu, I. 87, Vāyū Purāṇa, IX· 113, Viṣṇu-Purāṇa, I, 6, 6.

[4] Elliot, I, p. 16.

[5] Al-Idrīsī (Tr. Maqbul Ahmad) p. 36.

them.[1] It is now clear that being the fourth in order, their main profession was agriculture. But Al-Bīrūnī does not confirm this and remarks that 'every man who takes to some occupation which is not allowed to his caste, e.g. a Brāhman to trade, a Śūdra to agriculture, commits a sin or a crime which they consider only a little less than the crime of theft.'[2] Undoubtedly, Al-Bīrūnī speaks about the rules and regulations of the Varṇadharma for the four varṇas in normal times, in which agriculture, cattle-rearing, and trade were allowed only to Vaiśya and a Śūdra should devote his time in the service of the upper three varṇas for his livelihood.[3] It seems that Al-Bīrūnī reproduces the views of ancient authorities and does not write about the changing conditions in which the Śūdras improved their position in society as for as their occupation was concerned. We are informed by Yuan Chwang that the Śūdras or agriculturists laboured at cultivating the soil and were industrious at sowing and reaping.[4] Some of the authorities allow the Śūdras to follow the profession of the Vaiśyas. They could employ themselves in various crafts if they were unable to maintain themselves by serving Dvijas.[5] It may be argued that a large number of the Śūdras were still poor and were engaged in menial

---

[1] Gardīzī (tr. Minorsky): B.S.O.A.S. XII p. 626.

Marvāzī (tr. Minorsky) p. 39. Ellict and Jaubert have 'Labourers' Elliot, I, p. 76. According to Nainār, Ibn Khurdadbeh mentions that they are cultivators and Idrisī says that they are farmers and Cultivators: Arab Geographers Knowledge of South India, p. 131 and footnotes No. 89-90. Gardīzī writes that the Sūdhriyān (Śūdras) are agriculturists and gardeners (*pālīzbān*), p. 626. Marvāzī says that the Shudriya are agriculturists and husbandmen.—Marwā zī, p. 39.

[2] Al-Bīrunī, II., p. 137.

[3] Manu, X 121, Gautama, X. 57, Parāsara, I. 69, Mitāksharā on Yāj. I, 120. Lakshmidhara specially mentions that even in the time of distress the lower Varṇas should not take up the occupation of the upper varṇas. KṛtyaKalpataru: Gṛhasthyakāṇḍa , p (tx) 258. cf. Samarāngaṇa Sūtradhāra, 7. 15-16.

[4] Watters, I. p. 168.

[5] Śānti Parva, 294· 4, Deval in Mit. on Yāj; I. 120 Yaj I. 120, Nārada (ṛṇadāna, 58).

duties, but the richer section of their community made their economic standard high by adopting agriculture and other crafts of the vaiśyas. According to Śañkha, the Śūdras can be proficient in industrial arts.[1] Bṛhaspati allows them to adopt any *śilpa* and sell all commodities of their livings.[2] Vṛdha Hārīta recommends them only agriculture.[3] Medhāththis permits a Śūdra to live without serving higher varṇas if economically sound.[4] This shows that Śūdras could adopt the avocation of the Vaiśyas. The adoption of agriculture by them became a general profession of theirs and they proved themselves to be the 'real vaisyas' of the early medieval period.[5] Agriculture and cattle-rearing became their monopoly and thus they raised their economic status and were able to command some respect from the Hindu authorities.[6] In this connection, the account of the Chachanāmah can be mentioned. It says that when Kāsim occupied Sindh in 711 A.D., he being a Muslim gave protection to the people of the city of Alor who were chiefly workmen and good builders. Some of them were merchants and cultivators. They were olso given protection and were not heavily taxed.[7] This practice of protection to craftsmen, merchants and agriculturists, as a general rule, was also prevalent in Hindu states.

The accounts of Gardīzi and Marvāzi regarding matrimonial relations within the Kshatriyas and the Śūdras should be examined. This relationship shows the prevalance of the Anuloma and Pratiloma types of marriages between the two castes, though the savarṇa marriages were generlly favoured.

---

[1] Śañkha I, 5.

[2] Bṛhaspati, V. 530, p. 304-(GOS)

[3] Hārīta. 7. 189. cf. Parāśara, I. 86, Laghu Aśvalāyana 22. 25

[4] On Manu, III. 156, VIII 415. Dr. U. N. Ghoshal denies these privileges and status of the Śūdras during the period 1000-1300 A.D.—R. C. Majumdar (Ed.) : struggle for Empire, p. 475.

[5] Sharma : Early Chauhān Dynasties, p. 247.

[6] Ibid.

[7] Chachnāmah, (tr. Beg) p. 180 cf. Elliot, I. pp. 181, 190, 196.

We have instances of Anuloma marriages which were allowed and occasionally followed.[1] But Pratiloma marriages were vehemently condemned and opposed[2] and were very rare and so they do not find literary mention. This is confirmed by Al-Bīrūnī who clearly writes that no body was allowed to marry a woman of caste superior to his own.[3] Yuan Chuwang also confirms that the members of a caste married within the caste.[4] Even the Kshatriyas could not marry the daughters of the Brāhmaṇas as noticed by Ibn Khurdadbeh.[5] Then the question of a Śūdra marrying a daughter of a Kshatriya can not arise. Now the statements of Gardīzī and Marvāzī can be taken as a possibility of Pratiloma relationship and not a general practice but an exception. In this connection an alternative explanation can also be offered that probably some of the Śūdras adopted the profession of the Kshatriyas and so their social status was raised. They came into close contact with the Kshatriyas, and maintained matrimonial relationships with them. We have references of Śūdra rulers and solidiers in literature and inscriptions. The Purāṇas forecast that the rulers from the times of the Nandas onwards would be Śūdras.[6] Medhātithi also holds that the man who is performing the duties of a king could be regarded as a king.[7] Śukra is also of the opinion that neither birth nor ancestry is the criterion of making a man a king, but his prowess, strength and valour are responsible for his kingship.[8] Thus, there were no restrictions for the Śūdras to be kings and by adopting the profession of fighting and war they could become kings. We are informed by Yuan Chwang that the rulers of Sindh and Matipura were

---

[1] Baudhāyana Dh. S. II. 2, 3, 30, Gautama, IV. 1, Vaśiṣtha Dh. S. I, 24, Manu, III. 12-13, Yāj, I. 55 and 57.

[2] Gautama 12, 3.

[3] Al-Bīrūnī, II. pp. 155-6

[4] Watters, I. p. 168

[5] Elliot, I. p. 16 etc.

[6] Viṣṇu Purāṇa, IV. 24.

[7] On Manu, IV. 84.

[8] Śukra, I. 81.

Śūdras.[1] According to mañju-Srī-Mūlakalpa the Pālas were of Sūdra extraction.[2] The Bijolia inscription[3] States that Sajjana whom Vigraharāja IV, the Chāhamāna ruler 'despatched to the abode of Yama', was the pot-maker (Śūdra) and was made the governor of Chitor, in view of his past services, by Kumārapāla Chalukya.[4] The Tippera Grants of Lokanātha mention him as king. He was probably a Śūdra.[5] This shows that some times a Śūdra could rise to a very high position in the service of the state and when commissioned they faught as soldiers,[6] though they were forbidden to assume the role of the Kshtriyas. Under these considerations the Śūdras improved their status politically and economically and so they were able to maintain mantrimonial relations with the Kshtriyas. It was politically and socially necessary for them that they should associate themselves with the ruling and fighting classes

---

[1] Watters, I. p. 322, II. p. 252.

[2] Jayaswal : Imperial History of India, p. 72 V. A. Smith holds that some of the Rajput ruling families were of Śūdra origin—Early History of India, pp. 340, 422-31.

[3] EI. XXVI. p. 105, verse 20 cf. Sharma: Early Chauhāna Dynastics, pp. 57, 248.

[4] Kumārapāla deva charita of Jayasimha Sūrī, p. 165, cf. EI. XXVI. p. 105, Sharma: Early Chauhāna Dynasties, pp. 57, 248, Bhartiya Vidya (English) 1943, pp. 221 ff.

[5] EI. XV pp. 301-15. In South India too, the Śūdras occupied a better status in the state and administration during the early medieval period : cf. Ganguly, The Eastern Chālukyas, p. 170.

[6] Ibid. III. p. 16 f., VI, p. 269, XI, p. 319, XXII, pp. 143 ff. etc. In the beginning of the early medieval period most of the fighting classes of foreign origins were assimilated into Hindu society. Though they were given place in the Kshatriya Varṇa according to their profession but probabily could not be recognised by the higher classes of the Hindus and so they were forced to establish matrimonial relations with the Śūdras on account of their low status in the Hindu Society. The improved status of the Śūdras was further elevated by the reformist movements like Jainism and Śaivism, which welcomed them with open arms and did not, after their conversion, regard them as inferior even to Brāhmaṇas" (Sharma : Rajasthan Through the Ages, p. 435.) Thus it enabled both the castes to come closer and establish matrimonial connections.

of their times by which they could be recognized by higher varṇas.

Despite their better position in comparison with the earlier periods we may note some of the disalibities of the Śūdras mentioned by Al-Bīrūnī. He writes, "The Śūdras is like a servant of the Brahman, taking care of his affairs, and serving him. If though being poor in the extreme he still desires not to be without a Yajnopavīta, he girds himself only with the linen one. Every action which is considered as the privilege of a Brāhman such as saying prayers, the recitation of the Veda and offering sacrifices to the fire, is forbidden to him to such a degree that when, e.g. a Śūdra or a Vaiśya is proved to have recited the Veda, he is accused by the Brāhmans before the ruler and the latter will order his tongue to be cut off. However, the meditation on God, works of piety and alms giving are not forbidden to him.[1] Though Al-Bīrūnī writes on the basis of Hindu authorities, however, from the above description it is evident that the Śūdras had been subjected to many disabilities. As Al-Bīrūnī says that they were the servants of the Brāhmaṇas. According to Manu the service of the Brāhmaṇas alone is declared (to be) an excellent occupation for the Śūdras for whatever else besides this he may perform will bear him no fruit.[2] Though Manu declares that the Śūdras is a servant of the Brāhmaṇas, yet almost all the ancient authorities point out that the special duty of the Śūdras was to render service to the Dvijas.[3] He must prefer Brāhmaṇa first, and then Kshatriya and then Vaisya to obtain his livelihood, "and serving a Brāhmaṇa conferred greater happiness or benefit on the Śūdra than serving a Kṣhtriya and serving a Kshṭriya conferred greater good than serving a Vaiśya".[4]

---

[1] Al-Bīrūnī II. p. 136.

[2] Manu, X. 123., vide, X 121-122.

[3] Āp. Dh.S. I. 1.1. 7-8, Gautam X. 57-59.
Sānti Parva 60. 28, Vas. Dh. S. II. 20, Manu X 121-123. Yāj. I. 120, Baudh. Dh. S. I. 10-5.

[4] Kane, HDS II. I. 120

They were unfit for the saṁskāra of Upanayana and if they desired they could gird themselves with linen one. In the Dharmaśāstras, there are few saṁskāras which are prescribed to the Śūdras and can be performed but without Vedic mantras.[1] There is no mention of Upanayana for him and the Veda speaks of the Upanayana only for the Three upper classes, because "The Creator created the Brāhmaṇa with Gāyatri (metre), the Rājanya with Triṣṭubh the Vaiśya with Jagatī, but he did not create the Śūdra with any metre, therefore the Śūdra is known to be unfit for the saṁskāra (of Upanayana)."[2]

It is clear from the above that the Śūdras could not gird himself with Yajnopavīta. Therefore, either Al-Bīrūnī's statement is wrong or in his time they could gird themselves with Yajnopavīta (of linen one). It seems at that time most probably, they could do it, because many things could be done above the rules of the Dharmaśāstras.

All-Bīrūnī's information regarding the study of the Veda by the Śūdras is confirmed by the Dharma-śāstras, which are generally in favour of Vedic studies only for three upper classes[3] because they were entittled to the Upanayana saṁskāra, and the study of the Veda follows after Upanayana. On this point Gautama goes so far as to prescribe, "if the Śūdra intentionally listens for committing to memory the Veda then his ears should be filled with (molten) lead and lac ; if he utters the Veda then his tongue may be cut off ; if he has mastered the Veda his body should be hacked."[4] Not only a Śūdra could study the Veda but Vedic study was not to be carried on in his presence.[5] Thus, we can conclude that the Śūdra could not study the Veda, because they were unfit for the Upanayana

[1] Vedavyāsa I. 17, Haradatta on Gautama X. 51, and Manu II. 32, IV. 80. cf. Kane, H D S. II. I. p. 159.

[2] Kane, H D S. II. I. p. 154.

[3] Jaimini, VI. 1. 33. cf. Vaś. Dh. S. IV. 3, Manu, II. 16 Aparārka, p. 23.

[4] Gautama, 12. 4. cf. Attrisaṁhita 19. 136 ; Mṛcchakaṭika, 9. 21.

[5] Vaś. 18. 13., Gautama, 16. 18-19 ; Āp. Dh. S. I. 3. 9. 9., Yāj. I. 184. Ādi Parva 68. 20.

saṁskāra and without undergoing this ceremony they could not be intiated into Vedic studies.

According to Al-Bīrūnī the Śūdras were denied the privileges of the Brāhmaṇas concerning prayers, recitation of the Veda and offering sacrifices to the fire, but meditation on God, works of piety and alms giving were not forbidden to them. Undoubtedly the Śūdras were denied the privileges of the Brāhmaṇas. They were not allowed to consecrate sacred fire and to perform the solemn Vedic Sacrifices.[1] Though they could not read the Veda, engage themselves in Japa and Tapa or perform homa.[2] Yet they were entitled to perform *Pañcamahāyajnas* (without Vedic *mantras*.[3] They could also perform *Putradharma*, i.e., "The building of wells, tanks, temples, parks and distribution of food as works of charity and gifts on such occasions as ecliplses and the Sun's passage from one zodiacal sign into another and on the 12th and other tithi's.[4] Medhātithi and Viśvarūpa are of opinion that all the rites which are allowed to all the Varṇas can be performed by them but without Vedic *mantrās*.[5] They were to think of the devatas and 'utter loudly the word '*namaḥ*' which was to be the only *mantra* in their case.[6]

Al-Bīrūnī also informs us though eating meat and drinking wine would not forbidden to the Śūdras, yet they could not dare to deal in these commodities.[7] Caṇḍeśvara in the Gṛhastharatnakara quotes Kālikā Purāṇa where it is not allowed for the Śūdras to deal in honey, skins, lac, wines and flesh.[8]

---

[1] Tait. Samhita, VIII. 1.1.6 ; Jaimini, I. 3. 25-38

[2] Atri Samhitā, 19, Smṛtināma Sammuchchaya, p. 9, Vaś. 4. 3, 18. 11, Skanda Purāṇa, Chap. 242. v. 41, cf. Uttara Rāma Charita, II. v. 8.

[3] Laghu Viṣṇu, V. I, Vyāsa, I. 6. Sukra Nitisāra, IV. 369.

[4] Kane, H D S, II. I. 157 and fn. No 370.

[5] On Manu, III 67, 121, 156, 127 ;

[6] Kane, HDS II. I. 158, fn. 371.

[7] Al-Bīrūnī II p. 155 on Yāj I, B.

[8] Gṛhastharatnākara, p. 479.

Bṛihata Parāśara also forbids them in selling wines and flesh.[1] Thus, it is clear that they were not allowed to sell wines and meat in the early medieval period.

At another place Al-Bīrūnī writes, "if a Brāhmaṇa eats in a house of Śūdra for sundry days, he is expelled from his caste and can never regain it."[2] Undoubtedly by the authorities were against the rules of taking food from the Śūdras in normal times. According to them the Brāhmaṇas should not take food from Śūdras.[3] Manu does not permit in general the food of a Śūdra to a Brāhmaṇa and holds that a learned Brāhmaṇa should not take cooked food from a Śūdra.[6] Bhaṭṭa Bhavadeva prescribes a Krichchhara penance for a Brāhmaṇa for taking food cooked by a Śūdra.[4] This shows that during the early medieval period inter-caste dining specially with the Śūdras had become most unusal and rules about taking food from the Śūdras became rigid and strict.

Al-Bīrūnī's information regarding the position, status and occupation of the Śūdras are confirmed by the Dharmaśāstra provisions and even then they do not portrait the actual picture of the time. They are more bookish and are not based on actual observations. Though the disabilities suffered by the Śūdras in general during the long history of India can be taken in support of Al-Bīrūnī's remark, yet their position in the early medieval period was far better than the ancient times. The muslim writers do not mention them as untouchables and they were living separately and were in close touch with the upper classes. Some of them raised their status and according to Al-Bīrūnī they were treated as the Vaiśyas and there was no great distance between them.[5] In the later Smṛtis pious

---

1 Parāśara, P. 101. Lakṣmīdhara quotes Vyāsa and recommends that a śūdra can sell meat and need not perform samskāra like upanayana and Agnihotra rites.—Gṛhasthakāṇḍa, pp. 271-272.

2 Al-Bīruīnī, I, p. 102.

3 Gautama, XVII. 6; Manu, II. 235; Yāj, I. 166; Parāśara, IX. 19.

4 B. P. Mazumdar: Socio-Economic History of Northern India, p. 107.

5 Al-Bīrūnī, I. p. 101.

Śūdras were distinquished from a ordinary one and they had privilege of performing srāddha.[1] Lakṣmīdhara quotes Hārīta and holds that pure minded Śūdras are better than bad and natorious Dvijas.[2] Up to this time they became free from some of the disabilities. They could not be made slave and dependent on the Brāhmaṇas, but they could perform the duties of teachers in grammar and other sciences. They could perform some rites without Vedic *mantrās*.[3] According to Lakṣmīdhara a Brāhmaṇa could take meals from cow-herds, peasants, barbers and potters. He also approves the rules of Yajñavalkya, Devala and Añgira in this connection.[4]

———

[1] Laghu Viṣṇu, V. 10.
[2] Gṛhasthakāṇḍa, p. 427.
[3] Medhātithi on Manu, III. 67, 121, 156, X. 127 ; Viśvarūpa on Yāj. I. 13.
[4] Niyatakālakāṇḍa, pp. 262-263.

THEORETICAL BACKGROUND OF PLATO'S REPUBLIC*

Dr. ANITHOTTAM THOMAS,
Department of Political Science, B.H.U.

The Problem of the Republic

Among the Dialogues of Plato, the Republic is undoubtedly the most outstanding work. The central question discussed and resolved in the Republic is—to put it briefly—what is absolute Justice? Perhaps the theme and thesis of the Republic is better expressed in its alternate title—'A. Treatise Concerning Justice.'

The first Book of the Republic starts with a preliminary discussion of the natue of justice and ends with a critical exposure of the superficial nature of the popular notions and current theories of justice. The second Book of the Republic opens with a direct statement of the essential issue to be solved. In fact, the fundamental question to be discussed and resolved is placed before Socrates (Platonic Socrates) in a very challenging form, which is as follows[1] :

> "All you who profess to sing the praises of right conduct, from the ancient heroes whose legends have survived down to the men of the present day, have never denounced injustice or praised justice apart from the reputation, honours and rewards they bring; but what effect either has upon its professor when it dwells in his soul, no poet or ordinary man has ever yet explained. No one has proved that a soul can harbour no worse evil than injustice, no greater good than justice.... So I want you in commending justice to consider how justice in itself benefits a man who has it in him, and how injustice harms him, leaving rewards and reputations out of account.... You must not be

* This paper is the introductory chapter of the author's thesis entitled 'Theoretical Genesis of Plato's Justice' approved for the Ph. D. degree of the Banaras Hindu University.

1 Plato : Republic, 365-367 (Translation, cornford)

> merely content to prove that justice is superior to injustice, but explain how the one is good, the other is evil, in virtue of the intrinsic effect each has on its possessor, whether gods or men see it or not."

What Socrates is challenged to demonstrate is that Justice—in the sense of a just life in accordance with an absolutely right principle of life—is in itself the highest and absolute good of man, irrespective of its relative value and possible rewards, whether on earth or in heaven. Once it is proved that a life of Justice, i.e. a righteous life, in itselt is the highest and absolute good of the soul, then it follows that injustic is the worst of all evils of the soul, and that a man who deviates from Justice for anything else on earth or heaven is only a loser thereby. After all, those who commit injustice are doing so only for the sake of self-interest and with a view to greater profit; but if Justice is the highest self-interest, then it is really unprofitable to be unjust even for a moment. Hence the challenge to Socrates to demonstrate that "a soul can harbour no worse evil than injustice, no greater good than justice."

Perhaps for a clearer understanding of the essential implications of the problem thus posed before Socrates, it may be useful to simplify and restate the challenge to Socrates in other words as follows:

> My dear Socrates, you are no doubt a great champion of justice and you, like many others, exhort people to live a 'just and righteous life.' When people like you say that man should always lead a just life, you certainly mean that there is an absolutely right law or principle of life, which every man ought to follow in his life. But you know that all living beings are instinctively devoted to their self-interest, and all those who commit injustice are doing so only for the sake of their self-interest and greater profit. It is certain that nobody really wants to do harm to his own self: What every one strives for is to do and obtain what is really good

for his own self. Now, Socrates, you can very well understand that when there is a clash between the so-called law of justice and what a man thinks to be really good for his self, he would naturally tend to violate justice and follow his real good as he feels it. And in pursuing one's own self-interest, one has the support of not only his instinct but also his reasoning. For is it not self-evident that if there is any absolute right or duty in human life, it is the absolute right and duty of man to follow whole-heartedly the absolute good and innate ideal of his own self ? Hence it is obvious that a man ought to adhere to, and would actually live, a just life only if such a just life, in itself, is the highest and absolute good of the self. This is the real problem, Socrates ; and if you can demonstrate that a life of Justice—a righteous life—in itself (apart from its relative value and external or future rewards) is the highest and absolute good of the soul, then it stands proved that a man ought to act according to Justice under all circumstances, and that he who commits injustice for the sake of anything else on earth or in heaven is a great loser thereby. Indeed, such a demonstration of the subject would establish once for all that "a soul can harbour no greater evil than injustice, no greater good than justice." So be pleased, Socrates, to show the form and nature of Justice as it exists and operates in the soul of a just man, and also prove that such a righteous form of self in itself is indeed self-perfection, the highest and absolute good, beyond which there is nothing higher for man to aspire for or drive at. It is such a treatment of the problem that we expect from you "who have spent your life in the investigation of this problem" and certainly it would be unworthy of you to praise and recommend Justice for its relative value as a means to get any external rewards on earth or in heaven.

In simple words, this is the essence of the challenge to Socrates, and the essential problem of the Republic. In fact, the form of the question itself reveals the nature of the answer that can solve the issue. It is very clear that if wealth or office or anything external to man is the highest good of the self, then it cannot be proved that a just character or righteous and moral form of the self, in itself, is the absolute good of man. Justice in itself, as it exists in the soul of a just man, is essentially one of psychical form and moral character. That is, the righteous form of the self, whatever may be its precise principle, is a form of the soul, a spiritual or psychical form with a governing moral ideal. Now it is obvious that Socrates could show that Justice, in itself, is the highest and absolute good of the self only if the nature or form of the absolute good of the soul itself is essentially one of spiritual form and moral order.

Now, the question whether Justice in itself is the absolute good of the soul turns out to be essentially a question whether the highest goal and the absolute good of the soul is spiritual and moral perfection. Hence it can be confidently anticipated that the essential core of the thesis of Socrates in answer to the problem posed before him would be that the form of the absolute good of the soul is one of moral order and spiritual perfection. This is the logic implicit in the question itself that determines the logical development of the Socratic dialogue on absolute Justice towards the famous doctrine of the Republic on the absolute "Form of the Good". But to understand clearly and appreciate fully the central thesis of the Republic and the scheme of its unfolding, it is necessary to have insight into the historical background and genesis of this issue.

II

The Republic and its Problem in the Historical Context of Greek Thought

The problem of the Republic was not a mere academic problem posed by Plato. On the other hand, it was the most

lively political and moral issue before Greece in the age of Plato. The famous issue of 'Nature versus Convention' that stormed the 'School of Hellas'—that is, Athens—was essentially the question, what is the absolutely right and just law of life in accordance with the universal law of Nature as distinct from the changing notions of right and justice relative to the man-made laws and conventions of different states.[1] The question raised in the Republic too is essentially the same: what is absolute Justice, the universally true and right law of life and conduct, both in private and public life?

That the problem of the Republic was the most burning issue of the age does not however in itself explain the sweeping approach and comprehensive scheme of the Dialogue. In order to show the nature of absolute Justice, the author of the Republic finds himself obliged to expound a new theory of knowledge and a corresponding scheme of education, by means of which one may attain the vision of the absolute form of Justice. Nothing fundamental to the question at issue is taken for granted in the Republic. Not only the social sciences relevant to the issue—such as ethics and politics, psychology and philosophy—are dealt with but also the primary problem of all human knowledge, namely, how man could attain true knowledge, is discussed and resolved. In fact, it is upon his original theory of knowledge that Plato builds up his equally original theory of Reality and Justice. Such a revolutionary reconstruction of thought at such an avanced stage of Greek thought obviously suggests an historic crisis in the intellectual heritage of Greece during the age of Plato. Indeed, there was such a crisis—the famous moral and intellectual crisis of the sophistic age of Greece.

The intellectual and moral crisis in Greek thought was originally set in motion by Protagoras, the leading Sophist, with the exposition of his theory of knowledge. The central thesis demonstrated by the Protagorean theory of knowledge was

[1] G. H. Sabine: A History of Political Theory, pp. 38-39; E. Barker: Greek Political Theory, p. 62; J. Burnet: Greek Philosophy, p. 106.

that neither by means of perception nor by means of the so-called rational thought, nor yet by means of both together, can man obtain the knowledge of the absolute nature of the external world or of any absolute universal principle of morality and justice. And since man has no other valid source of knowledge apart from perception and conceptual thought, it is ever impossible for man to have an absolutely valid metaphysics or ethics or political ideology. Thus, the Protagorean theory of knowledge destroyed, at one stroke, the very basis of Greek thought and culture; both the rational and empirical methods of Greek thought were condemned as incompetent to furnish an absolute sciene of the physical or moral world; and the traditional religious basis of morals and laws were dismissed as mere fictions, because of the simple reason that neither had man ever known, nor could man ever know, anything about the co-called Gods or their supposed divine laws. Philosophy and religion, ethics and political ideology, pointed out Protagoras, belonged not to the realm of cognition and knowledge but to the realm of emotion and faith. And correspondingly, argued Protagoras, these fields were to be governed not by reason and logic but by feeling and rhetoric. No wonder then, that the Sophists specialised in rhetoric and taught it to the political leaders who sought to convert people to their own political ideology and party.

The sweeping nature of the intellectual and moral crisis created by the Protagorean theory of knowledge is very obvious; and it is equally obvious that only a counter theory of knowledge, demonstrating the possibility of the knowledge of absolute Reality and Justice (value) could resolve this crisis. Viewed from this historical perceptive, the Republic of Plato with its challenging problem and sweeping scheme—and especially with its remarkable theory of knowledge and the corresponding scheme of higher education prescribed for the budding philosopher-kings to attain the knowledge or rather the direct vision of absolute Reality and Justice—assumes a unique historical character. And certainly such an historical

work as the Republic could be properly understood and adequately appreciated only if one has a clear picture of its context and genesis in the general historical evolution of Greek thought. Hence arises the immediate need of a synoptical view of the general evolution of Greek thought preceding the Republic.

III

A Synoptical View of the General Evolution of Greek Thought[1]
(From Thales to the Minor Socratic Schools)

It was one of the basic dogmas of ancient mythologies that the universe was the creation of God ; but curiously enough, the Greek mythology was an exception to this rule. As an authority on Greek religion puts it : "The Gods of most nations claim to have created the world. The Olympions make no such claim. The most they ever did was to conquer it."[2] This basic theological defect of their mythology proved a great blessing to their philosophical thought. For there existed no Vedas or Bible to restrain or hamper free inquiry and speculation about the origin and nature of the universe. Indeed the Greeks directly posed at the very outset of their intellectual awakening the fundamental metaphysical question : "what is the original ground of things which outlasts all temporal change,

---

[1] "Evidence on the lives of the early Greek philosophers is scanty and inconclusive. Even their life dates, in most cases, are not exactly known. The dates cited below will place the chief philosphers mentioned in approximately the right chronological order. Where no dates of birth and death are given, "fl." indicates the time when the philosopher was active. All dates are, of course, B. C.

Thales—about 624 to 546. Anaximander—about 610-546.

Anaximenes—about 585 to 528. Pythagoras—about 571 to 497. Xenophanes—fl. 540. Heraclitus—fl. 504. Parmenides—fl. 501 to 492. Zeno of Elea—fl. 464. Anaxagoras—about 500 to 428. Empedocles about 484 to 424. Democritus—about 460 to 371. Gorgias—fl. 444. Protagoras—about 483 to 414." 'Early Greek Philoso hy' by A. P. Cavendish in' A Critical History of Western Philosophy', p. 1. (Ed. D.J.O. 'Conner, New York 1964).

[2] Gilbert Murray : Five Stages of Greek Religion, p. 67.

and how does it change itself into these particular things, or change these things back into itself."[1]

Obvious it is that at the very root of this metaphysical question is the presumption that this world of various and ever-changing things evolved out of a primordial and immortal substance which alone is the efficient and material cause of this cosmic phenomena. It was this cosmic metaphysical substance that the early Greek philosophers termed 'Nature'. And when they spoke of science of 'Nature', they meant thereby only metaphysics. In this regard, it is remarkable that the metaphysical works of the first batch of Greek philosophers bore the title 'On Nature'.[2]

Milesian School : Hylozoism

Thales was the father of Greek philosophy and the founder of the Milesian School. The study of the science of 'Nature' was formally inaugurated in Greece by Thales, with the publication of his work entitled 'On Nature', in which he propounds the thesis that water is the primordial cosmic substance—the eternal creative source and end of all things in the world. Indeed the Milesian school speculated on the nature of the primordial essence of phenomena with all innocence and even with unphilosophical simplicity. Directly they traced the 'world-stuff' to one or other of the common elements, such as air or water.[3] Of course, this original stuff was not conceived as a simple inert stuff ; if it were no conceived, it would have

---

[1] W. Windelband : History of Philosophy, p. 27. (1901. Second Ed.)

[2] Thales, Heraclietus, Anaximander, Parmenides, Zeno, Anaxagors, Gorgias—the philosophical works of all these thinkers bore the title 'On Nature.' See J. Burnet : Greek Philosophy, p. 120 ; Hirschberger : the History of Philosophy, p. 22 ; A. Weber : History of Philosophy, p. 18.

[3] J. Burnet : Greek Philoosophy, pp. 17-25. Thales, Anaximander and Anaximenes are the three philosophers of the Milesian School, which flourshed in the 6th century B. C. Thales whom Aristotle expressly regards as the father of philosophy regarded water as the primordial element of the universe ; to Anaximander, it is boundless stuff ; to Anaximenes, it is air.

been impossible to account for the actual emergence of the world, because in the early Greek imagination there existed no gods prior to the world to make the cosmos out of the chaos of the original 'world-stuff'. Hence it was but natural that the primitive 'world-stuff' should be conceived as essentially endowed with sufficient power of motion to evolve the cosmos out of itself. This notion of the mobile 'world-stuff' is known as hylozoism, and the era of the doctrine of the hylozoism was the age of the infancy of Greek thought.

Heraclitean Flux

Greek philosophy entered the road to maturity with a jolt when Heraclitus declared that there is no 'world-stuff' in this world but only an unbroken process, an ever-flowing stream of flux.[1] The primordial being or 'Nature' which so far all had been eagerly searching and discovering was declared to be nothing more than a fiction of the imagination. Really it was a startling shock to the contemporary thought; and a new philosophical situation was created, or rather a new epoch was inaugurated. Of course, the Heraclitean doctrine was the logical culmination of the doctrine of hylozoism: if the original 'world-stuff' is not an inert stuff, but a stuff essentially mobile, then the mobile power is the essential nature of the stuff and the being of 'stuffness' is only a secondary quality, probably a quality derivd by the senses from the enduring rhythm of the mobile process. Besides, of all elements, fire alone reveals the essential mobility of hylozoism: only in fire the dynamic mobility of hylozoism is vividly manifest. But fire is essentially a process, a 'becoming' rather than a substance in the true sense of the term; and if it appears as a 'being' it is only an illusion. Nay, the whole world is such a cosmic fire and a fiery process devoid of any solid 'being', and the static things are only an illusion created by the senses. There is nothing in

[1] Plato: Cratylus, 402 a. (Trans. B. Jowett). (Hereafter in this paper whenever Plato's Dialogues are referred to without specifically mentioning the translator's name, it may be presumed that the translation referred to is that of B. Jowett).

the world that does not conform to the cosmic 'fire-process'; and the rhythmic order of this process alone is its impressive feature, a feature which lulls the senses into the belief of static things. With this doctrine[1] of Heraclitus, the ground was ready for the growth of dialectical speculation ; and there emerged the presumption that as the sensual world itself was an illusion created by the senses, the senses could not be relied upon to discover reality. The rational faculty of thought alone could be relied upon to tell the truth. Not only that, the senses must be kept off from hampering the logical course of rational thought towards apprehending reality.

The Block 'Being' of Parmenides

It was indeed a bold feat to declare that this world is not a substantive world but only a dynamic, mobile flux. But it needed boldness as well as audacity to assert that in this appearently restless world there is actually neither any space nor any motion nor any plurality of things; but there is only a fixed 'world-Being', eternally unmoving and unchanging.[2] This was precisely the import of the metaphysical song 'On Nature' with which Parmenides stunned intellectual Greece. The dogmatic assertion of Xenophanes that the sole reality of this world is an unchanging, homogeneous Being, at once world and God—was given a dialectical form by the Eleatic philosopher, although his dialectical process systematically reduced the world-God of Xenophanes to a block metaphysical Being devoid of life and motion. Reason and thought, says Parmenides, invariably point at the sole reality of a world-Being of absolutely homogeneous stuff that deos not leave any breathing

[1] Plato, has effectively refuted the doctrine of Heraclitus in the Dialogues, Cratylus and Theaetetus: If everything is in flux, there can be neither a stable knower, nor a stable object and much less a stable knowledge or science; and also even the usage of names and language would be impossible.

[2] Plato, Theaetetus, 180 e. Plato sums up the doctrine of Parmenides in these words: "Alone Being remains unmoved, which is the name for the all."

space within or without. Space, motion and plurality are logically proved to be unreal, non-existent : to say there is motion, argues the logician, there must be both 'Being' and empty space. But what is empty space ? Empty space is simply nothing, which, to put it in logical terminology, is non-being. And to say there is 'non-being' is a palpable absurdity because 'being' alone is, and 'non-being' is not ;[1] and what is not, cannot cause or occasion anything. So there is neither space, nor motion and much less any plurality of things. Not only that, 'Non-Being' is pure nothingness which is inconceivable, 'unthinkable and unspeakable.'[2] Only 'Being' can be thought of ; and non-being is unthinkable and therefore non-existent. Space and the appearance of motion are, therefore, mere illusions of the senses.

Parmenides published his strange thesis on Being in his poem entitled 'On Nature' ; and his thesis was built upon the central question of Greek philosophy : 'What is the primordial 'Nature' or 'Being' from which all this changing things and appearances of the world have emerged ? The question implied that prior to the evolution of the world, there was a pure homogeneous primordial 'Being'. If 'Being' was the sole original reality, what is the source of empty space or 'Non-being'. 'Non-Being' cannot come from 'Being'. Therefore there is no space and motion but only a block 'being', which is :

> "Every way like unto the fullness of a well rounded
> sphere,
> Evenly balanced from the centre on every side,
> And must needs be neither greater nor less in any way,
> Neither on this side or on that."[3]

Such was the remarkable song of Parmenides 'On Nature'. Thus the attempt to square the nature of reality to the superficial categories of barren logic resulted in the expulsion of all life and motion from the sphere of reality. It was indeed a tragic-

[1] Plato, Sophist, 237a ; W. Windelband, op. cit., p. 37.

[2] Plato, Sophist, 238 c.

[3] Plato, Sophist, 244 c.

comedy. The adventurous Greeks searched for the Primeval 'Being' with a view to explaining the rationale of the phenomenal world ; but the enquiries landed at a cross-roads : Heraclitus established the thesis that there is no substance or 'being' in this universe to be discovered, whereas Parmenides demonstrated the anti-thesis that there are in fact no phenomena in this world to be explained. However, it must be noted that Parmenides' conception never rose to the height of the metaphysical notion of a spiritual 'Being', an incorporeal living self : his 'world-Being' is corporeal, nay, a spherical 'Being'. It is this notion of one corporeal world-Being that is logically assaulted and exploded in Plato's Dialogue, Parmenides.

The Pythogorean Numbers

While conflicting theories on the nature of the 'Being' and 'becoming' of the universe were converging in the intellectual realm of Greece, there emerged from the old semi-mystical religious order (founded by Pythogoras) a scientific-cum-philosophical school devoted to mathematics and cosmology.[1] Since the day the Pythogoreans discovered that the harmonious music issuing from a lyre (musical instrument) had to be traced to its basic principle of measure and harmony of numbers—since that day the mind of the Pythogorean school had been restlessly working towards tracing the harmony and order of the entire cosmos to such a primary mathematical structure of measure and proportion of numbers. Everything in the cosmos has symmetry and harmony like the symmetry and harmony of a right angled triangle, but as the secret of the symmetry of a right angled triangle (Pythogorean theory $3^2+4^2=5^2$) is its basic principle of measure and proportion of numbers, so also everything in the universe is only an harmony issuing from the measure and harmony of numbers. That is to say,

[1] Probably the Pythogorean School became a scientific school only after the death of Pythogoras. Plato and Aristotle speak only of this school which came into prominence sometime in the middle of the fifth century B. C., and the astronomer Philolaus was one of the leaders of this school. Plato, Phaedo, 61 d.

the primordial 'nature' or creative power of the universe is nothing but the creative power of numbers. The soul of man itself is only 'a harmony'[1] issuing from the creative principle of the measure and proportion of numbers, which are the elements of body.

The Pythogoreans not only traced the origin of the cosmos to the creative power of numbers, but also asserted that 'the elements of numbers to be the elements of things.[2] They argued their thesis somewhat as follows: 'The primary of body is surface, the primary of surface is lines, and the primary of lines is points, which may be termed the units or monads ; and these units or monads, which are perfectly incomposite, have nothing antecedent or simpler : but as units are numbers, numbers must necessarily be the principle of things.'[3]

Such were the instincts and logic that led the Pythogoreans to discover beyond the sense world of changing phenomena a higher world of unchanging forms, whose structure and nature is essentially that of geometrical form and mathematical logic. Certainly there is an element of insight in this conception of the scientific world as one of mathematical structure and mechanical harmony. However, they exhalted this vague scientific glimpses into mysterious heights and ridiculous forms, when they defined morality, soul and justice in terms of numbers and harmony. But the remarkable point is that their notion of real world as one of measure and numbers (please note that their concept of numbers is that of indivisible units) indeed cast the seeds for a philosophy of materialism and atomic pluralism. If number is the essential nature of things, then all that is true of numbers must be true of things as well : metaphysics is the supreme knowledge, and mathematics is the supreme metaphysics, the highest science. It was not a remote cry from the science of

---

1 Plato, Phaedo, 85-86. Plato refutes the Pythogorean theory of the soul in the Dialogue Phaedo, 92-95.

2 A. Weber : History of Philosophy, p. 23. (Revised Edition).

3 H. Ritter : History of Ancient Philosophy, Vol. I, p. 375.

numbers of Pythogorean mysticism to the mechanical science of atomic pluralism and materialism.

Science versus Opinion

All these diverse theories, contradictory as they were to each other, negated the specific doctrines of each School, but even when they contradicted one another, there emerged a general epistemological doctrine of much consequence. That doctrine common to all schools and which loomed before the intellectual world of that early period was this : that science, knowledge of reality, issues only from rational thought and reflection, whereas common experience and sense-perceptions yield only deceptive opinions devoid of any truth or scientific validity. All the Schools claimed themselves to be pure scientific schools devoted to the discovery of reality ; and as the doctrines of these Schools were far opposed to the report of the senses and of the general opinions of people, the scientific validity of their metaphysical theories could be established only with a corresponding condemnation of the senses as deceptive and of the sense-knowledge as illusion. Naturally the epistemological problem stared in the face of these so-called scientists : if the senses cannot bring to the mind of man the knowledge of the objective reality, then how does the knowledge of the objective reality or 'Nature' enter into the individual man ? To this question these philosophers had no clear answer except the vague plea that logical reflection could yield science because of the intercourse of the rational faculty, 'through the doors of the senses itself',[1] with the true 'nature' or reality of the objective world. With such an unscientific theory of knowledge they forwarded the thesis that rational reflection yields science or true knowledge, while sense-knowledge gives mere opinions.

[1] W. Windelband : History of Philosophy, p. 64. As for Parmenides, he strictly adhered to the logical assumption that the knowledge of truth consists in negating the illusions of senses. Reality is self-consistent and not logically self-contradictory. So when all sense perceptions are exposed as self-contradictory, the only self consistent proposition is that Reality is a 'block-Being'.

To appreciate the philosopher-scientists of Greece, it is necessary to discriminate the Greek notion of science from the modern concept of science. The Greeks meant by science the systematic knowledge of reality and not merely the superficial knowledge of phenomena. The modern distinction between science and philosophy, well established since the Cartesian division of reality into matter and mind, would sound preposterous to the early Greek thinkers. They conceived science so broadly as to include all true and systematic knowledge of the real 'nature' of the world. And in fact they regarded metaphysics as the supreme science, correlative to which all other branches of knowledge attain scientific basis and validity. With such a concept of science, it was but natural that they should dismiss mere sense-data and common opinions of people as unscientific and, therefore, unreliable knowledge. Direct expenence and normal perceptions were condemned as sources of illusions and not of knowledge ; and with such a condemnation of sensible experiences of the world, the logical faculty established its absolute authority to freely speculate about reality as well as to judge the validity of its own logical findings. Thus the rational faculty broke off from its solid basis of sense world, without rising to any higher spiritual basis. Such a course naturally led to the lawless tyranny of baseless logical rationsalism over the intellectual realm of Greece. Pure logic took upon itself the exclusive role of enquiring and ascertaining reality. But since pure logic cannot move forward in its speculative activity unless it develops a dialectical pressure from within, pure logic gradually developed into dialectic, and science became the hand-maid of dialecticians. Obviously, scientific enquiry developed into a barren dialectic ; and Zeno, the dialectician of the Eleatic School, exalted this barren dialectic as a science and practised it as an art. With Zeno dialectical exercises were more or less a hobby ; but such exercises became part of the profession of the rising generation of Sophists. But in the mean time as a reaction against the airy dialectic of the Eleatic School, there arose the school of the Atomists who

liberated science from the limbo of dialectics and reinstated it on an empirical basis.

Atomist School

To recover science from the onslought of dialectic, there was only one way out : to demonstrate that neither the senses are essentially deceptive nor the sense-impressions are mere illusions. The Atomist School, headed by Leucippus, came forward with such a demonstration and re-established science on an empirical basis. To the illusionists of the age, Leucippus declared that 'nothing happens without a cause but all things occur for a cause and of necessity'[1] : all the sensations and sense-qualities are the necessary products issuing from the material and mechanical qualities of a real world of an infinite number of atoms. To the Atomist School, atoms are the absolute and primordial elements of the universe ; and the absolute qualities of atoms are its geometrical dimensions and mechanical motions. Indivisible and unchanging as the atom is, its geometrical dimensions or quantitative determinations are not relative or secondary qualities but absolute and primary qualities. And the entire phenomenal world of things and events are the necessary products emerging from the action and reaction, combination and dissolution of these primordial world of a oms.[2] Hence the primary and scientific nature of the external world is to be traced to the primary quality of its basic elements, that is, the quantitative determinations or geometrical deimensions of objects are alone absolutely and scientifically true, because the absolute quality of the actual elements of the external world is only such quantitative aspects.

Thus the Atomist school drew a sharp distinction between the primary and secondary qualities of objects. All the apparent qualities of objects, such as red and white, soft and hard, sweet and bitter, etc., are secondary qualities relative to the senses

1 T. Gomperz : Greek Thinkers, Vol. I, p. 317. (Paper back Edition, 1964).
2 Kirk & Raven : Pre-Socratic Philosophers, pp. 415-424.

of man, emerging as a result of the mechanics of perception.[1] But the quantitative aspects or geometrical dimensions of objects, which can be measured according to universal standards, are the real and primary nature of things. Hence the true science of nature is the physical science based upon scientific observation and empirical measurements, and which can explain the real nature of the visible world phenomena.

Implicit in this atomist theory of the universe is also a corresponding theory of knowledge. Just as the entire cosmic phenomena emerge as a result of the mechanics of atoms, so also the process not only of perception but also of thought is the result of the mechanics of atoms. Only by means of mechanical contact with the external world can man know the external world. That means, sense contact and perception is the sole primary source of knowledge.[2] However, neither all sense contacts nor all perceptions of the external world, could furnish correct knowledge. Since the primary nature of the external world is its quantitative and mechanical aspects, only intimate sense contact of physical touch with these quantitative aspects of things, followed by correct mathematical measurements of them, could lead to exact knowledge. And as the process of thought too is a material and mechanical 'process analogous to sensation',[3] it is obvious that only such thoughts as are based on correct perceptions could be a source of right knowledge. That is to say, scientifically valid thought is that which is based on scientific observation and mathematical measurements. It was with such a sensible theory of knowledge that the Atomist school supported its scheme of a real science of nature. Thus, in Greek thought—

> "in a comparatively short space of time a conception had been elaborated which is strikingly similar to that on which modern science has commonly proceeded. The reduction of qualitative to quantita-

[1] Ibid., p. 424.

[2] T. Gomperz, op. cit., p. 322.

[3] Kirk & Raven, op. cit., p. 422.

tative, the connection of mathematics with scientific method, the resolution of all phenomenal bodies into multitude of minute moving particles or atoms, of all change into change of positions of these atoms and all efficiency into mechanical impact, is expressed with a definiteness which leaves little to be desired."[1]

Sophists : Protagoras[2]

Although the Atomist school put the course of Greek thought on a material basis and along scientific lines, it could not make much progress on these lines, as its was soon carried off from its materialistic basis by a massive storm of Sophistic thought under the leadership of Protagoras.

It was indeed a happy coincidence that Protagoras was born in the city of Abdera where the Atomists had established their school. Protagoras received his primary intellectual training from the Atomist school;[3] and he imbibed so thoroughly the scientific approach and temper of the Atomist school that he soon discovered a scientific flaw in the basic foundation of atomic materialism.

The entire theory of the Atomists is based upon its basic doctrine that the empirical data or perceptual knowledge of things ascertained by the sense of touch and reduced to exact mathematical measurements of their quantitative aspects represents the absolute and primary quality of things. Even such measurements of the length and breadth of things, argued Protagoras, are not the absolute dimensions or measurements of things, but are only the measurements relative to the perceptual apparatus of the perceiver. The distinction drawn

[1] A. K. Rogers : A Students History of Philosophy (3rd Ed.) p. 43.

[2] The main body of this thesis has dealt with, in greater detail, the development of Greek thought from Protagoras to Plato. Hence this introductory account of the general evolution of Greek thought from Protagoras to Plato does not give all references. For detailed references please refer to the authors forthcoming book 'Plato Rediscovered'.

[3] W. Windelband : A History of Philosophy, p. 70.

by the Atomists between the primary and secondary qualities of objects is based upon the assumption that the mathematical determinations of the quantitative aspects of things, as ascertained by the sense of touch, are purely objective and are not affected or changed in the process of physical observation or perception. But this assumption, according to Protagoras, is wrong, because the cognitive faculties of man are coefficient in the production of all sense-qualities of things, including the sensation of touch and the sense-data of geometrical dimensions ; that is, knowledge derived by the sense of touch is also secondary and relative.[1] Therefore, 'man is the measure of all things, 'and the so-called scientific measurements of objects are true only relative to the limited standard of the cognitive faculties of man, and not to any absolute standard or in any absolute sense.[2] Such is the conclusion of the Protagorean theory of knowledge and its scientific analysis of perception.

Protagoras agreed with the Atomist school that the limit of perception is the limit of human knowledge because what is knowable is that which is perceivable, and that which is beyond the scope of perception cannot be known even by means of conceptual thought, for the simple reason that the psychical process of thought is essentially identical in its nature, content and scope with that of perception. However, Protagoras was quite opposed to the Atomists' theory regarding the nature and status of perceptual knowledge. Whereas the Atomist school arrived at a materialist metaphysics from their theory of perception, Protagoras arrived at metaphysical scepticism from his analysis of perception. It was the central thesis of Protagoras that man cannot know the absolute nature of the external world, and hence a true science of the external world is ever imposible for man, because man has no faculty to know the absolute nature of the external world. of course, Protagoras was not a nihilist but a pragmatist, and he fully recognised the prag-

[1] A. Weber, op. cit., p. 42.
[2] T. Gomperz, op. cit., p. 450.

matic status and value of sense-knowledge. In fact, protagoras liberated Greek thought from its traditional wheels of rationalist absolutism and empirical materialism, and started not merely a new chapter but a fresh volume.

The ethical implications of Protagorean theory of knowledge is equally clear: If man cannot know the true nature of the things around him, much less can he know about the Gods and the so-called divinely ordained morals and laws. Whether or not there is any universal principle of right and justice, man can never know because of the inherent limitations of the cognitive faculties of man. Hence the only possible criterion of right and justice is one's own subjective feeling and opinion, which is not completely baseless but has a psychogenetic basis.[1] According to this subjective criterion, what a man feels as right and good to him is right and good to him; and by the same logic, what a people collectively feel and accept as right and good for them is right and good for them. That is to say, the only possible basis of private morals is personal feeling, and of public laws is public opinion and consequent convention or general agreement. But the importrnt point is that there is nothing like absolute truth and justice within the entire range of human knowledge.

The impact of Protagoras on Greek thought was so great that it virtually created an intellectual revolution. It is no exaggeration to say that it was he who put Greek thought on a really scientific basis. A true science must start with an understanding of its own tools of knowledge; it must first answer the basic questions: What is the source of knowledge? and what is the nature and limitation of the human faculty of knowledge? Protagoras addressed himself to these questions and gave his verdict that neither by means of perception nor by means of logical thought nor by means of both together, could man arrive at the knowledge of the absolute nature and laws of cosmos. And this verdict of Protagoras

[1] W. Windelband, op. cit., p. 91.

was accepted not only by Socrates and the minor Socratic schools but also by Plato. The era of the speculative philosophy about the cosmos came to an abrupt and with Protagoras, and the Greek mind was disciplined and brought back from its cosmological speculations to the practical politics and problems of actual life. No doubt, Protagoras was a genius:

> "He is in his time what Locke was in later days and Kant still later. He requires knowledge to be tested and limited by the appeal to 'impressions', and he is prepared to assert that where experience ends, knowledge ceases."[1]

Socrates (469-399 B.C.)

"It is usual to divide Greek philosophy into pre-Socratic and post-Socratic period: For after Socrates, Greek thinkers could never forget the question, what am I? which proved as tantalising and important as the older question, what is being? with which Greek speculative thought began."[2]

Socrates broadly agreed with the Protagorean theory of knowledge as far as the knowledge of the external world was concerned. But Socrates was violently opposed to the thesis of Protagoras on morals and laws. The counter theory of Socrates in this regard may be summed up as follows:

True, man cannot know the absolute nature and laws of the external world. Nor can man know anything about the so-called Gods and their divine laws. But that does not mean that the feelings and opinions of people on what is morally good, is the right guide in private and public life of human beings. After all, the purpose of life is to conduct oneself in such a way as to accomplish the true good of the self: and in order to accomplish this life-goal of man, the only absolute knowledge necessary is the knowledge of the true good of the self. Such a knowledge of the true good of the self could be obtained not by the study of the external universe but by

1 Brett's History of Psychology: Edited by R. S. Peters, p. 63.

2 Robert S. Brumbaugh: Philosophers of Greece (London, 1966), p. 124.

the study of one's own self. Hence the central question to be answered is not, 'what is this cosmos ?' but 'what am I ?' He who has known his self, knows the absolute Good of the self, the absolute principle of good and evil, justice and injustice as far as human life is concerned. Only such a man of wisdom can guide himself or legislate for a nation, and not the whole people, as in democratic Athens.[1] Not only that, such wisdom alone could make men really virtuous. After all, every one wants to do real good to his own self; and hence the real foundation of moral goodness (that is, virtue) is the knowledge of the absolute Good of the self. Indeed, virtue is knowledge, and vice, ignorance.

In simple words, such was the message of Socrates.[2] Socrates only pointed out the way to solve the riddle of life and lead an ideal life; and he did not himself solve the problem but only showed the way out of the confusion. Though he claimed no ethical or metaphysical knowledge nor presented any theoretical system, still his impact on the course of Greek thought was decisive. Before Socrates, the central question of Greek thought was, 'what is the primordial reality or Nature of the Cosmos ?'; but after Socrates, the central question of Greek thought was, 'what is the nature and absolute Good of the self of man ?'[3] The absolute law of life is that which is dictated by the absolute Good or ideal of self; the problem

[1] It is on this basis that Socrates condemned Athenian democracy and its political leaders as well as their teachrs—the Sophists.

[2] Xenophon, Memorabilia, IV, 2. 24, (Trans. J. S. Watson). Here Xenophon reports the conversation between Socrates and Euthydemus. Socrates is here impressing upon Euthydemus the supreme importance and imperative nature of the Delphic command inscirbed on the temple wall—"Know thyself." Knowledge of self, explains Socrates, is essential for leading a proper life.

[3] R. S. Brumbaugh, op. cit., p. 123.

(Capital letter is used for the Good (absolute 'good' of self) in order to trace with full consciousness the Platonic doctrine of the Form of the Good from the concept of the absolute Good of the soul propounded by the historical Socrates).

of absolute Right and Justice in human life is therefore essentially the question of the absolute Good of the self. Hence, the nature or form of the absolute Good, which it is the supreme duty of man to strive for, became the central problem of study and research in post-Socratic Greece. And it is this problem that is discussed and resolved in the Republic of Plato, the great Dialogue on Justice. But before Plato, the Socratic schools of Cyrianics and Cynics conducted much psychic research to solve this problem; and their research findings helped Plato very much in discovering the right solution to this central question of the Republic.

The Minor Socratic Schools : (*a*) *Cyrenaic School*

Aristuppus and Antesthenes were the two immediate disciples of Socrates who followed the directions of the master and conducted a systematic study of the psychical nature of man with a view to discovering the absolute Good of the self. They fully agreed with the master that man cannot know the real nature of the external world and that the only true science possible for man is ethics. Indeed it was the self-imposed mission of Aritsuppus and Antesthenes to discover this supreme science of morals most essential for an ideal life; and the Cyrenaic and Cynic theories are the respective products of their exploring zeal and psychic research.

Aristuppus, the founder of the Cyrianic school, was a "Sensualist Sophist before joining the Socratics;"[1] and the imprint of his initial Protagorean training is manifest in the research methodology he adopted to discover the Socratic ideal of the absolute Good of the self. "Starting from the position of Protagoras that knowledge is primarily perception and perception is inner movement, Aristuppus develops the sensationslism which is obviously latent in the doctrine....... In the field of cognition, he recognises only the subjective state, the inner movement of which we are conscious, and from that deduces the proposition that all knowledge is subjective, the

---

[1] A. Weber, op. cit., p. 50.

thing remaining unknown and only the effects of its action being perceived."[1] Thus, according to Aristuppus, all that man can know is only his own psychological feelings or experiences corresponding to his own psychical movements. Not only perception and thought but also all emotions and desires are essentially psychical motions and their corresponding psychological feelings. The Protogorean thesis on the basic identity of the psychical process of perception and of thought reaches its logical culmination with the Cyrianic school; to Aristuppus all human experiences, including perception and illusions, emotions and delusions, thoughts and dreams—come under the single category of psychical movements and their corresponding psychological feelings.[2]

With such a sweeping thesis on human psychology, it was quite easy for Aristuppus to answer the question, what is the nature and absolute Good of the self ? The nature of the self, argued Aristuppus, is to be judged from its innate feature; and the innate and constant feature of the self is the continuity of its unbroken psychical life of feelings and experiences, including the constant feeling of self-consciousness and existence. If the feeling of self-consciousness is a constant feature of the self, then it is beyond doubt that constant motion is the innate nature and feature of the self, because continuity of psychical life and the constant feeling of self-consciousness is not possible without constant motion of the self.[3] Now as the self is proved to be a self-moving psychical being, whose primary feature is one of constant motion, the investigation of the absolute Good of the self turns out to be an investigation of the form of the ideal and perfect motion of the self.[4]

---

[1] Brett's History of Psychology, op. cit., p. 66.

[2] W. Windelband, op. cit., pp. 93-94.

[3] The Cyrenaic school "do not admit of perfect psychical rest." H. Ritter, History of Ancient Philosophy, Vol. II, pp. 93-94.

[4] Plato defines the soul (Laws 896a) as "the self-moved," "the motion which can move itself." However, the first Greek school to develop such a view of the soul was the Cyrenaic school.

Now the question is, what is the absolutely good motion of the self? and how can man know it? As the only source of human knowledge is sensation, sensation itself is the sole absolute standard and criterion in discriminating the good motion of the self from that of bad motion. That means the good motion is that which is felt as good; and the feelings that are felt as good are nothing else than pleasant feelings, or what is called, pleasure. Pleasant feeling, however, is only the psychological feeling corresponding to a certain type of psychical motion, which according to the psychical research of Aristuppus is a gentle type of psychical motion, as distinct from dull or violent psychical motions. That is to say, gentle psychical motion is the perfect form and absolute good of the self; and pleasant sensation or pleasure is its psychological feature. Thus Aristuppus arrives at his sensational doctrine that pleasure is the sole absolute Good of the self; and that the essential psychical form of this absolute Good is a gentle form of self-controlled psychical motion.[1]

According to Aristuppus, says Windelband, "we know not things, but only their worth for us, and the states into which they put us. These, however, are rest and indifference, violent motion and pain, or gentle motion and pleasure. Of these only the last is worth striving for."[2] Though a votary of pleasure, Aristuppus was not an advocate of unrestrained sensuality. Indeed it was the doctrine of Aristuppus that self-control and self-mastery are the real source of a life of pleasure. As the essential basis of pleasant feelings is gentle psychical motions, the scientific pursuit of pleasure consists in the exercise of self-control and self-mastery with a view to maintaining the gentle psychical motions of the self, irrespective of the vicisitudes of the external world. Thus, if the absolute Good of the self consists in living a life of pleasure, the essence of moral goodness (that is virtue) consists in absolute self-control and

[1] Windelband, op. cit., pp. 93-94; E. Zeller op. cit., pp. 307-308.

[2] Windelband, op. cit., pp. 93-94.

self-government. With such a theory of life, Aristuppus himself lived a life of rare self-mastery and much enjoyment, disregarding all political and religious conventions on the ground that all such laws and conventions were contrary to the absolute natural law of the self of man. This is the general philosophy behind the political dictum of Aristuppus, the Cyrianic philosopher, that 'the wise man will not belong to any state either as the ruler or as the ruled'[1]: State, Government and Laws are all contrary to the supreme law of Nature prescribing a free and carefree life of uniform pleasure without any external encumbrances.[2]

(b) *Cynic School*

Antesthenes, the founder of the Cynic School, agreed with Aristuppus that perception is essentially the experience of one's own psychical activity, the sensation if the inner psychical movement ; and also that the psychical process of thought is essentially similar to that of perception.[3] But Antesthenes violently condemned the doctrine of Arstuppus thatman can know the nature and absolute Good of the self by means of mere perception or feeling. And with regard to the Cyrianic thesis that pleasure is the absolute good, the Cynic philosopher declared that he "would rather feel madness than pleasure."[4]

Perception, argued the Cynic philosopher, is only the feeling of inner psychical movements or becoming. As every feeling involves motion, feeling can never convey the knowledge of the essential being of the self, but can convey only the sensations of its becoming or behaviour. To feel the behaviour or movements of the self is not by any means the knowledge

[1] E. Zeller, Sorcatic and the Socratic Schools, p. 313 (London, 1868).

[2] E. Barker, Greek Political Theory, pp. 120-125. Most of the commentators of Greek thought usually dismissed the theories of Cyrianics and Cynics as worthless and queer ideas. And none of the political commentators, including Barker, cared to understand the systematic nature of the political ideas of these two schools.

[3] E. Zeller, op. cit., pp. 247-256.

[4] Ibid., p. 259.

of the real self as it is. Since the psychical process of thought too is essentially identical with that of perception, man can never know his own self by means of either perception or of conceptual thought. Thus Antesthenes arrived at his cynical conclusion that neither the knowledge of the external world nor the knowledge of the inner self can ever be obtained by means of the cognitive faculties of man : all the so-called empirical and rational knowledge available to man are devoid of any truth.[1]

With this realisation of the incapacity of the cognitive faculties of man to know the real self, the psychical research of Antesthenes enters into a new stage. The analysis of the nature of perception and of conceptual thought have disclosed that the very process of perception as well as of conceptual thought transforms the self from its original state of an unconditioned being into an externally conditioned state of flux or movement. To know the real self, the self itself must be in the form of its natural or pure being. For it is an obvious fact that to know the real nature of anything, that thing itself must be in its real nature and original form : this is equally true of the self as well. For the attainment of the knowledge of self, it is therefore obsolutely necessary for the self to transcend its state of sensual flux or becoming, and realise its innate form and essential nature. That means the attainment of the knowledge of self is identical with self-realisation, the realisation of the innate psychical form or essential being of oneself. As the self of man is a psychical being, its self-knowledge and self-being synchronise, just as its psychical becoming and psychological feelings go hand in hand.

Antesthenes now comes to the inevitable conclusion of his psychical study : not only self-knowledge but also the knowledge of the absolute Good of the self—that is, the unconditional moral ideal of life—are innate in the self of man.

[1] These are direct logical conclusions implicit in the basic premises of the Cynic theory of knowledge.

The so-called relative worldly ideals are an overgrowth upon the self as a result of the psychical conditioning of man by the external world-phenomena and society. And when this psychical conditioning is done away with, then the absolute and innate moral ideal of man would naturally be recovered. Hence, to know the real self and attain the knowledge of the absolute moral ideal of man, what is necessary is psychical unconditioning of oneself of illusory perceptual knowledge and sensual values.

Antesthenes thus arrives at his remarkable thesis that self knowledge and wisdom (knowledge of the absolute moral ideal or Good) are innate in the self of man, and there is no need of obtaining it by means of the cognitive faculties. But then comes the question: if self-knowledge and wisdom are innate in the self of man, then what is it that conceals or envelops this innate knowledge? Antesthenes readily comes forward with the answer: it is the so-called perceptual knowledge and the consequent sensual affection for the external world that has perverted and enveloped the innate moral ideal of man. If so, then, how can man regain his innate self-knowledge and wisdom? The answer is again obvious: one should recover the innate self-knowledge and its absolute moral ideal by unconditioning the self of all the false knowledge and false values that have been impressed upon it by the deceptive influence of perceptual knowledge and by the corrupting influence of the perverted culture and civiliation of society.[1] Hence, the path to self-knowledge and wisdom is by attainig "freedom from illusion" and "freedom from desires."[2] Freedom from illusion and false knowledge is to be attained by means of dialectical analysis of all types of perceptual and conceptual knowledge, leading to the realisation of the superficial nature of perceptual knowledge, and of the baseless character of sensual attachments to the external world. Such dialectical analysis coupled with moral discipline would enable

[1] E. Zeller, op. cit., pp. 256-265.

[2] T. Gomperz, op. cit., pp. 152; 159,

one to recover from the deceptive influence of the external world and regain his innate self-perfection and absolute moral ideal. Thus wisdom is attained by "unlearning what is bad."[1]

But the most important point to be noted now is that dialectic does not furnish man any positive knowledge but only does the work of unconditioning the self of its false notions of truth and values by disclosing their self-contradictory and superficial nature. When illusory knowledge and false desires are negated, the self of man realises its unconditioned form of absolute virtue and wisdom, compared to which all empirical knowledge is mere psychological feelings or opinions referring to mere psychical movements. Transcending all perceptions and intellectual conceptions, this pure form of the enlightened self is one of pure intelligence and moral will, absolute self-government and self-sufficiency. As Dr. Zeller puts it: "So much alone is clear that the knowledge of Antesthenes and his school, is the same as a right state of will, of strength, of self-government and of uprightness."[2]

Now that the true nature of the self is known, it is only a matter of course for Antesthenes to precisely answer the question, what is the absolute Good of the self? The essential nature of the self is one of absolute and unconditioned existence with perfect virtue and wisdom, complete self-government and self-perfection. Hence it is obvious that the absolute Good of the self is nothing else than self-realisation, because self-realisation is indeed self-perfection. And the answer to the supplementary question, what is the psychical form of the absolute Good of the self? the answer is equally clear: ascetic self-discipline and absolute self-government of wisdom.[3] Thus, to Antesthenes self-knowledge and self-realisation, the absolute Good of the soul and the absolute goodness (virtue) of the soul—all these are exactly identical and denote the same innate nature and psychical form of the self. The Socratic

[1] E. Zeller, op. cit., p. 265.

[2] Ibid., p. 265.

[3] Ibid., pp. 256-260.

doctrine that virtue (moral goodness) is knowledge, becomes with the Cynic school one of absolute identity : virtue is knowledge, and knowledge is virtue : both denote the same thing, the pure form of self with its absolute wisdom and self-government, self-sufficiency and self-perfection.

With such a philosophy of life, the Cynics lived an ascetic and unsocial life, unconcerned with the morals and laws, customs and manners of society. Indeed, the Cynics publicly condemned not only the laws and customs, but also the culture and civilisation of the sophisticated Greek society as the artificial perversions that are contradictory to the natural law and real good of the self of man.[1]

IV

Plato and the Theoretical Conclusions of the Sophistic Age

As a new born has no other option but to suck the breast of its mother and breathe the air around him, so also an intellectually maturing student has no other option but to imbibe the prevalent thoughts and ideas of the intellectual atmosphere around him. He may grow into an original thinker and philosopher, challenging the fundamentals of his intellectual heritage; but his starting basis and initial thoughts would be the prevailing thoughts and ideas of his time. It is after much intellectual dialogue with the contemporary theories and ideals that a budding philosopher—if his intellectual potency is higher than the intellectual level of the contemporary thought—goes up to a higher intellectual view of the world and a deeper moral ideal of life. But the notable point is that the starting basis and approach of a philosopher is determined to a large extent by the dominant theories of his age. This general rule is equally applicable to Plato as well. It is the Protogaorean theory of knowledge and its theoretical consequences and logical implications, as drawn out by Socrates and the Socratic schools of Cyrenaic and Cynics, that constitute the starting basis as

[1] E. Barker, op. cit., pp. 120-122.

well as definitively condition the philosophical approach of Plato.

The cynical theory of Antesthenes is the logical culmination of the Protagorean theory of knowledge. Protagoras showed the subjective and relative character of all sense-knowledge, and demonstrated that man cannot know the absolute nature and law of the external world by means of perception or of conceptual thought, either alone or both together. The Cyrenaic school developed the Protagorean theory further and demonstrated that all possible human knowledge, all perceptions and conceptual thought, are actually nothing more than the mere psychological feelings of one's own psychial activity and changes. So far it is true but if this is so, then it is obvious, argued the Cynic school, that man cannot obtain even the absolute knowledge of the real form of his own self by means of either perception or conceptual thought. Thus the Protagorean theory of knowledge reached its logical climax in the Cynic thesis that man can never obtain the knowledge of the essential nature either of the external world or even of his own self by means of traditional empiricism and rationalism ; and that the entire collection of 'the so-called empirical knowledge and rational theories' are only the mere psychological feelings or opinions referring to the psychical activities and modifications of their respective authors. With such a sweeping condemnation of all perceptual knowledge and conceptual theories, Antesthenes delivered his positive message that true knowledge, in fact the only possible true knowledge, is self-knowledge which is identical with self-realisation. Self-knowledge is neither perceptual knowledge nor conceptual knowledge but is essentially the realisation of the innate spiritual form and moral virtue (goodness) of the true self of man.

Although the cognitive faculty of man cannot furnish the knowledge of self, it can play a significant role in the effort of man to achieve self-realisation. That is, the faculty of dialectical thought can deliver man from the seductive influence

of perceptual knowledge by exposing its superficial and phenomenal character. To this extent the Cynic school recognises the utility as well as the necessity of the faculty of dialectical thought, not as a positive source of true knowledge but as an instrument to uncondition the self of its illusory knowledge and false values. Indeed, the verdict implicit in the theory of Cynic school regarding the legitimate functions of the cognisive faculty is really remarkable ; the proper functions of the cognitive faculty are, first, to be a practical instrument to guide man efficiently in the practical activities necessary to relieve the bare organic pains of man by satisfying the organic needs ; and second, to be a logical instrument to deliver man from the domination of deceptive perceptual knowledge ond false values.

Such were the trends of Greek thought during the time of Plato regarding the nature and value of perceptual knowledge, and the source and means of self-knowledge. All the Schools and important thinkers of the age were unanimous that man cannot know anything certain about the absolute nature and the so-called moral laws of the universe. On the one hand, the traditional moral code and religious sanctions collapsed with the onslaught of the Protagorean theory of knowledge. And on the other, there emerged as an axiomatic truth that the only absolute knowledge necessary and possible for man is the knowledge of the nature and absolute Good of his own self, and that the sole absolute ideal and duty of human life is to whole-heartedly pursue and accomplish the absolute Good of the self. As the sole ideal of human life became the absolute Good of the self, virtue or moral goodness became identical with the necessary moral faculty of self-government to accomplish the absolute Good of the self. The radical Sophists, the Cyrenaics and Cynics were all essentially philosophers preaching their respective doctrines of the absolute Good of the individual soul. Thus Greek thought landed in metaphysical scepticism and ethical individualism or rather ethical anarchism ; man can know nothing but his own self and its activities ; and absolute self interest is the absolute moral law of human life.

Such were the impressive thoughts and ideals of the intellectual atmosphere around Plato ; not only did Plato smell and taste these theories, but also he witnessed the devastating impact of these theories of Cyrenaics, Cynics and radical Sophists upon the social institutions and political life of his own city.

Plato realised, as the Dialogues reveal, the sweeping nature of the crisis and the futility of the limited psychological endeavour of the Cyrianic and Cynic schools to discover a ray of light as a guide to individual life. It was obvious to Plato that an ethics devoid of metaphysics is baseless and superficial; and if any doubts were there on this point, the ethical doctrines of the Cyrenaic and Cynic schools dispelled it. To discover a rule of action which is universally true, it is necessary to discover the nature of universal existence. The empirical knowledge about the limited individual soul and existence, which is actually a temporary phenomenon, cannot be the basis of an ethical code of absolute validity and universal applicability. The core of the entire crisis of his age, according to Plato, was the crisis in metaphysics ; and the root of this crisis was the Protagorean thesis on the incapacity of man to discover the metaphysical nature of the universe. Hence, the central concentration of Plato was channeled to discover the answers to the twin questions : what is the metaphysical nature of the cosmic phenomena ? and how can man know it ?

Of the two questions, the answer to the first question depends upon the prior solution of the second question. Hence the first challenging problem before Plato was the question about the nature and extent of human knowledge ? When he addressed himself to this question, he found himself face to face with the imposing thesis of the Cyrenaic and Cynic schools that man can know only the nature and behaviour of his own self and nothing else. Impressed as he was with the elemental validity of this thesis on the nature and limit of human knowledge, the main issue before Plato was how to reconcile and resolve the actual nature and scope of human knowledge with

the possibility of metaphysics which was very essential for surmounting the moral crisis of the age.

To sum up the apparently irreconcilable intellectual conflict in which Plato found himself : On the one hand, to sove the crisis in moral values it is absolutely necessary to know the ultimate reality underlying the objective world of nature; on the other, it is found that the only absolute knowledge that man can, at the most know of is the knowledge of his own self. Under such intellectual limitations, it is obvious that a solution to the crisis in moral values by means of an absolute metaphysics is certainly impossible, unless the absolute and unconditioned self of man (of which alone absolute knowledge is possible for man) is itself the absolute metaphysical reality of the universe. Such an eventuality being the only alternative to Cynicism, Plato applied his mind for a solution in this direction and sought a way to metaphysics through the Cynical thesis of self-knowledge.[1] Now with a flash fo genius, so to say, Plato hit upon his final solution by the discovery of the metaphysical potentialities of the Cynic thesis on self-knowledge through the following logical steps :

[1] That the basic approach of the Cynic school had infinite potentialities within it is evident from the very fact that Stoicism, "in its beginnings was a branch of Cynicism." Zeno, the founder of the Stoic school had been originally a disciple of Crates, the third in the illustrious line of Cynic teachers ; and it is a very remarkable fact that the Cynic teacher could discipline and transform the personality of Zeno to such a moral height as to be the founder of the dominant philosophical school of the Roman empire during its formative and creative period. The inspiring rationalism and idealism of the Stoic school had been the moving moral forces behind the smooth transformation of the city state of Rome into a universal state, a world-empire. If such a potent and creative philosophy had begun as the offshoot of Cynic philosophy, then it is certain that there must be some deep truth and power hidden somewhere in the Cynic school, either in its methodology or in its content. Regarding the original relation of the Stoic school with the Cynic school, refer to, Windelband. A History of Philosophy, pp. 167-170; G. H. Sabine : A History of Political Theory, pp. 132-133.

According to the Cynic school, self-knowlédge is identical with self realisation ; and self-realisation is attained by the psychical process of unconditoning the self of all its sensual conditionings created by the external world. The self is a psychical being, and its finite psychical character is the result of its sensual conditionings by the external world. Therefore, when all such psychical conditionings and limitations are dispelled, there will be a self-transformation from a state of conditioned and finite psychical existences (consciousness) to an absolute psychical state of infinite and unconditioned existnce. That means the essential form and existence of self is infinite and universal ; and if the self is essentially infinite, then it must be the absolute and universal reality of the cosmos, because beyond or beside an infinite reality threre cannot be anything else. Now it may be stated provisionally pending its demonstration in the main body of this work that this is the final metaphysical thesis of Plato : that the self is eternal and immortal, infinite and universal.[1] And this is the essence of the Platonic dictum that the individuals is not real but the universal alone is real and immortal, since Plato attributes immortality to the soul only.

Plato, it is instructive, agrees with the Cyrianic and Cynic philosophrs that the true nature of the soul denotes the full-fledged form which the soul attains when it has realised its absolute Good. Thus, the real nature of the soul is its perfected form resulting from the realisation of its absolute Good or rather Goodness ; and conversely, the striving of man to realise the true Good of the self is essentially the striving of the soul to realise its true nature and' perfect form of Good.' But the similarity between Plato and the Cyrianic and Cynic schools in this respect is confined to mere terms and points, because in their meaning and application there is a world of difference. For instance, according to Plato, the theory and discipline of higher education to be pursued by the top guardians of the Republic

[1] This final metaphysical thesis of Plato is demonstrated in the author's forthcoming book 'Plato Rediscovered'.

in order to know and realise the 'Form of the Good' is such as to effect a self-transformation and self-realisation, with its immanent vision of the 'Form of the Good' ; and the vision of the Form of the Good is the vision of universal reality of that which "gives to the objects of kowledge their truth and to him who knows them the power of knowing."

Now one can very well imagine the historical genesis and intellectual context of the challenging problem put before Socrates in the Republic, viz, the challenge to prove that's soul can harbour no greater evil than injustice, no greater Good than Justice.' And with such an imagination and insigh it may be less difficult to follow the central thesis of the Republic as expounded through the mouth of the legendary Socrates.

वाल्मीकि रामायण में चिकित्सा-विज्ञान के प्रगति की झलक

डॉ० ज्योतिर्मित्र

मौलिक सिद्धान्त विभाग, स्नातकोत्तर आयुर्वेदीय संस्थान, का० हि० वि० वि०

वैदिक वाङ्मय के अनन्तर लौकिक संस्कृत साहित्य के आकाश में वाल्मीकि प्रणीत रामायण आद्य महाकाव्य के रूप में सूर्यवत् देदीप्यमान है जिसकी सरल, सरस एवं प्रवाहमयी शैली तथा मर्यादित अक्षुण्ण परम्परा से अनुप्राणित होकर उत्तरकालीन कवियों ने अपनी भाव-विभोर भावनाओं को रमणीयार्थ प्रतिपादक और रसात्मक काव्यों के रूप में मूर्तिमान कर दिया है। रतिक्रीड़ारत क्रौंचमिथुन के एक सदस्य को जब निष्ठुर स्वार्थी व्याध ने शरसन्धान से समाप्त कर दिया, तब इस घटना को देख कर परम कारुणिक महर्षि वाल्मीकि का हृदय द्रवित हो गया और सद्यः दैव प्रेरणा से यह अनुष्टुप् वृत्तयुक्त श्लोक मस्तिष्क की प्रतिक्रियावश उनके कण्ठरव से मुखरित हो उठा :

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमबधीः काममोहितम् ॥"

यही उपर्युक्त श्लोक वाल्मीकि रामायण का मूल कथा सूत्र है जिसके आधार पर ब्रह्मा के आदेशानुसार नारद की प्रेरणा से वाल्मीकि ने तत्कालीन सर्व-गुणसम्पन्न मर्यादा पुरुषोत्तम सम्राट् राम की पुण्यकथा को चौबीस हजार श्लोकों में निबद्ध कर राम को युग-युग के लिए लोकाभिराम एवं पुण्यश्लोक बना दिया।

इस महाकाव्य के नायक भगवान् राम धीरोदात्त प्रकृति के व्यक्ति हैं, इनकी धर्मपत्नी सीता नायिका हैं और रावण प्रतिनायक के रूप में वर्णित हैं। रामायण का उद्देश्य सत्य, मर्यादा एवं आदर्श के प्रतीक का चित्रण रहा है।

यह विश्वजनीन सिद्धान्त है कि कवि के रचित काव्य में भावनाओं एवं कल्पनाओं के अतिरिक्त तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक विचारों की सूक्ष्म छाया प्रतिबिम्बित होती है। इस काव्य-रत्नाकर का यदि अनुसन्धानात्मक दृष्टिकोण से अवगाहन एवं मन्थन किया जाय तो प्राप्त होने वाले अनेक महार्हरत्नों में चिकित्सा-विज्ञान अनेक अन्तःप्रभा-प्रभासित रत्नों के दर्शन किये जा सकते हैं। इस अनन्त रत्नप्रसू उदधि में आयुर्वेद की सामग्री प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। प्रस्तुत लेख में रामायणकालीन सामग्री को संचित कर उन्हें उचित स्वरूप में सजाकर आयुर्वेद के प्राचीन गौरव की एक झलक उपस्थित करने के प्रयोजन से उन्हें चिकित्सा-विज्ञान के इतिहासविदों के समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है।

जिस प्रकार ग्रीक कवि होमर प्रणीत इलियड महाकाव्य[१] चिकित्सा-विज्ञान के विविध विषयों पर प्रसंगवश प्रकाश डालता है उसी प्रकार यह महाकाव्य भारतीय चिकित्सा विज्ञान

---

[१] प्रस्तुत ग्रन्थ में प्राप्य चिकित्सा-सामग्री के संकेत के लिए देखिए—ज्योतिर्मित्रः (दिसम्बर, १९६३) शल्य-शास्त्र का इतिहास, सचित्र आयुर्वेद, कलकत्ता, पृ० ४९७ एवं ४९८।

के सभी अंगों के ज्ञान का परिचय प्रस्तुत करता है। यह महाकाव्य बाल, अयोध्या, अरण्य, किष्किन्धा, सुन्दर, युद्ध एवं उत्तर इस प्रकार सात काण्डों में विभक्त है। प्रत्येक काण्डों में अध्याय हैं और अध्यायों में हैं विद्यमान श्लोकों की सरस पंक्तियाँ—जिनको पढ़ने पर ऐसा प्रतीत होता है कि मानों तरंगें एक स्वर में कुछ गुनगुना रही हों। इन्हीं वीचिनिचयों को आयुर्वेदीय दृष्टिकोण से कतिपय धाराओं में बाँधकर शोधकर्ताओं के समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है।

अश्विनीकुमार

पुत्र के वनवास के शोक से मूर्च्छित महाराज दशरथ को जब चेतना प्राप्त हुई, तब उन्होंने सुमन्त्र नामक सारथि को बुलाकर पूछा कि क्या तुमने मेरे दोनों पुत्रों—राम एवं लक्ष्मण को, जिनका सौन्दर्य देवभिषक् अश्विनीकुमारों के समान हैं, वन के आभ्यन्तर प्रविष्ट होते हुए देखा है ?[१] विश्वामित्र के साथ स्वयंवर में आये हुए राम-लक्ष्मण के विषय में जनक विश्वामित्र से यह पूछते हैं कि ये आपके साथ अश्विनीकुमारों के समान अनुपम सौन्दर्यशाली ये दो नवयुवक कौन और किसके पुत्र हैं ?[२] देव वैद्य अश्विनीकुमारों का सौन्दर्य सर्वत्र अप्रतिम माना गया है।[३]

धन्वन्तरि

धन्वन्तरि का उल्लेख वैदिक वाङमय के किसी भी ग्रन्थ म दृष्टिगत नहीं होता। संभवतः रामायण ही लौकिक संस्कृत साहित्य का प्रथम ग्रन्थ है जिसमें समुद्र मन्थन द्वारा सदण्डकमण्डलु आयुर्वेदमय पुमान् धन्वन्तरि की उद्भूति प्रदर्शित की गई है।[४] इसके उत्तरकालीन सभी ग्रन्थों में धन्वन्तरि की चर्चा है।[५]

वैद्य

वैदिक साहित्य में कहीं भी वैद्य शब्द का प्रयोग दृष्टिगत नहीं होता। लौकिक साहित्य के इस मूर्धन्य ग्रन्थ में वैद्य शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम उपलब्ध होता है। समस्त ग्रन्थ में इस शब्द का आठ बार प्रयोग हुआ है। रामायण में केवल दो स्थलों को छोड़कर सर्वत्र[६] वैद्य

---

[१] अयोध्याकाण्ड ५८।१०

[२] बालकाण्ड ५०।१९, २०

[३] सुन्दरकाण्ड १३।५७

[४] बाल० ४५।३१, ३२

[५] धन्वन्तरि के विशद विवरण के लिए देखिए—महाभारत (आदि० १८।३८) हरिवंश (३।३०) भागवत (८।८, ३१।३५), वायुपुराण (३५।१०), विष्णु पुराण (४।९), ब्रह्माण्ड पुराण (अ० ३६), आदि।

[६] (क) अयो०७७।२१
(आ) अयो० १००।१३,
(ई) अयो० १००।२९०
(ई) अयो० १००।४२
(उ) अयो० १००।६०
(ऊ) युद्धकाण्ड १६।४

शब्द विद्वान् अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। केवल दो[१] ही स्थल ऐसे हैं जहाँ उन्हें चिकित्सक एवं व्यवसायी के रूप में स्पष्टतः उल्लिखित किया गया है। जिस प्रकार आज-कल पी०एच-डी०, डी०फिल्०, डी०लिट्०, डी०एस-सी० आदि उपाधियों से विभूषित व्यक्ति को डॉक्टर कहा जाता है जिसका तात्पर्य विद्वान्, मनीषी, चिन्तक एवं विचारक आदि होता है। सामान्य जनता आज डाक्टर पद से चिकित्सक का ही अर्थ समझती है। फारसी में भी प्रयुक्त हकीम शब्द विद्वान् अर्थ का ही बोधक है। चिकित्सक के लिए वैदिक ग्रन्थों में सर्वत्र भिषक्[२] शब्द का ही प्रयोग उपलब्ध होता है।

मौलिक सिद्धान्त विषयक सामग्री

पंचभूत एवं मन की शपथ खाते हुए महर्षि वाल्मीकि राम से सीता की पवित्रता का उल्लेख करते हैं।[३] इस प्रकार भूत शब्द का प्रयोग पंचमहाभूतों के अर्थ में प्रयुक्त प्रतीत होता है। महाबलवान् बालि ने जब रावण को अपनी काँख में दबाकर चारों समुद्रों तक घुमा दिया तब रावण बालि के गति की प्रशंसा करते हुए कहता है कि मुझे जहाँ तक ज्ञात है कि मन, वायु एवं गरुड़ की ही इतनी तीव्र गति होती है[४] किन्तु आपकी गति तो इनसे भी तीव्र है, यहाँ पर तीनों के लिए भूत शब्द का प्रयोग हुआ है जो संभवतः वस्तुवाचक प्रतीत होता है।

इन पंचमहाभूतों में केवल वायु का ही मनोहारी वर्णन हुआ है। कवि ने वायु के गुणों को एक पौराणिक आख्यान के माध्यम से प्रस्तुत किया है। भगवान् राम दक्षिणापथ के किसी मुनि से हनुमान् की उत्पत्ति के आख्यान को पूछते हैं। वह राम को इस प्रकार कथा सुनाता है। सुमेरु पर्वत के क्षत्र में राज्य करने वाले केसरी नामक राजा ने अपनी भार्या अंजना से वायु देवता की कृपावश एक पुत्र उत्पन्न किया। ऐसा कहा जाता है कि वायु ने उस शिशु को अपना एक अंश प्रदान किया। एक बार शिशु की माँ अंजना कहीं कार्यवंश बाहर गयी हुई थी। शिशु क्षुधा की पूर्त्ति के लिए फल के भ्रम से उदीयमान बाल सूर्य को पकड़ने के लिए उड़ पड़ा। उस शिशु के आकाश में उड़ने को देख कर देव, दानव एवं यक्ष आदि अत्यन्त आश्चर्यचकित हुए। वायु भी अपने पुत्र के पराक्रम को देख कर सूर्य के दाह के भय से रक्षा करने के लिए शीतलता उत्पन्न करता हुआ उसके पीछे-पीछे चलने लग गया। सूर्य ने अपने पास में आये हुए शिशु की बाल्यावस्था पर दया कर उसे जलाना उचित न समझा। ऐसी पूरी कथा है कि जिस दिन शिशु हनुमान् सूर्य को पकड़ने के लिए प्रवृत्त हुआ, उसी दिन राहु ने सूर्य के खाने की इच्छा प्रकट की। हनुमान् की इस प्रवृत्ति को देखकर समग्र वृत्तान्त इन्द्र को जाकर कह सुनाया और अन्त में बोला कि मेरी क्षुधा को दूर करने के लिए सूर्य और चन्द्रमा मुझ को दे दीजिए। इन्द्र तुरन्त

---

१ (अ) भूतोपहितचित्तेव मम चित्तप्रमाथिनी ।
सन्ति मे कुशला वैद्यास्त्वभितुष्टाश्च सर्वशः ॥—अयो० ११।३०

(आ) सुवर्णकाराः प्रख्यातास्तथा कम्बलकारकाः ।
स्नापकोष्णोदका वैद्या धूपकाः शौण्डिकास्तथा ॥—अयो० ८३।१४

२ मैकडोनेल एवं कीथ : वैदिक इण्डेक्स, पृ० ११५।११६

३ उत्तरकाण्ड ९६।३२

४ उत्तर० ३४।३९

तैयार हो अपने ऐरावत वाहन पर आरूढ़ हो राहु को आगे करके इस घटना को देखने के लिए चल पड़े। इधर शिशु राहु को आते देख उसको और भी अच्छा फल समझकर उसे पकड़ने के लिए दौड़ पड़ा। राहु डर के मारे इन्द्र की दुहाई देता हुआ पीछे भागा। इधर शिशु ने उसका पीछा किया तो उसे ऐरावत वाहन और भी अच्छा फल मालूम पड़ा और खाने की इच्छा से उसे पकड़ने के लिए दौड़ पड़ा। ऐसी विषम स्थिति देख कर इन्द्र ने अपने वज्र से शिशु पर प्रहार कर दिया। परिणामवश वह शिशु पर्वत पर गिर पड़ा और वायु इन्द्र पर क्रुद्ध होकर अपने शिशु को उठाकर गुफा में प्रविष्ट हो गया और उसके पश्चात् अपने कोप को प्रजाओं पर प्रदर्शित किया।[१]

प्रकुपित वायु के गुण

उस प्रकुपित वायु ने प्रजाओं के पुरीषाशय एवं मूत्राशय में प्रविष्ट होकर अत्यन्त वेदना (आर्त्ति) उत्पन्न करता हुआ समग्र प्राणियों के क्रियाकलाप को अवरुद्ध कर दिया। प्राणियों के निःश्वास एवं उच्छ्वास रुक गये। शरीर की सभी संधियों में पीड़ा (भेदन) प्रारम्भ हो गई और अन्ततोगत्वा सभी काष्ठवत् जड़ से हो गये। जन-समाज के स्वाध्याय, यज्ञयागादि सभी नित्य-नैमित्तिक कर्म अवरुद्ध हो गये।[२]

इस प्रकार सभी देव, असुर, मनुष्य एवं गन्धर्व दुःख से दुःखित होकर प्रजापति के पास कष्ट निवारणार्थ पहुँचे और दुःख दूर करने की प्रार्थना की। प्रजापति ने वायु के प्रकोप के कारण भूत इन्द्र वज्र प्रयोग की घटना को कह सुनाया और अन्त में यह भी कहा कि इन सब का मूल कारण राहु का कथन है।[३]

यह कुपित हुआ अशरीरी (अव्यक्त) वायु प्राकृत अवस्था में शरीर की समस्त क्रियाओं को प्रवर्तित करता हुआ सारे शरीर में भ्रमण करता रहता है। वायु के बिना यह शरीर काष्ठ एवं कुड्य (दीवाल) के समान हो जाता है इसीलिए यही प्राण है, यही सुख है और सम्पूर्ण संसृति इससे व्याप्त है। इस वायु से विरहित जगतीतल के प्राणी सुख से वंचित हो जाते हैं। यह वायु जगत् की आयु स्वरूप है। इस प्रकार वायु ने इस स्थल का त्याग कर दिया है इसलिए आप लोग निरुच्छ्वसित हो जाने के कारण काष्ठ एवं कुड्य के समान हो गये हैं। अतएव रुजा उत्पन्न करने वाला यह वायु (मारुत) जहाँ सम्प्रति निवास कर रहा है वहीं आप लोग उसको मनाने के लिए जाइये। इस प्रकार प्रजापति की आज्ञा से सभी व्यक्ति वायु के पास पहुँचे, जहाँ वह अपने पुत्र के साथ रह रहा था।[४]

पुत्र-वध से विषण्ण वायु ने जब देवता आदि के साथ पितामह को अपने समक्ष उपस्थित

---

१ उत्तरकाण्ड के ३५ वें सर्ग के ११ से ४९ श्लोकों का सारांश।

२ उत्तर० ३५।५२। रामायण के इस स्थल की तुलना सुश्रुत निदान १।९ एवं चरक, चि० २८।२०–२२ के तत्सम्बन्धी सन्दर्भों से करणीय है।

३ उत्तर० ३५।५३–५९ श्लोकों का सारांश।

४ उत्तर० ३५।६०–६३। इस सन्दर्भ की तुलना के लिए सुश्रुत नि० १।६, ७ तथा चरक सूत्र १८।४९ के स्थल द्रष्टव्य हैं।

देखा तो तुरन्त उनके चरणों में गिर पड़ा। वेदविद् ब्रह्मा ने अपने हाथ से शिशु का स्पर्श कर उसमें प्राण का संचार कर दिया। उसके अनन्तर वायु (गन्धवह), जो सभी प्राणियों की क्रिया-कलापों को अवरुद्ध किये हुए था; प्रसन्न गति से प्रवाहित होने लगा और जगती तल के सभी प्राणी प्रसन्न हो गये ।[१]

स्वभावोपरमवाद

कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है कि कार्यरूप द्रव्य का विनाश (भावोपरम) हेतु की अपेक्षा के विना स्वतः ही हो जाता है। नदी के जल की तरंगें संक्षोभ आदि हेतुओं से उत्पन्न होती हैं किन्तु वे स्वतः ही विलीन हो जाती हैं। नर्मदा नदी में कार्त्तवीर्य अपनी रानियों के साथ जलक्रीड़ा करने के लिए जब नर्मदा नदी के तट पर पहुँचता है तो वह नदी को शान्त (तरंगों के विलीन हो जाने के कारण स्वभावोपरम में स्थित) पाता है। चरक के समान रामायण में स्वभावोपरम शब्द का इसी उपर्युक्त प्रसंग में उल्लेख हुआ है।[२]

शल्य-क्रिया की पटुता

रामायण-काल में शल्य-शास्त्र का ज्ञान चरम उत्कर्ष को प्राप्त था, ऐसा एक पुरा-कथा से प्रतीत होता है। देवराज इन्द्र महर्षि गौतम की लावण्यमयी भार्या अहल्या पर कामवश मुग्ध था। एक दिन उनकी अनुपस्थिति में उसने गौतम मुनि का मिथ्या वेष बनाकर उनकी पत्नी के साथ सम्भोग किया। इधर ज्यों ही वह आश्रम से चलने को तत्पर हुआ, इतने में ही महर्षि गौतम स्नान आदि नित्य कर्मों से निवृत्त हो लौट पड़े और उनकी दृष्टि इस दुराचारी इन्द्र पर पड़ी और वे तुरन्त इन्द्र को पहचान गये। महर्षि के क्रोध से शापवश इन्द्र के दोनों अण्डकोष पृथ्वी पर गिर पड़े। उधर उन्होंने अपनी पत्नी अहल्या को भी शाप दे दिया। वह अपने पति के शापानुसार वहीं आश्रम में निराहार वायु मात्र का सेवन करती हुई सब प्राणियों से अदृश्य होकर भगवान् राम के उस आश्रम के आने तक प्रतीक्षा करती रही, अन्त में राम के स्पर्श से उसका उद्धार हो जाता है। शाप से अण्डकोषों का गिरना कवि की आलंकारिक प्रतिभा का चमत्कार है। वस्तुतः इसका निर्गलितार्थ यह है कि क्रोध से महर्षि गौतम ने इन्द्र के उन्हीं अण्डकोषों को काट डाला, जिनके करण उसने व्यभिचार किया था। इस प्रकार से वह शिथिल काय वाला इन्द्र देवताओं की सभा में अपने ऊपर संवृत्त घटना को कह सुनाया। इस दुःखद वृत्तान्त को सुन कर सभी देवगण मरुद्गणों के साथ अग्नि को आगे कर पितृदेवों के पास पहुँच गये और सारी रामकहानी कह सुनाई। अग्नि इत्यादि की प्रार्थना को सुनकर उनका हृदय करुणा से आर्द्र हो गया और उन्होंने उन लोगों की इच्छानुसार मेष के वृषणों को काटकर इन्द्र में लगा दिये।[३]

उपर्युक्त वर्णन के संकेत से यह ज्ञात होता है कि उस समय शल्य-शास्त्र में प्रत्यारोपण प्रक्रिया (Transplantation Method) का अच्छा ज्ञान था और उसका अभ्यास चिकित्सक समाज में विद्यमान था।

---

[१] उत्तर० ३६।४, ५

[२] उत्तर० ३२।१०

[३] बाल० ४९।८, १०

प्रासूतिक शल्यक्रिया (Operative Midwifery)

लंका की सभी राक्षसियाँ जब सीता को रावण की पत्नी बनाने में असमर्थ रहीं तो एक-एक करके सीता के प्राणहर प्रक्रियाओं का नाटक करने लगीं। ऐसी विकट परिस्थिति को देख कर सीता अत्यन्त दुःखित होकर कहने लगी कि यदि आर्यपुत्र राम मुझे लेने शीघ्र न आयें तो निश्चित ही है कि ये दुष्ट राक्षसियाँ मुझे उसी प्रकार तीक्ष्ण शस्त्रों से काट डालेगी, जिस प्रकार कोई शल्य-चिकित्सक (प्रसुति शल्यविद्) मूढ़ गर्भ होने पर गर्भस्थ जन्तु को बाहर निकालने के लिए काट डालता है।[१] इस सन्दर्भ से यही प्रतीत होता है कि उस समय के चिकित्सक शल्य-क्रिया में पटु होते हुए प्रासूतिक शल्योपचार को भी करते थे।

शल्य एवं मर्म का ज्ञान

सुश्रुत ने मन एवं शरीर को दुःखित करने वाली वस्तु को शल्य कहा है।[२] इस अर्थ का द्योतक शल्य शब्द रामायण में भी दृष्टिगत होता है। लक्ष्मण अग्रज राम के आदेशानुसार, सीता को साथ लेकर गंगा तट पर पहुँच वनवास प्रयोजन का संकेत करते हुए सीता से कहते हैं कि अयि आर्ये! परम बुद्धिमान् भगवान् राम ने लोकापवाद के भय से जो आपको वनवास देना निश्चित किया है वह मुझे हृद्गत महाशल्य प्रतीत हो रहा है।[३]

सीता सहित राम एवं लक्ष्मण के वनवास को सुनकर शोक सन्तप्त दशरथ इस घटना के हेतुभूत के रूप में अपने दुष्कृत्य को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि एक बार मैं सरयू नदी के तट पर धनुष-बाण लिए हुए विचरण कर रहा था। इतने में मुझे एक ऐसी ध्वनि सुनाई पड़ी जिससे ऐसा आभास हुआ मानों घड़े में कोई पानी भर रहा हो या कोई हाथी गरज रहा हो। सायंकालीन वेला होने से वह घटना दृष्टिगत होनी कठिन थी अतएव मैंने यह अनुमान किया कि निश्चित रूप से यह किसी जंगली पशु की ध्वनि है अतएव मैंने शब्दवेधी बाण चलाकर अज्ञानवश मातृ-पितृ भक्त किसी ऋषिकुमार को बाण से मार दिया। जब मैं उसके आर्त्तनाद से उसके निकट पहुँचा तो उसने अपने अन्धे माता-पिता का निर्देश कर मुझसे शरशल्य को निकालने के लिए कहा और अपनी चरम इच्छा प्रगट करते हुए कहा कि राजन्! मेरे शरीर में प्रविष्ट शल्य को शीघ्र निकालकर मुझे सुखपूर्वक मरने दो क्योंकि जब तक शल्य नहीं निकालोगे तब तक मैं तड़पता रहूँगा किन्तु शल्य निकलते (विशल्य) ही मैं मृत्यु को प्राप्त हो जाऊँगा।[४] प्रस्तुत दशा "विशल्यघ्न' मर्म नें पायी जाती है।[५]

शव-सुरक्षा विधि (Method of Deadbody Preservation)

रामायणकालीन शव-सुरक्षा का ज्ञान मिस्र देशीय पद्धति से कहीं उन्नतर था।

---

१ सुन्दर० २८।६। सुश्रुत की मूढ़गर्भ चिकित्सा (चि० १५।२२, १३) वाले सन्दर्भ से इसकी पूर्णतया तुलना की जा सकती है।

२ सुश्रुत सूत्र० ७।४

३ उत्तर० ४७।४

४ अयो० ६३।४५, ४६

५ सुश्रुत ने पंचविध मर्मों में विशल्यघ्न मर्म का उल्लेख किया है जिसका सकारण विवेचन शारीस्थान ६।१६ के सन्दर्भ से सम्यक्तया अवगत किया जा सकता है।

दशरथ के दिवंगत हो जाने पर भरत के न आने तक दशरथ के शव को औषध सिद्ध तैल से परिपूर्ण द्रोणी (oil tub) में रखा गया था।[१] आज भी तैल में अचार डालने की प्रथा इसी सिद्धान्त को पुष्ट करती है।

न्यायवैद्यक का ज्ञान (Knowledge of Medical Jurisprudence)

शल्य-शास्त्र के अवान्तर शाखाभूत न्यायवैद्यक के ज्ञान का संकेत रामायण में दीख पड़ता है। मेघनाद द्वारा प्रयुक्त अव्यर्थ शक्ति के प्रयोग से मूच्छित लक्ष्मण को देख कर राम को यह भ्रम हो गया कि संभवत: लक्ष्मण का प्राणान्त हो गया है अतएव वह विषाद की गंभीर मुद्रा में मग्न हो गये। राम को इस प्रकार विपन्न देखकर सुखेन प्रतिपत्तिमान् सुषेण चिकित्सक ने लक्ष्मण में जीवन के लक्षणों को दिखलाते हुए उनकी भ्रान्ति का इस प्रकार निराकरण किया : इसका मुखमण्डल न तो विकृत ही हुआ है और न श्यामता को ही प्राप्त हुआ है। निष्प्रभा कहीं परिलक्षित नहीं होती। इसके विरुद्ध दीर्घायुष्मान् लक्ष्मण का मुखमण्डल प्राकृत, प्रसन्न एवं प्रभावान् दीख पड़ता है। इसकी हथेलियाँ लाल कमल के समान लाल-लाल दिखाई पड़ती हैं। इसके अतिरिक्त दोनों नेत्र भी प्रसन्न एवं प्राकृत दीख पड़ते हैं। अतएव हे महाबाहु राम! मृत प्राणी के जो भी लक्षण होते हैं वे इस आयुष्मान् लक्ष्मण में बिल्कुल नहीं मिलते। इस प्रकार आपका विषाद करना उचित नहीं। इस वीर एवं दीर्घायु लक्ष्मण का शरीर केवल शिथिल होकर भूतल पर मूर्च्छित पड़ा हुआ है। इसका हृत्प्रदेश उच्छ्वास के कारण बारम्बार कापता हुआ दीख पड़ रहा है अत: भयभीत होने की कोई आवश्यकता नहीं। यह लक्ष्मण जीवित है।[२] आधुनिक न्याय वैद्यक के ग्रन्थों में प्रायश: उपरितन व्यतिरेक विधि से वर्णित मृत्यु के लक्षण कहे गये हैं।[३]

काय-चिकित्सा विषयक सामग्री

समग्र रामायण में काय-चिकित्सा के विविध विषयों की सामग्री विद्यमान है :

व्याधि के भेद

जिस प्रकार सुश्रुत (सू० १।२४) में आगन्तुक, शारीर, मानस एवं स्वाभाविक भेद

---

१ अयो० ६६।१६

२ युद्ध० १०२।१५।१९

3 The signs of death are :
(i) Entire and continuous cessation of circulation and respiration.
(ii) Changes in the eye.
(iii) Changes in the skin.
(iv) Cooling of the body.
(v) Cadaveric lividity, hypostasis, suggilation.
(vi) Cadaveric changes in the muscles.
(vii) Decomposition.
(viii) Adipocere.
(ix) Mummification.

—Modi, J. P.: A Text book of Medical Jurisprudence and Taxicology, P. 116.

से चार प्रकार की व्याधियों के विभाग का निर्देश है उसी प्रकार रामायण[१] में प्रसंगवश उपर्युक्त प्रकार की व्याधियों का यत्र-तत्र संकेत प्राप्त होता है।

ज्वर शब्द का प्रयोग

अथर्ववेद की पैप्लाद शाखा (३।३७) के अतिरिक्त वैदिक वाङ्मय में कहीं भी ज्वर शब्द का उल्लेख नहीं मिलता। संभवतः रामायण लौकिक साहित्य का प्रथम ग्रन्थ है जहाँ पर सर्वप्रथम ज्वर शब्द का प्रचुरता से प्रयोग दृष्टिगत होता है। चरक ने ज्वर को रोग के अतिरिक्त उसे रोग का एक पर्याय भी माना है।[२] रामायण में सर्वत्र ज्वर शब्द का प्रयोग दुःख अर्थ में ही हुआ है।[३]

शुभ एवं अशुभ (अरिष्ट) स्वप्नों का निरूपण

चरक ने सात प्रकार के स्वप्नों का उल्लेख किया है[४] जिसमें से भाविक स्वप्न का निर्देश रामायण में है। ये भाविक स्वप्न शुभाशुभ फलसूचक हुआ करते हैं। भरत अपने ननिहाल में आये हुए हैं। अयोध्या में राजा दशरथ का देहावसान हो गया है अतएव भरत को बुलाने के लिए दूत ज्यों ही कैकय राज्य की सीमा में प्रवेश करता है उसी रात्रि में भरत को अप्रिय स्वप्न दिखलाई पड़ता है। भरत इस दुःस्वप्न को अपने मित्रों से बताते हुए कहते हैं कि मैंने गत रात्रि में अपने पूज्य पिता को, जिनके केश अस्त-व्यस्त हैं, पर्वत की चोटी से गन्दे गोबर के तालाब में गिरते हुए देखा है वह गिरकर उस तालाब में तैरते हुए बारम्बार हंसकर अपनी अंजलि से तेल पी रहे हैं। ठीक उसके पश्चात् तिल और भात (ओदन) को खाकर, अधःशिर (अवाक्शिराः) होकर और तैलाभ्यक्त होकर पुनः तैलराशि में घुस गये। पुनः देखता हूँ कि संसार अन्धकार से आवृत हो गया है, समुद्र शुष्क हो गया है, चन्द्रमा आकाश से टूट कर पृथ्वी पर गिर पड़ा है, पर्वतों पर धुवाँ दिखलाई पड़ रहा है और वृक्ष सूख गये हैं। कृष्ण लौह से निर्मित आसन्दी (कुर्सी) पर काला वस्त्र धारण कर बैठे हुए पिता जी पर काले एवं पिंगल (धूसर) वर्ण की प्रमदायें प्रहार कर रही हैं। इतने में पुनः देखता हूँ कि पिताजी ने लाल मालायें धारण कर ली हैं और गदहे पर सवार हो दक्षिण दिशा की ओर प्रस्थान कर रहे हैं और उनको देख कर वे प्रमदायें लाल वस्त्र धारण किये हुए हँस रही हैं। अतएव इस प्रकार के स्वप्न को देख कर मुझे ऐसी आशंका हो रही है कि या तो मेरे पिता दशरथ या मेरे अनुज लक्ष्मण का प्राणान्त होने वाला है।

---

[१] शारीरव्याधि—बाल० १।९२
मानस व्याधि यु० ३।३९
स्वाभाविक व्याधि बाल० १।९३
आगन्तुक व्याधि तो युद्ध के प्रसंग में पदे-पदे उल्लिखित है।

[२] चरक निदान १।५

[३] अयो० ७५।४९, युद्ध० ८।२३, ६३।५६, ५७, १२८।३

[४] अयो० ६९।७।१८ प्रस्तुत सन्दर्भ की तुलना चरक इन्द्रिय० ५।३२—३९ के स्थल से की जा सकती है।

इसी प्रकार के अनिष्टकर भाविक स्वप्न को त्रिजटा नाम की राक्षसी लंका की उन राक्षसियों को उनके अनुरोध से सुना रही है जिनको रावण ने सीता को डराने के लिए भेज रखा है। यह वक्ष्यमाण स्वप्न रावण की अनिष्टता का सूचक है। त्रिजटा अपने द्वारा देखे गये स्वप्नों के वृत्तान्त से सुनाती हुई कहती है कि मैंने रावण को तैलाभ्यक्त पृथ्वी पर बैठा हुआ देखा है। वह लाल कपड़े पहने हुए तथा कनेर (करवीर) की मालाओं को धारण किये हुए मदिरा पान में मस्त है। इसके पश्चात् क्या देखती हूँ कि पुष्पक विमान से रावण पृथ्वी पर गिर पड़ा है उसके सिर पर बाल नहीं है और वह रक्त वस्त्र धारण किये हुए है जिसको कोई स्त्री खींच रही है। पुनः देखती हूँ कि चन्दन का लेप किये हुए तथा लाल मालायें धारण कर वह रावण गदहों से खींचे जाते हुए रथ पर सवार है। उसी पर आसीन हुआ तैल पीकर हंसते हुए नाच रहा है और वह परेशान एवं व्याकुल-सा प्रतीत हो रहा है। ठीक इसके पश्चात् वह गदहे की सवारी से दक्षिण दिशा की ओर चला गया। पुनः देखती हूँ कि वह गदहे की सवारी से डर कर उल्टे शिर पृथ्वी पर गिर पड़ा किन्तु उसके बाद वह शीघ्र उठ पड़ा है उसकी दयनीय दशा हो गई है। वह मद-विह्वल होकर भय से काँप रहा है। वह नग्न होकर पागल के समान बारम्बार अण्ड-बण्ड बक रहा है। वह अत्यन्त दुर्गन्धित, घोर अन्धकार से युक्त नरकतुल्य कीचड़ को शरीर पर लेप किये हुए तथा लाल वस्त्र धारण किये हुए कोई प्रमदा रावण के गर्दन को बाँधकर उसे दक्षिण दिशा की ओर घसीटती हुई ले जा रही है। मैंने यही दुर्दशा कुंभकर्ण की भी देखी। रावण के सभी पुत्र शिर मुड़ाये हुए तैलाभ्यक्त खड़े हैं। रावण सुअर, मेघनाद शिशुमार एवं कुंभकर्ण ऊँट की सवारी पर चढ़ कर दक्षिण दिशा की ओर प्रस्थान कर रहा है।[१]

यही त्रिजटा स्वप्न में देखी गई लंका की दुर्दशा का वर्णन करती हुई कहती है कि मैंने लाल वस्त्र एवं लाल माला धारण किये अनेक राक्षसों एवं हाथी-घोड़े व रथों से परिपूर्ण लंका नगरी, जिसका मुख्य द्वार (गोपुर) और चहारदीवारी टूट गई है; को समुद्र में गिरते हुए देखा है। रामदूत हनुमान ने लंका को भस्मसात् कर दिया है। लंका की राक्षसियाँ तैल पीकर हँसती हुई नाच रही हैं और भयंकर ध्वनि करती हुई गोबर के तालाब में घुसती जा रही हैं। इसी प्रकार सभी कुंभकर्ण आदि राक्षस लालवस्त्र धारण किये हुए गोबर के तालाब में घुसते जा रहे हैं।[२]

इन उपरितन तीनों स्थलों का वर्णन प्रायः एक जैसा ही है। रामायण में शुभसूचक मंगलकारी स्वप्नों का भी उल्लेख दृष्टिगत होता है जो कि चरक के तत्सम्बद्ध स्थल के साथ पर्याप्त साम्य रखता है।

त्रिजटा लंकावासियों के लिए अमंगलकर स्वप्नों के सुनाने से पूर्व सीता के पक्ष का अवलम्बन कर राम के जय के लिए संभावित मंगलमय स्वप्न को सुनाती हुई कह रही है कि मैंने स्वप्न में आकाश में विचरण करनेवाली हाथी के दाँत से बनी हुई शिविका (विमान जैसी डोली) पर अधिष्ठित हजारों हंसों से अनुगत श्वेतमाला धारण किये हुए राम को लक्ष्मण सहित

---

१ सुन्दर० २७।२३।३२

२ सुन्दर० २७।३६।४०

देखा है। सीता भी श्वेत वस्त्र एवं श्वेत माला धारण किये हुए हैं। राम एवं लक्ष्मण की उपस्थिति में सीता सूर्य एवं चन्द्र को अपने हाथ से स्पर्श करती हुई आठ घोड़ों से वाहित रथ पर सवार है। इसके पश्चात् पुष्पक विमान पर चढ़ कर तीनों उत्तर दिशा की ओर चले गये।[1]

भोजन एवं पान (Food and Drinks)

रामायण में अन्न के अतिरिक्त मांस के खाने का भी निर्देश है। मद्य के अनेक प्रकारों का उस समय प्रचलन था।

मांस का भोजनार्थ प्रयोग (Non-vegetarian Food)

रामायणकालीन जन-समाज में मांस का पूर्ण रूप से व्यवहार होता था। अन्न, फल, कन्द आदि का प्रयोग तो प्रचलित था ही। 'मांसं बृहंणीयानाम्' (च० सू० २५।४०) इस प्रकार चरक के अनुसार शरीर बृहंण करने वाले पदार्थों में मांस को उत्तम माना गया है। वनवास में यमुना नदी पार करने के अनन्तर चित्रकूट निवास से पूर्व लक्ष्मण अनेक मेध्य (यज्ञ कर्म की आहुति के लिए प्रशस्त) मृगों का वध करते हैं। इस प्रकार ऐणेय मृग को मारकर उसके मांस को लाकर राम को बलिवैश्यदेव यज्ञ करने को देते हैं।[2] ऋष्यमूक मार्ग निर्देश के प्रसंग में कबन्ध नामक कोई व्यक्ति लक्ष्मण को हंस, बत्तख (प्लव), क्रौंच, कुरर पक्षियों के साथ रोहू एवं वक्रतुण्ड जैसी मछलियों को उनके छिलकों से पृथक कर अयस्तप्त (लौह के पात्र में भूनकर) करके राम के भोजनार्थ देने का निर्देश करता है।[3] चरक ने हिततम मांस आहार में रोहित (रोहू) मछली के मांस की प्रशंसा की है।[4]

निरामिष भोजन (Vegetarian Food)

निरामिष भोजन में भोज्य, भक्ष्य, लेह्य एवं पेय द्रव्यों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग होता था। आयुर्वेद के आहार विधि विशेषयातन[5] के दृष्टिकोण से विश्वामित्र के आतिथ्य प्रसंग[6] में षट् रस से युक्त व्यंजन में दही के साथ दाल और भात (ससूपौदन) का उल्लेख है। सुमन्त्र वनवास के लिए जब अपने रथ से राम, लक्ष्मण एवं सीता को नदी तट पर उतारता है तब उसी समय वहाँ पर वृद्धजनों, सम्बन्धियों एवं अपने अमात्यों के साथ निषादाधिपति गुह इन तीनों का भोज्य आदि चतुर्विध भोजन से सत्कार करता है।[7] रावण की पानभूमि (मदिरापान का स्थान) में विविध भोज्य द्रव्यों के साथ रागषाडव की भी उपस्थिति

---

[1] सुन्दर० २७।९–२० तथा तुलना करिये चरक, इन्द्रिय १२।७४, ७६, ७७, ८२, ८५, ८६ के श्लोकों से।

[2] अयो० ५५।५३, ५६।२२, २३, २५।२८, ३०, ३१।

[3] अरण्य० ७३।१४–१६

[4] चरक सूत्र० ४६।११५

[5] चरक वि० १।२१

[6] बाल० ५३।२—४

[7] अयो० ५०।३९ इस प्रसंग में चरक सूत्र० २८।३ एवं सुश्रुत सूत्र० ४६।३ के स्थल विशेष सामंजस्यकर हैं।

दीख पड़ती है।[१] कच्चे आम के फल को गुड़ में पकाकर यदि उसमें सोंठ, पिप्पली, मिर्च आदि प्रक्षेप डाल दिये जाँय तो उसे 'रागषाडव' कहते हैं। भरद्वाज के आश्रम में भरत के आतिथ्य के लिए पायस एवं रसाला तैयार कराई गई है।[२] घृत एवं मधु का प्रयोग तो सर्वत्र ही रामायण में दृष्टिगत होता है।

विविध प्रकार के मद्यों का प्रयोग (Use of various beverages)

मांस के अतिरिक्त जन-समाज में मद्य का भी पूर्णतया प्रचलन था। रामायण में कहीं-कहीं मद्य का पान पृथक् रूप से उल्लेख है और कहीं-कहीं तो मांस खाने के पश्चात् मद्य का प्रयोग विहित है। लंका की विजय कर भगवान् राम अयोध्या आ गये हैं और वे सीता के साथ अशोक वटिका में कुश के आसन पर बैठे हुए अनेक प्रकार के मधुर फलों एवं मांसों को सीता को खिलाकर पवित्र एवं स्वच्छ (शुचि) मैरेयक मद्य का पान करा रहे हैं।[३]

मद्यपान के लिए रावण ने अपनी लंका में पानभूमि बनवा रखी है। सीता की खोज में भटकते हुए हनुमान् जब रावण के अन्तःपुर में प्रवेश करते हैं तो उन्हें पानभूमि दिखलाई पड़ती है। लंका की वह पानभूमि इतनी सुन्दर, स्वच्छ एवं चमकदार बनी हुई है कि मानों वहाँ बिना अग्नि के अग्नि दीप्त मालूम पड़ती हो। उस पानभूमि पर स्वच्छ गद्दा बिछा हुआ है किनारे किनारे मसनद रखे हुए हैं। लेटने के लिए जो चादरें बिछी हैं उन पर फूलों की पंखुड़ियाँ पड़ी हुई हैं और साथ ही साथ सुगन्धित पुष्पों की मालायें भी पड़ी हुई हैं। स्वर्णनिर्मित थालों एवं तश्तरियों में मृग, मयूर, मुर्ग (कुक्कुट), सूअर, वाध्रीण, सक, भैंसा एवं बकरे के मांसखण्ड तले हुए रखे हैं। नृत्य करने वाली प्रमदाओं के हार, केयूर एवं नुपूर (पायल) इधर-उधर बिखरे पड़े हैं। उस पानभूमि में दिव्य, स्वच्छ (प्रसन्ना) विविध प्रकार की सुरायें एवं कृत सुरायें, शर्करासव, माध्वीकासव, पुष्पासव एवं फलासवों के साथ रखी हुई हैं। मणिमय, जाम्बूनद (सुवर्ण) एवं रजत से निर्मित चषकों में, जो वर्फ के आभ्यन्तर शीलता की दृष्टि से रखे हुए हैं, शीघ्र मद्य पड़ा हुआ दृष्टिगत हो रहा है। इसके अतिरिक्त वहाँ अनेक प्रकार के लेह्य, पेय एवं भोज्य द्रव्य भी उपस्थित हैं[४] चरक[५] एवं अष्टांग संग्रह[६] में इसी प्रकार की पानभूमि का वर्णन निहित हैं।

चरक प्रतिपादित अष्टविध आसवयोनियों में पुष्पासव एवं फलासव का उल्लेख है। चरक (सूत्र० २५।४९) ने शर्करासव को अष्ट आसवों से पृथक् माना है। रामायण काल

---

[१] सुन्दर० ११।१७ चरक (सूत्र० २७।२८१) ने रागषाडव के गुणों का इस प्रकार वर्णन किया है :

कट्वम्लस्वादुलवणा लघवो रागषाडवाः ।
मुखप्रियाश्च हृद्याश्च दीपना भक्तरोचनाः॥

[२] अयो० ९१।७३ रसाला एवं पायस के निर्माण एवं गुण के लिए देखिए क्रमशः चरक सूत्र० २७।२७८ एवं सुश्रुत सूत्र० ४६।३४५

[३] उत्तर० ४२।१८, १९

[४] सुन्दर० ११।२०, १९, १४।१६, २१, २२, २५

[५] चरक चि० २४।१३–१५, १८, १९

[६] अष्टांगसंग्रह चि० ९

में मद्यों का बहुलता से प्रचार मालूम पड़ता है ।[१] संभवतः मधु शब्द का प्रयोग रामायण में मद्य के अर्थ में हुआ है । अमरकोषकार मधूक (महुआ) पुष्पों से निर्मित मद्य को मधु कहता है । समग्र रामायण में मधु शब्द का प्रयोग केवल दो स्थलों पर हुआ है । एक तो वह प्रसंग है कि जब विभीषण राम के पास चले जाते हैं तो लंका का कोई प्रहस्त नामक राक्षस सुग्रीव आदि के वध की प्रतिज्ञा करता हुआ मदमत्त होकर अन्य राक्षसों से मधु पीने को कहता है ।[२] दूसरा प्रसंग यह है कि भगवान् राम जब लंका को जीत कर अयोध्या में वानरों का सत्कार करते हैं तब वहाँ वानरों द्वारा सुगन्धित मधु का पान उल्लिखित है ।[३] इसी सन्दर्भ में वर्णित मधु पिंगला[४] नाम की कोई सुरा भी दृष्टिगत होती है किन्तु जिसका उल्लेख आयुर्वेद के किसी भी ग्रन्थ में दृष्टिगोचर नहीं होता । मद्य के पर्याय के रूप में वारुणी शब्द का प्रयोग तीन स्थलों पर दृक्पथातिथीभूत होता है । बालकाण्ड के उस प्रसंग (४५।३५) में जहाँ समुद्रमन्थन से प्राप्त द्रव्यों की गणना की जाती है । अन्यत्र कुंभकर्ण राक्षसों को आनन्दपूर्वक वारुणी पान करने का निदेश कर युद्ध के लिए चला जाता है ।[५] पादटिप्पणी के २ अंक के सन्दर्भ में भी वारुणी शब्द का प्रयोग हुआ है जिससे प्रतीत होता है कि वारुणी मधु से पृथक् एक भिन्न ही वस्तु थी जो सामान्यतः सुरा के अर्थ में व्यवहृत होती थी । चरक द्वारा निर्दिष्ट धान्यासव के अन्तर्गत मैरेय सुरा भरद्वाज द्वारा आतिथ्य प्रसंग में बलिकर्म के लिए प्रयुक्त हुई है ।[६] मदिरा शब्द की तरलता एवं मादकता से उस समय का जन-समाज पूर्णतया परिचित था संभवतः इसी कारण स्वर्ण मृग प्रेक्षण के अवसर पर वाल्मीकि ने सीता को मदिरेक्षणा का विशेषण दिया है । ।[७]

जैसा कि उपर्युक्त पंक्तियों में उल्लेख किया जा चुका है कि मद्य के साथ-साथ मांस सेवन की परम्परा उस काल में प्रचलित थी । यह परम्परा वैज्ञानिक आहार-शास्त्र के सर्वथा अनुकूल ही प्रतीत होती है क्योंकि आयुर्वेद में कहा गया है कि आनूप या जांगल मांस मद्य के बिना अच्छी प्रकार से पच नहीं पाता ।[८] सुरा थकावट को दूर करने में सबसे उत्तम औषध है ऐसा चिकित्सा-विज्ञान का सिद्धान्त है ।[९] रामायण में राम सीता विहार कें प्रसंग में राम के आभ्यन्तर आनन्दानुभूति के उद्रेक के लक्षणों का जो चित्रण किया गया है[१०] वह सुश्रुत द्वारा प्रतिपादित सत्वादि त्रिविध प्रकृतियों के भेद से मद्यज मद के सत्वप्रकृति वाले गुणों से पर्याप्त समता रखता है ।[११]

---

१ युद्ध० १।३३
२ युद्ध ८।२३, २४
३ उत्तर० ३९।२६
४ उत्तर० ३९।२६
५ युद्ध० ६३।५७
६ अयो० ९१।१५, ७० तथा तुलना करें च० सू० २७।१८७
७ अरण्य० ४२।३२
८ चरक चि० ८।१६३।१६५
९ चरक सूत्र० २५।४०
१० उत्तर० ४२।१८, २०–२२, २४
११ सुश्रुत सूत्र० ४५।०७

द्रव्यगुण शास्त्र विषयक सामग्री

वाल्मीकि रामायण में द्रव्य गुण शास्त्र के विषय की सामग्री चिकित्सा-शास्त्र के अन्य अंगों की अपेक्षा कहीं अधिक प्रचुर मात्रा में विद्यमान है।

विविध प्रकार की वनस्पतियों का निर्देश

पर्वत, नदी तट, सर एवं विहारोद्यान में उगने वाली अनेक औषधि वनस्पतियों का रामायण में प्रसंगवश यत्र-तत्र उल्लेख है[१] ऐसी वनस्पतियों का स्थल निर्देश के साथ अकारादि अनुक्रम से विद्वान पाठकों के समक्ष संग्रह कर प्रस्तुत किया जा रहा है :

१—अगुरु अयो० १४।२९, १७।३
उत्तर० ४२।२

२—अग्निमुख्य (भल्लातक)
अरण्य० ७३।५ द्य

३—अंकोल
अयो० ९४।८
कि० १।८०
युद्ध० ४।८४

४—अर्जुन
अर० ७५।१८
कि० १।८१, कि० २७।१०, कि० २८।४, ८, ३४
युद्ध० ४।८३ उत्तर ० ४२।४

५—अतिमुक्तक (तिनिश)
उत्तर० ४२।४

६—अरिष्ट अयो० ९४।९

७—अशोक
अर० १५।१७,
अर० ४२।३१, ५६।३०, ६०।१७
अर० ७५।१७
कि० १।२९,
सुन्दर० १०।४, १४।३,
युद्ध० ४।७४, २२।५७,
उत्तर० २६।५, ४२।३,

८—अश्वकर्ण
अर० १५।१८, यु० २२।५६,
युद्ध० ५९।७७

९—अश्वत्थ
अयो० ९१।४९
अर० ७३।३

१०—असन
अयो० ९४।८, अर० ६०।२१
कि० ३०।६०, सु० २।१०,
उत्तर० ४२।३

११—आम्र
बाल० ५।१२
अयो० ३५।१४, ६३।८, ९१।३०, ९४।८, अर० १५।१६, ४२।३१, ६०।२१, ७३।३,
कि० १।८१, २८।१९, सुन्दर० १०।२३ १४।३, युद्ध० ४।७४, २२।५७, ५९।७७, उत्तर० २६।५, ४२।८

१२—आमलकी
अयो० ९१।३०, ३१

१३—इंगुदी
अयो० ५०।२८, ३०,
८७।२२

---

[१] मार्ग में उगने वाली लता, वल्ली, गुल्म आदि का रामायण काल में वानस्पतिक वर्गीकरण के अनुसार ज्ञान प्रतीत होता है :—
(अ) अयो० ८०।५, ६
(आ) उत्तर० ३०।९

१४—इक्षुकाण्ड
अयो० ९१।१५, १६

१५—इषीका
अयो० ३०।१२

१६—उत्तरच्छद
अयो० ९४।२४

१७—उत्पल (कमलभेद)
सुन्दर २।१२, १५।४
युद्ध० ४।८८

१८—उद्दालक
कि० १।८२, ४२।७
सुन्दर १४।३, ३६, १५।९

१९—उशीरबीज
उत्तर० १८।२

२०—कक्कोल
अर० ३५।२२

२१—ककुभ (अर्जुन)
अर० ६०।१५
कि० ५०।२५

२२—कदम्ब
अर० ६०।१२, ७३।४
कि० २७।१०, २८।१८, ३४, ४२
उत्तर० २६।४, ४२।५

२३—कदली
अर० ४७।४९, ६२।४
उत्तर० ४२।४

२४—कन्दल
कि० २८।३४

२५—कपित्थ
अयो० ९१।३०

२६—कपिमुख
सुन्दर० १४।३

२७—कमल
अयो० ५६।५, ९४।२४

२८—करंज
युद्ध० ४।७५

२९—कर्णिकार
अयो० ९२।२३
अर० ४२।३१, ६०।२०, ६२।५, ७३।३
कि० १।२१, १।७३, ४०।५६, ५०।२६
सुन्दर० २।९, १५।८
युद्ध० २२।५७
उत्तर० २६।४

३०—करवीर
अर० ७३।४, ७५।१६
कि० १।७६,
सुन्दर० २।१०, २७।२३
युद्ध० ४।७५

३१—काश
अयो० २८।२२, ३०।१२
अर० १५।२२

३२—काश्मरी
अयो० ९४।९

३३—कुटज
कि० २८।४, १४
सुन्दर० २।९
युद्ध० ४।८३, २२।५६

३४—कुन्द
अर० ४२।१७, ७५।१६
कि० १।७७, २७।१०
युद्ध० ४।८१

३५—कुमुद
युद्ध० ४।८८

३६—कुरण्ट
कि० १।८०, २७।१०

३७—कुरबक
अर० ६०।२१
कि० १।८२
युद्ध० ४।८३

३८—कुष्ठ (कूठ)
अयो० ९४।२४

३९—कुश
अयो० २८।२२, ३०।१२, ६१।१७
अर० १५।२२
४०—कृतमालक (करंजभेद)
(करंजभेद)
कि० २७।१८
४१—केतक (केंवड़ा)
अर० १५।१७, ६०।२२, ७५।१७
कि० १।८२, २७।१७, १।८, २८।८
२८, ४२।८
सुन्दर० २।९
४२—कोयष्टिक[२]
अर० ७५।१८
४३—कोविदार
कि० १।८१, ३०।६०
सुन्दर० २।१०
उत्तर० ४२।५
४४—खदिर
बा० १४।२२
अयो० ६१।१७
अर० १५।१८
युद्ध० २२।५९
४५—खर्जूर
अर० १५।१६, १६।१७
कि० १।७९
सुन्दर० २।९
४६—गन्धपूर्ण
सुन्दर० २।१०
४७—चन्दन
अयो० ८०।१४, ९१।७५
अर० १५।१८
कि० १।८३, ४६।१८
सुन्दर० ९।१८, १४।४४
युद्ध० १२५।२
उत्तर० ४२।२
४८—चन्द्र[१]
युद्ध० ५०।३१
४९—चम्पक
अर० १५।१७, ६०।२२,
कि० १।७८, ५०।२६
सुन्दर० १४।३, ३६, ४४, १५।९
युद्ध० ४।७४
उत्तर०, २६।५, ३०।३
५०—चिरबिल्व
अरण्य० ११।७६
कि० १।७८
युद्ध० ४।८१
५१—चूर्णक
युद्ध० ४।८४
५२—जपा
उत्तर० ३५।२३
५३—जम्बु
अयो० ९१।५१। ९४।८
अर० ६०।१९, ७३।३
कि० २८।१९, ३०
५४—जाती
अर० ३५।२२
५५—तगर
उत्तर० २६।६
५६—तमाल
अर० १५।१६, ३५।२३
कि० ४०।५६
उत्तर० २६।६
५७—ताल
अयो० ९१।५०
अर० १५।१६, ६०।१८

[१] अमरकोष के सिंहादिवर्ग में पक्षिविशेष के रूप में इसका उल्लेख है पर यहाँ रामायण में प्रसंग एवं साहचर्यवश इसे कोई वृक्ष विशष मानना पड़ता है।
[२] क्षीर-सागर में उत्पन्न होने वाली एक दिव्यौषधि।

कि० ४०।५६, ५०।२५

युद्ध० २२।५६, ५९

५८—तिनिश

अयो० ४२।८

अर० १५।१६

कि० १।८३, २७।१८

युद्ध० ४।७५, ८४, २२।५६

५९—तिन्दुक

अयो० ९४।८

अर० ११।७६, ७३।३

युद्ध० ४।७५

६०—तिरिट

कि० २७।१८

६१—तिल

युद्ध० ११४।१२३

६२—तिलक

अयो० ९१।श्लो०, ९४।८,

अर० १५।१७, ६०।१६, ७४।४, ७५।१५

कि० १।५८, १।८३, २७।१७

युद्ध० ४।७४, ८२, २२।५६

६३—तुंगकालेयक

उत्तर० ४२।२

६४—दर्भ

अर० ११।५२

६५—दाडिम

अर० ६०।२१

युद्ध० २२।५९

उत्तर० ४२।५

६६—दूर्वा

युद्ध० ११४।१२३

६७—देवदारु

बाल० १४।२३

कि० ४३।१४

सुन्दर० ५६।२९

६८—द्रोण[१]

युद्ध० ५०।३१

६९—धन्वन

अर० ७३।४

७०—धव

अयो० ९४।८

अर० १५।१८, ६०।२१, ७५।१५

कि० १।८२, २७।१८, ५०।२५,

युद्ध० ४।८३, २२।५६, ५९।७७

७१—नक्तमाल (करंज)

अयो० ९१।५०

अर० ७३।४

कि० १।८३

७२—नागवृक्ष (नागदमन ?)

अर० ७३।४

कि० १।७८, ८३, ५०।२६

सुन्दर० १४।३

युद्ध० ४।८२

उत्तर० ४२।४

७३—नारिकेल

कि० ४२।२२

युद्ध० २२।५९

उत्तर० २६।६

७४—निचुल (हिज्जल ?)

अर० ७५।१६

७५—निम्ब

अयो० ३६।१४

युद्ध० २२।२९

७६—नीप (कदम्ब भेद)

अर० १५।१८, ६०।२१

कि० १।७९, २७।१८, २८।४१

सुन्दर० २।१०

युद्ध० ४।७६, ८४

उत्तर० ४२।४

---

[१] उपर्युक्त दिव्यौषधि ।

७७—नील अशोक
अर० ७३।४
कि० ११७९
सुन्दर० १५।११
युद्ध० ४।८४

७८—नीलोत्पल
अर० ४२।१६

७९—नीवार
अर० १५।१६

८०—न्यग्रोध
अयो० ५२।६८, ५३।३३, ५५।२४
अर० ३५।३६, ७३।३५
युद्ध० ४।७५

८१—पद्म
बाल० १५।३०
अर० ११।६, १५।११, १६।२६, ४२।१७
कि० १३।७, २७।११
सुन्दर० २।१२
युद्ध० ४।८८

८२—पद्मक (पद्माख)
कि० १।७९, २७।१७, ४३।२४
युद्ध० ४।८४

८३—पद्मिनी
अयो० २७।१७
अर० ११।४०
अर० ११।४०
उत्तर० २६।४

८५—पनस
अयो० ९१।३०, ८४।८
अर० १५।१६, १८, ७३।३
उत्तर० २६।६, ४२।३

८५—पलाश
बाल० १५।३०
अयो० ६३।८, ६३।१३
अर० १५।१८
कि० १।७५, ८२
सु० १५।८
युद्ध० ४०।१४

८६—पाटल
अर० १५।१८
उत्तर० २६।५

८७—पाटलि
कि० १।८१
युद्ध० ४।८२

८८—पारिजात
उत्तर० ४२।३

८९—पारिभद्रक
अर० ७३।५
कि० १।८०

९०—पिप्पली
अर० १।४०, ५०

९१—पुण्डरीक (श्वेत कमल)
अर० १९।२४

९२—पुन्नाग
अयो० ९४।२४
अर० १५।१६, ६०।२२, ७५।१६
कि० ४२।७, ५०।२५
सुन्दर० १०।२३, १४।३६, १५।९
उत्तर० २६।५, ४२।३

९३—पूर्णक
कि० १।८०

९४—प्रियंगु
कि० २६।२६
सुन्दर० २।१०
उत्तर० ४२।५

९५—प्रियाल
अयो० ९५।८
अर० ७३।२
सुन्दर० २।९
उत्तर० २६।६

९६—प्लक्ष
बाल० १४।३९

अर० ७३।३
युद्ध० ४।७५

९७—बकुल
अर० ६०।२२
कि० १।७८, २७।१७, १८, ४२।७
सुन्दर० १०।२३, १५।४४
युद्ध० ४।८१
उत्तर० २७।७, ४२।५

९८—बिभीतक
अयो० ९१।४९
युद्ध० २२।५९

९९—बिल्व
बाल० १४।२२
अयो० ५६।७, ९१।३०, ९४।८
अर० ११।७६
युद्ध० २२।५७

१००—बीजपूरक
अयो० ९१।३०
अर० ७५।१५

१०१—भण्डीर (शिरीष)
अर० ७५।१६

१०२—भल्लातक
अयो० ५६।७

१०३—भूर्जपत्र
अयो० ९४।२४

१०४—मंजिष्ठा
अयो० ९४।५

१०५—मधूक
अयो० ९४।९
अर० ११।७६, ४२।१७
कि० १।७८
युद्ध० ४।८१
उत्तर० ४२।३

१०६—मूधनि (मधु-द्राक्षा)
अयो० ५६।८

१०७—मन्दार
उत्तर० २६।५, ४२।२

१०८—मरिच
अर० ३५।२३

१०९—मल्लिका
कि० १।७६

११०—माधवी
कि० १।७७
युद्ध० ४।८१

१११—मालती
अर० ७५।१६
कि० १।७६, २७।१०

११२—मुचुकुन्द
कि० १।८१

११३—मुचुलिन्द
सुन्दर० २।९

११४—रंजक
सुन्दर० ४।८२

११५—रक्तोत्पल (लाल कमल)
अर० ४२।१६

११६—लिकुच
अर० १५।१८

११७—लोध्र
अयो० ९४।८
कि० १।८०, ४३।१५, ४९।१७
उत्तर० २६।५, ४२।४

११८—वंजुल
कि० १।७८, ५०।२५
युद्ध० ४।८१

११९—वरण
अयो० ९४।९
कि० १।७९
युद्ध० ४।८४

१२०—वानीर
कि० २७।१८

१२१—वासन्ती
कि० १।७७

१२२—विशल्या[१]
युद्ध० ५०।३०
किं० १।८२
युद्ध० ४।८३, ४०।१४

१२३—वेत्रक
किं० २७।१८

१२४—वेणु
अयो० ९४।८
युद्ध० २२।५६
अर० ७५।१८

१२५—शतपत्र (गुलाब)
अर० ७५।१८

१२६—शमी
अर० १५।१८, २२

१२७—शर
अयो० ३०।१२
अर० १५।२२

१२८—शाल
अर० १५।१६, ६०।२१
किं० ४०।५६, ५०।२५
सुन्दर० १४।३
युद्ध० २२।५६, ५९।७७

१२९—शालि
अर० १६।१७

१३०—शाल्मली
अर० ५३।२१

१३१—शिरीष
किं० १।८२

१३२—शिशंपा
अयो० ९१।५०
किं० १।८२
सुन्दर० ५६।१, ५८।५५, ६२, ६०।२५
युद्ध० ४।८३

१३३—शुक्लवृक्ष (अर्जुन ?)
अर० ७५।१५

१३४—सरल
किं० २७।१७
सुन्दर० २।९

१३५—सिन्धुवार (निर्गुण्डी)
किं० १।७७, २७।१०
युद्ध० ४।७४

१३६—सन्धानकरणी[२]
युद्ध० ७४।३३

१३७—संजीवकरणी[३]
युद्ध० ५०।३०

१३८—सावर्ण्यकरणी[४]
युद्ध० ७४।३३

---

[१] ६२, ६३, ६४ एवं ६५—अनुक्रमांक १२२, १३६, १३७, एवं १३८ में निर्दिष्ट चारों औषधियों को हिमालय के कैलाश शिखर पर उगने वाली दिव्यौषधि कहा गया है। हनुमान् वैद्य सुषेण की आज्ञानुसार मूर्च्छित लक्ष्मण के उज्जीवन के लिए इन औषधियों को हिमालय से लाते हैं—युद्ध० ७४।३२–३४, १०२।२१–२३

[२] शल्य चिकित्सा में सन्धानार्थ प्रयुक्त होने वाली यह एक ऐसी दिव्यौषधि है जिसका प्रयोग उस समय प्रचलित था। विशेष विवरण के लिए अथर्ववेद (४।१२।१–७) द्रष्टव्य है।

[३] उपर्युक्त प्रकार की दिव्यौषधि है जिसे मूर्च्छा दूर करने के लिए व्यवहृत किया जाता था।

[४] यह भी उपर्युक्त प्रकार की दिव्यौषधि है जिसका प्रयोग व्रणरूढ़ त्वचा की सवर्णकरणता के लिए होता था। तुलना करें सुश्रुत चि० १।९५ से।

१३९—सप्तपर्ण
अर० ७५।१७
कि० ३०।२८, ४९।१७
सुन्दर० २।१०, १४।३६, १५।९
युद्ध० २२।५७
उत्तर० ४२।४

१४०—सर्ज
कि० २७।१०, २८।१८, ३४

१४१—स्थगर
अयो० ९४।२४

१४२—स्यन्दन
अर० १५।१८ कि० १।८३

१४३—हरिचन्दन
अयो० ६५।८

१४४—हिन्ताल
कि० १।८३, २७।१८
युद्ध० ४।८४

१४५—लाक्षा (निर्यास द्रव्यौषधि)
अयो० ७५।३८

लोहों (धातुओं) का परिचय

इस महाकाव्य में अन्य सामग्री के साथ-साथ स्वर्ण, रजत एवं लौह धातु[1] की अभिज्ञता का संकेत निम्न प्रकार से सन्दर्भ पुरस्सर द्रष्टव्य है :

१—सुवर्ण
(अ) जाम्बूनद—युद्ध ६७।१७९, ८०।१४
(आ) रुक्म—युद्ध० ८०।३४
(इ) शातकुंभ—अयो० ८१।१०, ९१।७१
(ई) हेम—अयो० ८८।५

२—रजत (चाँदी)
अयो० ८८।५

३—अयस् (लौह)
अयो० ७५।३८

रत्नों की अभिज्ञता

प्रसिद्ध नौ रत्नों में से रामायण में प्रायशः वैडूर्य मणि का ही उल्लेख दृष्टिगत होता है[2] :—

वैडूर्य
अयो० ९१।७९
अर० ५३।२०

अगदतन्त्र का विषय

रामायण में प्रसंगवश स्थावर, जंगम एवं संयोगज (कृत्रिम) भेद से तीन प्रकार के विषों का उल्लेख मिलता है :—

[1] धातुओं की संख्या के लिए रसरत्नसमुच्चय ५।१ द्रष्टव्य है।
[2] नौरत्नज्ञानार्थ भावप्रकाश निघण्टु धातुवर्ग द्रष्टव्य है।
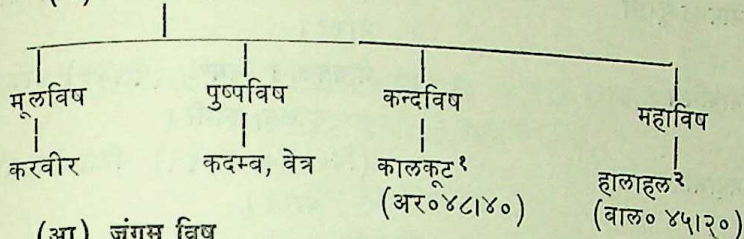
(आ) जंगम विष
दृष्टिविष[३] —युद्ध० १०।५४

(इ) कृत्रिम (संयोगज) विष
गर[४] —बाल० ३१।३६

सन्दर्भ ग्रन्थावली

१—अथर्ववेद संहिता (पैप्लादशाखा) डॉ० रघुवीर (सम्पादित), लाहौर।

२—अमर सिंह अमरकोष (१९४०) नारायण राम आचार्य सम्पादित, ६ मसं०, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई।

३—ज्योतिर्मित्र (दिसम्बर १९६३) शल्य-शास्त्र का इतिहास सचित्र आयुर्वेद ४९७–८९, बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० १, गुप्ता लेन, कलकत्ता, भारत।

४—चरक संहिता (१९४१) यादवजी त्रिक्रमजी आचार्य सम्पा० ३ य सं०, निर्णय सागर प्रेस बम्बई।

५—ब्रह्माण्ड पुराण (१९३७) आनन्दाश्रम, पूना, भारत।

---

[१] सुश्रुत कल्प० २।१२ में कालकूट विष से उत्पन्न लक्षणों का निरूपण है।

[२] हालाहलविष के विशद विवरण के लिए चरक (चि० २३।१३) एवं सुश्रुत (कल्प० २।५) देखना चाहिए।

[३] सुश्रुत के इस (कल्प० ३।५) सन्दर्भ से तुलना करें।

[४] रामायण में इसी प्रसंग में एक कथा का उल्लेख है जिसके अनुसार इक्ष्वाकुवंश में असित नामक नृपति की दो रानियाँ थीं। वे दोनों एक साथ गर्भवती हुईं। दुर्बल प्रकृति का राजा अपने राज्य को छोड़ कर हिमालय चला गया। इन दोनों रानियों में से एक ने अपने ही पुत्र को राज्याधिकारी बनाने के दृष्टिकोण से अपनी सपत्नी के गर्भविनाश के लिए उसको "गर" विष कृत्रिम विधि से किसी वस्तु के माध्यम से खिला दिया। विषय सेवन के अनन्तर रानी को जब यह ज्ञात हुआ तो वह भार्गव च्यवन के पास चिकित्सार्थ पहुँची। अन्त में चिकित्सा से स्वस्थ होकर "सगर" नामक अन्वर्थ पुत्र को जन्म दिया। —(बाल० ७०।३०—३७)। इस सम्बन्ध में विशेष विमर्श के लिए चरक चि० २३।१४ एवं सुश्रुत कल्प १।५ के ये स्थल द्रष्टव्य हैं।

६—भागवत पुराण (वि० सं० २०१८), गीता प्रेस गोरखपुर, भारत।

७—भावमिश्र भावप्रकाश निघण्टु (१९४७) पंडित पुस्तकालय, काशी।

८—महाभारत (वि० सं० २०१५) गीता प्रेस, गोरखपुर, भारत।

९—मैक्डोनेल, ए०ए० १९ एवं कीथ, ए०बी० वैदिक इडेक्स, २ य खण्ड, चौखम्बा, संस्कृत सीरीज, वाराणसी।

१०—वाग्भट रसरत्न समुच्चय (१९३०) आशुबोध विद्याभूषण एवं नित्यबोध विद्यारत्न, कलकत्ता।

११—वाग्भट, वृद्ध अष्टांगसंग्रह (१९४०), रा० च० शास्त्री, किंजवडेकर, चित्रशाला, पूना।

१२—वायु पुराण (१९५९), मनसुखराय मोर, ५ क्लाइव रोड, कलकत्ता।

१३—वाल्मीकि रामायण (वि० सं० २०१३) पंडित पुस्तकालय काशी।

१४—विष्णुपुराण (वि० सं० २०१४), पंडित पुस्तकालय, काशी।

१५—सुश्रुतसंहिता अत्रिदेव विद्यालंकार टीका (वि० सं० २०१३) २ य सं०, मोतीलाल बनारसी दास दिल्ली।

१६—हरिवंश पुराण (वि० सं० २०१४) पंडित पुस्तकालय, काशी।

NATIONAL INTEGRATION AND UNITARY GOVERNMENT*

S. P. SHENOY

Final Yr. B.Sc. (Met. Engg.) B.H.U.

What is a Nation ?

The subject besides its inherent interest has a centrality in the Indian national scene. The existence of a sapping confusion about the national sense in our country to-day cannot be explained away. This makes necessary a review of the concept of Nation. Derivatively nation is associated with birth of race. This does not mean, however, that nationalism and racialism are identical conceptions. In the seventeenth century, the term 'Nation' was used to describe the population of a state in respect of its racial unity, and this meaning has in a large measure persisted upto this day. Since the ninetheenth century however, the term 'nation' has assumed a quite definite meaning. The term 'nation' conveys the ideal of political independence or sovereingnity (either actually attained or desired).

A nation is a group of people, having a separate territory, and its own way of living, thinking, culture and civilization for quite a long period of time, of which it is proud. Despite the different opinions of its people, a nation should have a common ideal, a common mission, a common aim towards progress, and a common feeling towards a friend or a foe.

What is National Integration ?

National integration is thinking, making and doing anything and everything in terms of the nation. It is a noble virtue; a feeling ; a sentiment. Unity—the sense of 'oneness'—is the foundation on which National Integration has to be erected. Out of unity should emerge a zeal to spread the mission and

*This essay won First Prize in the Essay Competition organised by the National Integration Samithi, Banaras Hindu University.

ideal of the nation. There is a saying in our Scriptures : "A person can be sacrificed for the sake of a family ; a family can be sacrificed for the sake of a village ; a village can be sacrificed for the sake of a 'Janapad' ; but for the sake of the nation, anything and everything should be sacrificed." This propounds a spirit of sacrifice for the sake of the nation—the ultimate aim of organic national life.

India in the Past

We have been taught that it is during the British regime that the Indians began to have a sense of nationalism. This is absolutely wrong. Nationalism existed in India thousands of years ago. There was a strong cultural unity. It is significant that the River Ganga was considered very sacred and a dip in it would mean liberation from all sins—a notion earnestly subscribed to—even by Kings of the extreme South. Kashi, the present city of Varanasi, being a great centre of learning, attracted great scholars from all parts, notwithstanding its location in the north-east corner of India.

Kings came and kings went ; Emperors came and Emperors went ; but the life of a common man was never affected. Great importance was paid to religion and Dharma ; righteousness, even by the greatest kings. 'Rajapurohit', the priest of the kingdom was always consulted and his blessings were sought before starting any work—even the war. All this argues a cultural adhesion, an internal impulsion in the Indian people.

India in the Present

Today in India religious differences and caste exclusivenesses still operate, often with vigour. Regionalism is asserting itself in diverse ways. Linguism, that is a language set up as the basic pretext for aggressive group sentiment, seeking expression in terms of power politics, is reviving a particularism, not at all proper to the modern times. The people are being carried away by jealousies and suspicions. These are all disintegrating factors. Their growth denies unity, the sanctity and the heritage of India.

The face of the world is changing, whether we like it or not. Nations are engaged in wars, some violent, some cold. Vast powers of destruction are in the hands of man. The west is crumbling. England is weak ; France has disintegrated. Communism—militant Godless materialism—threatens the world with its far-reaching tentacles.

Our paramount duty in India, therefore, is to resist disintegration. The ideal and so the real India has a mission in history. This is not to court the vacillations of success and failure through which the West is passing. It is to discover and fulfil the meaning of history ; to lead man towards Dharma, towards Light, strength and Joy, so that he may fulfil himself by living in God.

The Government has to play an important role in establishing National Integration. Unitary Government, if run effectively, can do this tak. This statement raises a question as to the nature of Unitary Government, which we proceed to discuss below.

Unitary Government

In a unitary system of Government the entire governmental power is vested by the constitution in a single central government, and local auhorities not only derive their power and autonomy from it but also owe their very existence to it. In a unitary system :

(i) There is only one state and one government, and there is no constitutional division or distribution of powers between the central and local government. There is one source of power and one will.

(ii) For the sake of administrative convenience, unitary states are divided into units known variously as departments, provinces, countries, communes etc. They are given a certain amount of autonomy and limited powers of local government. But their creation and continuance depend on the will of the central government and is not determined by the constitution.

It follows that the power and autonomy possessed by these local bodies are not original but are derived from the central government which may enlarge or restrict them at its will. In short, in a unitary state, the local authorities are merely parts of the central organization created by the latter to act as its agents for the purpose of local administration.

We may now sort out the merits of Unitary Government contributing to National Integration.

Merits of Unitary Government

(i) A unitary government can bring about a uniformity of law, policy and administration throughout the extent of a country. By so doing it can help bring about a unified and integral governmental machinery.

(ii) In matters of defence and international relations, the strength of the unitary government is especially manifest because in such a sate there can be no conflict of authority, no conflict of responsibility for work to be performed, no overlapping of jurisdictions, no duplication of work, plan or organization that can not be immediately adjusted.

(iii) The unitary form of government is best adapted to small states that possess geographic and ethnic unity, where uniform legislation can deal successfully with the needs of all parts of the country. It is also suited to a state whose population is not yet politically developed and hence not fitted for local self-government.

Government in India

Quasi-federal structural is existing now in India, and in this structure there are two sets of governments :—

(i) Parliamentary rule with regard to the subjects falling within the sphere of the centre, and

(ii) the federal structure with the President at the apex.

The President has to act with the 'aid and advice' of the Ministers as the head of the parliamentary government, but the President also presides over the federal structure and he has powers independent of the Central Cabinet.

Our quasi-federal structure is also convertblie, under certain conditions, the President has the power to convert it into a more or less unitary constitution with regrd to a state. This is to prevent the disruption of the union.

People are carried away by the phrase 'federal constitution', and apply the test of an imaginary constitution to the pragmatic provisions of our quasi-federal, convertible constitution, which is as such, better than that of the U.S.A.

Even at this stage, we have noticed some incidents which are detrimental to National Integration.

The Tamil Nadu State threatened to secede if Hindi was adopted as our National Language. It has abolished N.C.C. training although this is an important tool in establishing National Integration. Such disharmony could not have found any room if we had full unitary Government.

There is no doubt that the Late Chief Minister of Tamil Nadu, Mr. C. N. Anna Dorai, was real political intellect. But only Tamil Nadu could derive benefit from him. The whole nation could be benefited by his intellignce and leadership if he was made a national leader through Unitary Government.

The Namboodaripad Ministry in the Kerala State, in spite of the strong opposition from the rest of the country, formed a separate Muslim District, called Mallapuram. This again is very harmful to National Integration.

There has been a prolonged border-dispute between Maharashtra and Mysore. This dispute has given rise to hostility among the people of these two states. It is slowly destroying the unity.

Again there is water dispute between Mysore State and Andhra Pradesh State, creating much confusion and trouble.

The situation is bad enough with only a quasi-federal constitution. If we had a complete federal system, the condition would be worse. What are States now would have seceded and that would be the end of Free India. For though Federal Government has merits like relief of the central government of the heavy burden of administration and stimulation of the interest of the people in the public affairs, it has serious defects.

Our Guru Deva, Rabindranath Tagore, said that we needed a sound national education before achieving Freedom, which otherwise would lead to corruption. His words have come to be true. Education which is basically uniform throughout the country, is an unquestionably important tool in establishing National Integration. Only Unitary Government can impart that type of education.

Conclusion

In spite of the diversities and quarrels and difference of opinions, the Indians have a basic urge for unity. One has only to remember how they contributed liberally to the National Defence Fund at the time of the Chinese aggression and the Indo-Pakistan conflict. This was not possible without a sense of unity—political, not only cultural.

The usual belief that a Unitary Government is always centralized and that a Federal Government is invariably decentralized is not necessarly true. It is quite possible, as in Great Britain, for the Central government of a unitary state to grant large powers of local self-government to its local sub-divisions, thus securing most of the advantages of both Unitary and Federal Government.

National growth—political, economical moral, a spiritual or cultural—is impossible without National Integration. A strong Unitary Government consisting of selfless and painstaking leaders can establish it.

GEOGRAPHICAL PATHOLOGY OF CANCER IN INDIA AND ENGLAND*

DR. A. D. SINGH,
College of Medical Sciences, B. H. U.

A study of Geographical Pathology of diseases is always interesting and instructive. The interest in the present study was aroused when a great difference was found in the incidence pattern of disease, the stage at the time of hospitalisation and the socio-economic problems of the patients of England and India.

The material for the present article is derived from the Radiotherapy Departments of the Royal Victorial Infirmary at Newcastle on Tyne (RVI N/C) in England and that of the Christian Medical College and Hospital at Vellore, (C.M.C.H., Vellore) in India.

Incidence Pattern

From January 1958 to December 1959, there were 6014 new cases referred for advice to the Radiotherapy Department of the R.V.I., N/C on Tyne-63.7% of them were with malignant and 36.3% with non-malignant growth. Of all the patients seen during that period 40.9% had skin lesions and constituted the largest group. Breast lesions constituted 16.2%, bronchus 6.6% female genitalia 6.1% and only 4.5% came with oral pathology. Bronchogenic carcinoma has been only 6.6% because most of them were referred to the Newcastle General Hospital (NCH) where the megavoltage unit is functioning. Almost all cases from Shotley Bridge Hospital (Thoracic Unit) were referred to NGH. On the other hand, at the Radiotherapy Department of C.M.C.H., Vellore, during a smilar 2 years period, from January 1963 to December 1964, there were 2533 new

*Based on the paper presented at the XI International Congress of Radiology at Rome in September, 1965.

cases seen, 4% had non-malignant lesions, the rest had malignant neoplasms. The largest group was formed by the female genital lesions, constituting as much as (27.6%). Oral pathology was only second to it and formed 20.2% of the total. Breast (4%), bronchus (3%) and skin (1.8%) were in much smaller proportion.

Figure (1) show how they compared with each other. It is obvious that skin, breast and bronchial lesions represent the largest proportion of cases at Newcastle, whereas female genital and oral malignancies constitute nearly half of all the cases seen at Vellore. Hypopharyngeal and oesophageal neoplasms also seem to be more common at Vellore than those seen at Newcastle. Proportion of Reticulosis is nearly the same at both the places. There are fewer cases of tumours of central nervous system seen at Newcastle and is due to a specialised Neurosurgery Unit at the Newcastle General Hospital where all such cases are referred and treated.
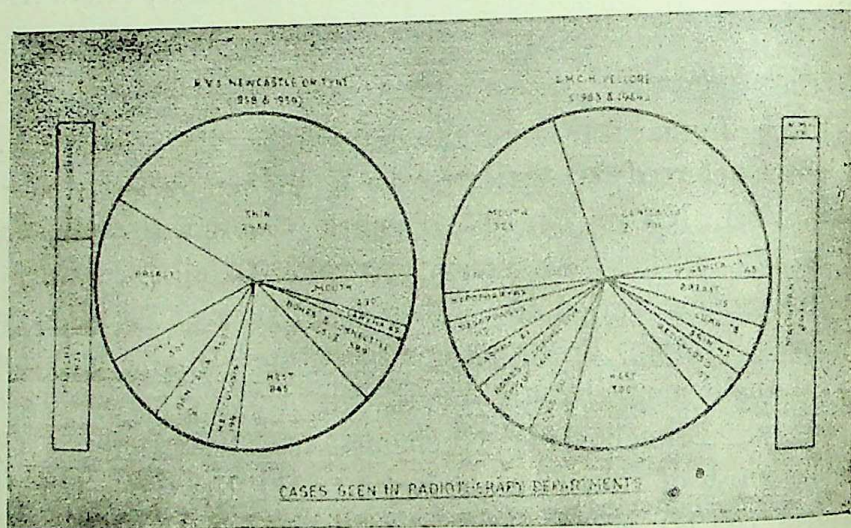
Fig. 1. Compares the incidence of various diseases seen in the Radiotherapy departments of R.V.I., Newcastle on Tyne, England and C.M.C. Hospital, Vellore, India.

It was considered worthwhile to compare the incidence of cancer in the hospital practice. Figure 2 shows the incidence in decending order. Recently Curwen published Cancer Report

from the Saint Bortholomew's Hospita (Barts). In figure 1 of chapter 1, of that book it can be seen that the commonest cancer is of breast, next is of bronchus, then are skin, stomach, rectum, brain etc., We put this picture on the right and drew the picture seen at Vellore on the left on the same scale (Figure 3). The order of decreasing frequency seen at the Barts is no longer in order on the left. Cancer of cervix, which occupies the 8th position in order of frequency at Barts, is first at Vellore, on the other hand carcinoma body of the uterus which is only 4 position below cervix at Barts, is on 38th position at Vellore. In fact the whole picture is jumbled up.
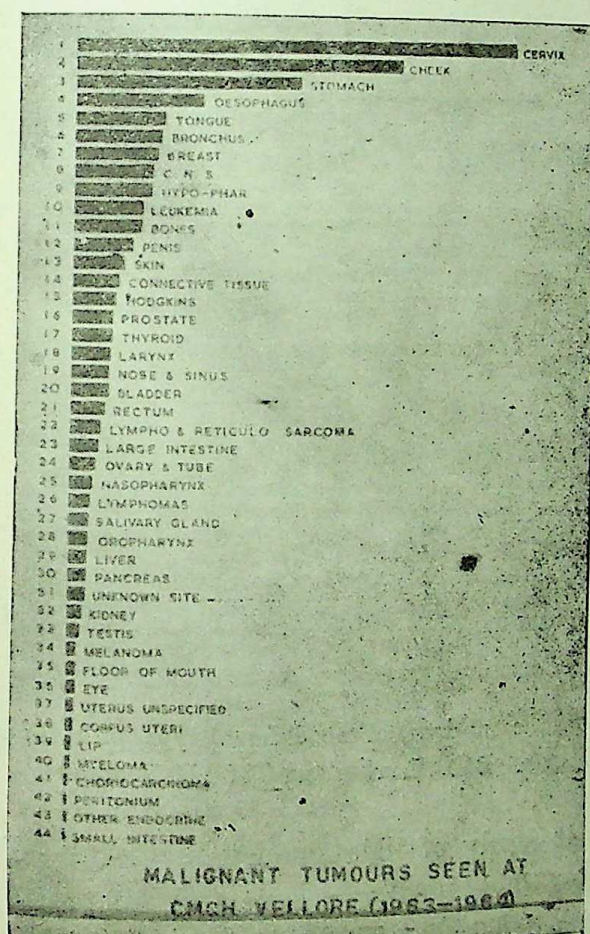
Fig. 2. Shows the different types of malignancies seen in the C.M.C. Hospital, Vellore in decending order of frequency.

The figure (4) shows incidence of cancer in decending order in British population. These figures have been taken from the Tumour Registry of North-East of England for the year 1958. This is obvious that in the general population Bronchogenic Carcinoma is the commonest tumour, skin in the second, stomach in the third, breast in the fourth and intestine in the fifth position. There is no such figure from the general population available in India and hence no comparision is possible.
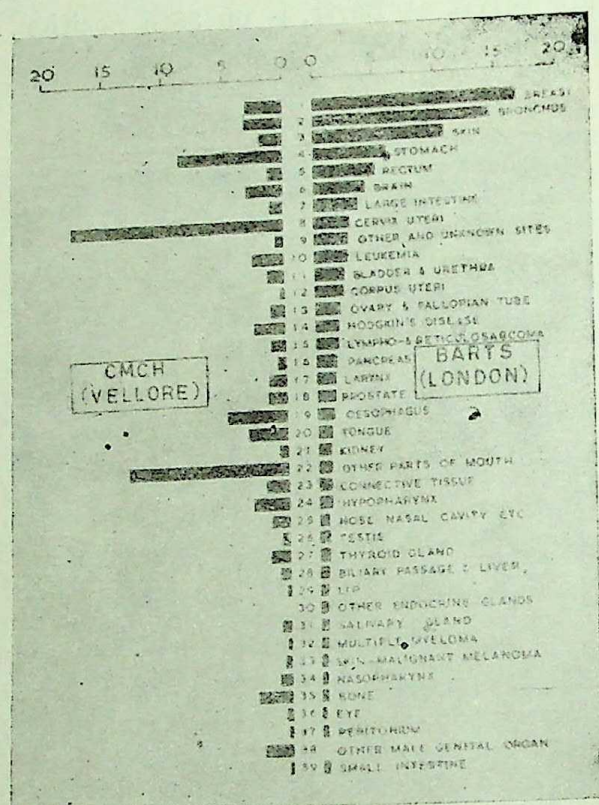
Fig. 3. Compares the incidence of the different types of malignancies in two hospitals viz. Barts, London and C.M.C.H. Vellore.

A recent study of "Malignancy in Childhood" at C.M.C.H., Vellore (Singh 1965) was done and compared with some of the published figures. The following table (Table I) shows that there is not much difference in the incidence pattern of malignancies in childhood at Vellore and Manchester.
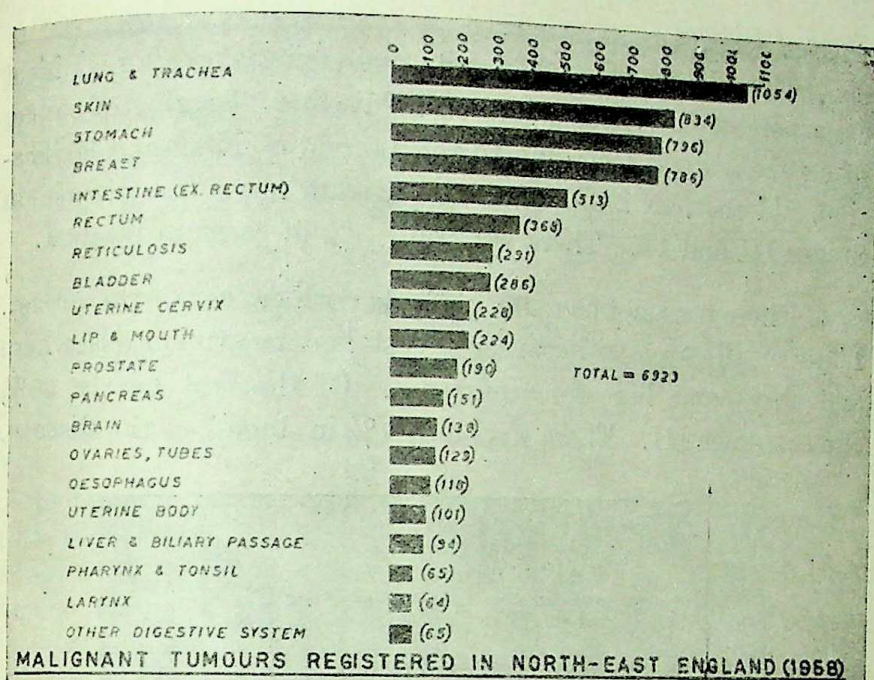
Fg. 4. Shows the incidence of Cancer in decending order of frequency in English population.

TABLE 1

	Total	Reticulo-sis.	C.N.S. & Eye.	Abdomen Tumour	Connec-tive Tumour
C.T.R. Manchester	474	172(35%)	166(33.3)	32	64
C.M.C.H. Vellore	177	59(33.3)	56(31.6)	21(11.8)	32(18.7)

Age

The patients seen with cancer at Vellore are one decade younger than those seen in England. This is true for almost every site and every type of pathology. The peak period in British patients with cancer is 60's, at Vellore it has been 40's and 50's.

Stage of Disease

This picture (Fig. 5) is quite depressing at Vellore. Most cases come in advanced stages of the disease. Staging of cancer of cervix is done according to the League of Nations Clasification. More than 2/3rd of these patients have the disease in Stages III and IV. There were only 8% of cases in Stage I.

There were not as many patients with cancer of the breast. 1/3rd of all cases with cancer breast had treatment elsewhere and they came here for recurrence. Of the rest nearly 50% came in stage III. There were only 7% in stage I of the disease.
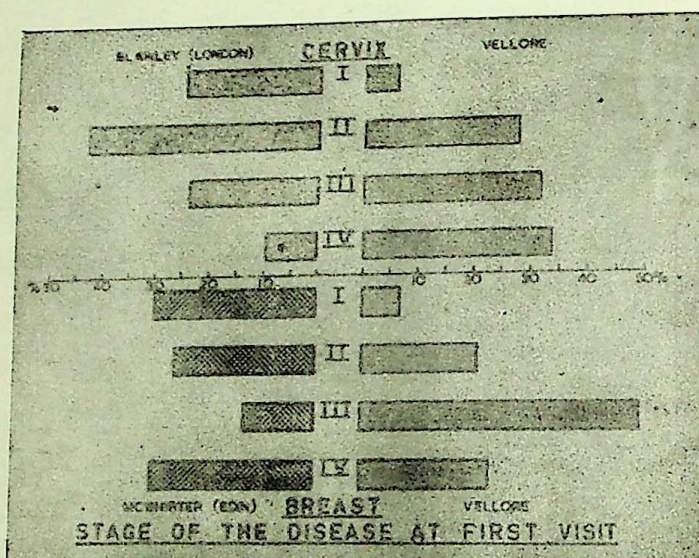
Fig. 5. Shows the stages in which patients with Cancer Cervix and Breast are seen in England and Vellore.

Almost similar is the picture of oral cancers. 500 cases were seen suffering from carcinoma of lip, tongue, buccal mucosa, palate, alveoli and floor of mouth at Vellore during these 2 years. The policy has been to treat them with radium if they are early. This procedure could be done only on 43 occasions as detailed in the Table 2. It means that only 8.6% of the cases of the oral cancers were seen in early stage of the disease. Many of these had mobile lymph nodes present in the neck and in fact they were not early cases at all.

Comparision has been made with the cases seen at Radiotherapy department of R.V.I. Newcastle in the same table 2. It is obvious that even though less number of cases were seen at Newcastle, as much as 46.7% were treated with either Radium or Superficial X-ray for these early lesions.

TABLE 2

Site	Total	Vellore Rx with Ra or SxT	%	Total	N/C Rx. Ra. or SxT	%
Lip	11	2	18	68	55	81
Tongue	101	10	10	68	33	48.5
Cheek	306	27	9	20	5	25
Floor of the mouth	17	4	23	35	16	45.7
Lower Alveolus	46	0	0	21	3	14.6
Palate	19	0	0	30	2	6.7
	500	43	8.6	242	114	47.1

Treatment

All cases seen at Vellore were not treated with radiation, even though radiation therapy is the recognised method of treatment for most of them. Only 1474 out of 2533 i.e., 58 % had radiation therapy (Fig. 6). 17% of the total absconded. These absconders came to Vellore, stayed here for a day or two and then left Vellore for reasons known only to them. The rest of the cases i.e., about 20% of the total were found unsuitable for radiation therapy here. They were either too advanced or had treatment with radiation elsehwere, and the disease was found to be radioresistant or had recurred. They sought the advice at Vellore as a last resort. Compared to the above findings, at Newcastle only 8.4% were unsuitable for therapy and there was no absconder.

Many of the patients we treat at Vellore are indifferent to the seriousness of the disease because of their ignorance. They are very simple folks and many times they will return to their village to ask the local general practitioner about the

advisability of the prescribed method of treatment, may be surgery, radiation or anything else.

Most of the patients are illnourished, anaemic and poor. The average haemoglobin for patients with cervical cancer was 10 gm. and for others 11.1 gm%. If 11 gm% be taken as the criteria for anaemia over 2/3 of our patients suffering from carcinoma of cervix would belong to the group of being anaemic. In a place where donation of blood is not very popular, correcting this severe anaemic posses a very difficult situation.
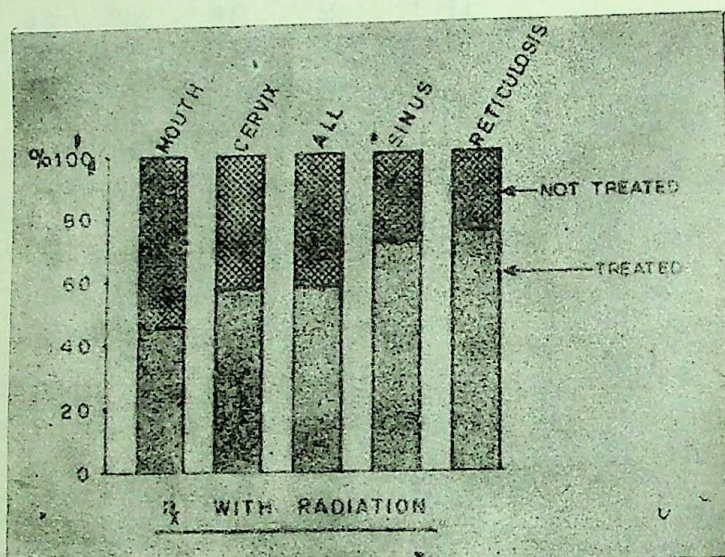
Fig. 6. Shows the proportion of patients treated in the Radiotherapy department of C.M.C. Hospital, Vellore.

Follow up

At Vellore follow up of these patients has been a very difficult. Though slowly, with continued persuasive efforts we have succeeded in getting about 60-70% of patients in follow up upto a period of about 2 years, this is a great contrast to what one sees at Newcastle and many otder places in England or other countries where 100% or near 100% is achieved.

An attempt was made to look up into the causes of irregular follow up at Vellore with an aim to remove some of them

if possible. Distance, ignorance and poverty seem to be the main causes.

A comparision of distances they had to travel to attend the clinics for treatment and for follow up was made. At Vellore only 20% of them came from a distance less than 50 kms. Nearly 3/4th had to travel a distance of 200 to 3000 kms. On the other hand at Newcastle very few had to travel more than 60 kms. for the treatment and much less for the clinics. Nearly 80% of the cases seen at Newcastle travelled a distance less than 16 kms. for the purpose of follow up. It would be obvious from the above comparision, how difficult it would be for people to attend the follow up clinics regularly at Vellore. They have to wind up their business at least for a fortnight to attend the clinic. They have to be absent from homes for a longer period when they are undergoing treatment. Many a times they have to sell some property for the journey and carry the whole family to Vellore. This has been the main factor responsible for irregularity which has been all the more worsend by poverty and ignorance.

Discussion and Conclusion

What have we learnt from this study ? The different incidence pattern of the disease leads us to think of possible different causative factors and to apply prophylactic measures. The high incidence of oral cancer is associated with the tobacco chewing habit. It seems that elimination of this habit from the population should lead to a fall in the incidence of oral cancer. Similarly, a very high incidence of cancer of the skin, lungs, and breasts in England have got some of the caustative factors associated with them. If smoking could be stopped and eliminated from the population in England the high incidence of lung cancer should come down. Skin cancer is very rare at Vellore. This is mainly because of the dark skin. It is well protected against the hot sun.

It would appear from these observations, that there are some spontaneous tumours which may be difficult to eliminate

entirely, But on the other hand there are others whicha re caused by one or more causative factors and should be preventable.

The treatment policy and technique also have to be re-orientated in the light of the local circumstances. Difference in nutrition, tolerance to radiation and economic factors have to be taken into accounts. The whole mouth of a patient seen with Carcinoma of the cheek seen at Vellore may show pre-cancerus changes in the mucosa. Hence more often there is recurrence after treatment with radium alone.

It has been an exciting experience to work at Vellore after having seen and learnt Radiotherapy works in Great Britain. The problems have been different and challenging. Most of our patients have been very kind, unselfish and Godloving. Their sense of gratefulness has often overwhelmed all of us.

REFERENCES

1 Curwen, Cancer Report, E & S Livingstone Limited, Edinburgh.
2 Campwell, A.C.P., Gaisford, W, Paterson, E., and Steward, J. K. (1961) B.M.J. I : 448.

NATURE AND TREND OF URBANIZATION IN INDIA

A. N. SINGH.

A city is an embodiment of man's triumph, in organizing his collective living on a highly complex material base created by himself in a limited geographical space. It shows his mastery over the forces of natural environment to the extent to which it can be manipulated, altered and pressed into the service of man. The gradual transformation of man's living from cave-dwelling, through settled life, in small communities and through agricultural villages to modern cities, has always been accompanied by some technological revolution, which insured better production and supply of food and better means of communication to cut time, distance and cost. But once human society moved from subsistence economy to the surplus one to support a substantial number of population who engaged themselves in occupations other than agriculture, the city was born. It became the organizing center of human social living in its cultural and political aspects, throwing up, on all sides the forces of integration as well as change. A city is a self-perpetuating entity, and in its functioning it sets limits to the social living of man and conditions as well.

Although urbanization began quite early in human history, the phenomenal growth of the cities and towns is of quite recent origin. Davis observes "Compared to most other aspect of society e.g. language, religion, stratification or the family—cities appeared only yesterday and urbanization, meaning that a sizable proportion of the population lives in cities has developed only in the last few moments of man's existence."[1] Thus, cities came much later and it is closely associated with the great

[1] Davis, K.: 'The origin and growth of urbanization in the world'. A.J.S., March, 1955, No. 5, p. 429.

technological advancements which have profoundly altered the world's economic structure. Davis further observes "The achievement of high levels of urbanization any where in the world had to wait for the industrial revolution. This remarkable transformation had its rise in one part of the world, western Europe, and then spread to other parts as industrialism spread."[1] Lee remarks: "the cities of today had their origin in industrial revolution, which gave rise to the factory system, on an extensive scale, revolutionalized the process of production and distribution and complicated the occupational structure of western societies. The term modern city has thus become associated with the growth and development of industries and is symbolic of technological progress and inventions following thereform"[2] Industrialization has thus accelerated urbanization. Following this, it may be said that the more industrialized a country is, it might throw up more cities, or it may increase the dimensions of the already existing ones.

Several terms such as urbanism and urbanization, industrialism and industrialization have at present become the pet words with which sociologists explain the rapid development of new social forms. Thompson defines urbanization "as the movement of people from communities concerned chiefly or solely with agricultural to other communities generally larger, whose activities are primarily centered in government, trade, manufacture or allied interests."[3] Thompson distinguishes two communities agricultural and non-agricultural—on the basis of occupation and specialization of work. Quite distinct from this, urbanization can be considered in a demographic sense also. Davis opines that "urbanization is a movement

[1] Davis, K. and Golden, H. H.: 'Urbanization and the development of pre-industrial city'. Economic Development and Cultural Change. Vol. III, Oct. 1954, pp. 6-24.

[2] Lee, R. H.: 'The city, Urbanism and Urbanization in the major world region', Chicago, 1955, p. 31.

[3] Thompsor, W. S. 'Urbanization', Encyclopaedia of Social Sciences, Vol. XV, p. 189.

of people from agricultural into industrial employment, which leads to urban living. Attention is on the movement of people to urban like work in urban like places where they can be counted.[1] Ghurye views the term urbanization in the sense of population growth in a geographical area where they can be measured.[2] For our purpose, we have viewed urbanization in the demographic sense as a process of population concentration as well as in functional sense.

The term urbanization and urbanism are often used synonimously. However, there is a difference between the two. The first refers to physical expansion of the city while later to the social and psychological aspects of urban living. The famous dictum of Louis Wirh entitled "Urbanism as a way of life"[3] brings out the social and psychological complex of urban living in which variations in population size, density, and heterogeniety are set against variations in individual behaviour and outlook in the urban setting where people from different communities flock together to form a new community—the urban community. Anderson takes the meaning of urbanism in a wider perspective. According to him, "urbanism as a way of life is not confined to cities and towns alone, although it emerges from the great metropolitan centres. It is a way of behaving and one can be very urban in his thinking and conduct, even though he may live in a village ; on the other hand a very non-urbanized person may live, in a most urbanized section of a society."[4] In other words, we may say that urbanism is a way of living and thinking. It is a complex of socio-cultural norms and values, associated into a social system which can be only seen and described and not measured.

Again, urbanization and industrialization has been closely associated with each other and they have been used frequently

---

1 Davis, K. and Golden, H. H.: Op. Cit. pp. 6-24.
2 Ghurye, G. S.: Cities and Civilization, Bombay, 1962, p. 5.
3 Wirth, L.: 'Urbanism as a way of life'. A.J.S. Vol. XXXXI, No. 1, July, 1938, pp. 1:38.
4 Anderson, Nels.: The Urban Community, Newyork, 1959, p. 1.

as interchangeables. It is true that industrialization and urbanization went hand-in-hand in some parts of the world (particularly western Europe and North America) but in many parts of the world (especially Asian countries) urbanization as a process has been in existence long before the dawn of industrialization. Moore remarks that urbanization and industrialization are associated in many ways, but they are independent variables.[1] He further remarks that urbanization can take place without industrialization. Similarly, Canhanan observes that urbanization and industrialization are closely associated with each other and they are interdependent variables but they are not one and the same thing."[2]

Let us now turn to the history of urbanization in India and find out what trends emerge from it. India is a country of villages, but it has a tradition of urban living which goes for back into the past. Archaeological evidences in India and Pakistan has proved the presence of urban centers on the subcontinent dating back to the third millinium B.C.[3] The cities of the Indus Valley civilization, Mohanjodaro and Harappa catered to the economic and social needs of people of the region as long back as five thousand years ago. These urban centers were mainly mercantile and artisan centres.[4] The ancient towns of India served as religious and administrative centres with small indigenous industrial and commercial concerns spread over in the surrounding regions. The evolution of pre-historic cities of India such as Kashi (Banaras and now Varanasi), Prayaga, Haradwara, Dwarika, and Ayodhya had a sacred complex in them ; they are located either along the banks of the holy rivers or at the sites of shrines and temples. These towns

[1] Moore, W. E. : Industrialization and Social Change. UNESCO, Mouton, 1963, p. 204.

[2] Canhanan, W. J. : 'The Historical Sociology of Cities'. Social Forces, Vol. XXXXV. No. 2, 1966, p. 159.

[3] Mazumdar, R. C. and others : Advanced History of India, London, 1950, p. 15.

[4] Ibid, p. 16.

were and are still today, links with different parts of the respective regions. Besides, these centers were usually district headquarters or provincial capitals which were also military centers of their time. Also, the development of transport facilities and political stability gave rise to commercial and market towns which were generally located at the cross-roads of the main-routes.

During the Muslim period several towns like Agra, Delhi, Ferozepur, Lucknow and Firozabad came into existence partly as administrative headquarters and partly as religious centers. This type of cities are characterised by forts, mosques, tombs and palatial buildings of Raja and Nawabs.

The process of urbanization took a different form when Britishers came in Undia. Their advanced technology and commercial motives initially gave birth to the port towns like Bombay, Calcutta and Madras. Later with the coming of the railways, new cities and towns were born. They reduced the importance of the traditional cities of India. But at the same time cities like Ahmedabad, Bangalore, Kanpur, Poona and Nagpur tom ention a few, they did not remain as they were underwent profound change in the size of their population and functions. With the introduction of rail routes and the establishment of industries, many new commerical and industrial towns came into existence in the neglected corner of the country particularly in the hilly and forest areas. These new towns and cities stand in marked contrast to the early towns which generally occupied the prominent sites along the banks of holy rivers. The cities of today are by and large located at the places of power and mineral resources. For instance coal mica, iron and other deposits have shaped the destiny of cities like Raniganj, Jharia and Nowamandi. Similarly Jamshedpur, Durgapur, Bhilai and Rourkela are purely industrial towns. On the other hand, Chandigarh, Bhubaneshwar and Bhopal reveal the emergence of new capital towns based on political system in a new economic order. In other words, we can say that the nature and growth of cities and towns in India was much accelerated in the post-independence

period when India decided to go ahead with the process of planned industrialization through her five-year plans.

It would appear from the foregoing discussion that cities were in India, no doubt, but their growth were very slow at first and later rising very fast. The following table gives the nature of urbanization in India since 1901-61.

TABLE 1

Growth of Urban population in India (1901-61)

Year	Population (Million)	Urban Population (Million)	Percentage Inc./Dec.	Percentage of urban to total population
1901	236.3	25.7	—	10.91
1911	252.1	26.6	+ 2.4	10.57
1921	257.4	28.6	+ 7.3	11.38
1931	297.0	33.8	+18.4	12.13
1941	318.7	44.3	+31.1	13.91
1951	361.1	62.6	+41.2	17.34
1961	439.2	78.8	+25.9	18.00

Sources :—Regional Planning for Urbanization in Eastern India by Leo Jackobson. Unpublished paper prepared for Calcutta Metropolitan Planning Organization, Calcutta, 1964.

It is evident from the above table that during the first two decades (1901 to 1921) the population was severely affected by epedemics such as Cholera and plague and drought in which cities suffered heavily. During this period only 10% of the total population was recorded as urban, whereas in 1961 it reached 18% of the total population. A rapid increase in the urban population was observed since 1930 because of a large influx of migrants and the establishment of new industries. The highest increase (42%) in the urban population was recorded between 1941 and 1951 and that can only be attributed to the large volume of migration particularly of displaced persons and refugees from Pakistan due to partition of the country. In the next decade

(1951-61) there has been a decrease in the total urban population. The number of towns and cities decreased from 3057 (in 1950) to 2690 (1961), owing to new definition adopted by the 1961 census, but there was still an increase of 26.2% in total urban population.

The trend of urbanization reveals many peculiar characteristics. One is that the population of large cities is growing faster in comparison to small towns. Secondly, the metropolises like Calcutta and Bombay experienced a rapid growth owing to the new industries in their surroundings and also because of extension of commercial, administrative and modern services. Other large cities like Delhi, Madras, Bangalore, Hyderabad, Poona and Kanpur which owed their growth primarily to educational and administrative functions are today experiencing fast development because of commercial and industrial services. The trends also indicate the decrease in the number of towns of small sizes having population below two thousand.

The increase in the components of urban population is not entirely due to natural increase, in a large measure it is migration from rural to urban areas. Zachariah remarks that rural-urban migration is by far the major component of urbanization and is by far the major component of urbanization and is the chief mechanism by which all of world's great urbanization trends have been accomplished."[1] This is indicated by disproportionate sex ratios of cities and towns. All the cities of India, somewhat show a masculine nature in population. The census of 1961 shows 941 females to 1000 males for the total population. 963 females for rural and 845 females for urban per 1000 males. It can be further noticed that large cities of India show a low sex ratio than that of smaller cities.

Another significant point about Indian cities is that 18% of the total urban population dominates the entire political, social and economic functions of the country. As Ashish Bose

---

[1] Zacharith, K. C. : 'Internal Migration in India,' in Roy Turner, Ed. India's Urban Future, California, 1962. p. 28.

remarks, "The cities are the focal points of power, wealth, justice, education and progress, they are the centres of trade, industry and commerce, they are the vital links of transport and communication throughout the country. They are the places which patronize art, set fashion and diffuse new ideas."[1] In short, they are the centres of dominance of cultural imperialism, the citedals of capitalism and islands of westernism in a vast rural India.

---

[1] Bose, A. : 'Impact of urbanization in India' in Indian Economic Association, Conference No. 13.

ANXIETY IN SPENDER'S EARLY POETRY

DEEPAK KRISHNA VERMA,

Research Scholar, Deptt. of English, B. H. U.

Anxiety has been one of the marked features of the modern poetry. Mr. A. C. Ward calls modern age as the Age of Anxiety. The feeling of anxiety which prevailed as an undertone in the early modern poetry, culminated in the thirties.[1] Prof. B. L. Sandani in an article on modern poetry points out:

> "What could be said of the generation, that grew up between the two world wars? It was nursed on anxiety. Youth was torn between a nostalgia for a comforting past and an apprehension-half-fear, half-hope—of another and greater war prolonged social struggles and impending chaos."[2]

It is interesting to see how spender, one of the prominent poets of the period, voices the feeling of anxiety, in his Pre-war poetry i.e. his early poetry. This feeling is present as an undertone in all his early collections of poems and his Vienna.

The term 'anxiety' belongs to the domain of psychology, and is mainly concerned with the functions of human mind. Freud himself made a minute analysis of its nature, and many other researches have served to clarify its nature. Mr. Hilgard analyses the nature of anxiety in the following way:

> "Anxiety is first of all a state of apprehension, of concern, of uneasiness. It is especial kind of fear...... A second use of anxiety restricts it to a more limited kind of vague fear; the fear of insecurity. Anxiety is used in a third way to mean concern over our own conduct i.e. feeling of guilt."[3]

---

[1] "The decade that commenced with 1930, is a significant one. It witnessed the career of the secret forces which led to the violent outbursts of world War II. It staged climax of anxiety that bad been disturbing Western Humanity."—"English Poetry In 1930's." p. 7.

[2] 'Some Aspects of Modern English Poetry'—The Modern Review, July 1966.

[3] Introduction to Psychology: Hilgard. Metheun, p. 166.

So anxiety suggests some sort of mental tension, uneasiness and restlessness. It may be accompanied with the feeling of guilt also. And all these features of anxiety find expression in the early poetry of spender.

Anxiety made itself felt in the first decade of the century and as time rolled on its effect was accentuated.

The Boer war was fought and won, but it had deep implications for Europe. In "La Cuerre" published in 1898 Bloch anticipated a Europe in danger of being overwhlmed by some disaster. Harold Spender observed about this book—"In that remarkable book on the war of the Future in which the Russian Writer Bloch foretold in the Nineties, almost to pacifist detail, the nature of the war through which we have passed."

In 1901 Churchill too pointed out the danger latent in modern warfare: "A European war cannot be anything but a cruel, heart rending struggle which, if we are ever to enjoy the bitter fruits of victory, must demand, perhaps for several years, the whole manhood of the nation, the entire suspension of peaceful industries and the concentrating to one end of every vital energy in the community."[1]

In the thirties political catastrophes, economic crisis and sociological problems intensified the feeling of anxiety. As a ciritic pointed out, "Part of a world-wide depression, they entered a decade so financially bankrupt and morally insolvent that it was sometimes known as 'Threadbare Thirties'......."[2]

The great war with its Treaty of Versailles proved a great shock to the Westerness. The common man was disillusioned Empire had become 'a sickman of the world.'[3] Trade Unions were becoming strong. Revolutions in Spain and Austria, Nazism and Fascism heavily contributed to the feeling of restlessness and insecurity. Traditions and culture had lost their values. There was moral and spiritual chaos.

[1] Winston Churchill, May 12, 1901. p. 39.

[2] 'Modern British Poetry', p. 17.

[3] Between two Wars : Vizilantes, p. 17 (Penguine 1937).

Economic crisis stirred the roots of the English nation. Inflationary tendencies and unemployment were the main causes of the crisis. Benedetto Croce remarked about the Europe of thirties quite pertinently well when he said, "we see today the new Europe—improverished, discouraged, crisis crossed with high tarrif walls......and tormented by the fear worse to come."[1]

So the general atmosphare of the period was bewildered and confused, which had to restlessness and anxiety. Spender's Pre-war poetry expresses this common note of anxiety significantly. Marxist influence had made him more realistic. He did not want to escape from the realities of life. His poetry of thirties has been well described as "a search for the integration of personality through contemporaneity."[2] He earnestly voices the interests, aspirations and fears of his contemporaries, and his poetry reflects the feeling of anxiety in all its shades and aspects. All his works viz., '*Poems*' (1933), *Vienna* (1936), *Still Centre* (1939), even the poetic drama '*The Trial of A Judge*' (1938), stories of 'The Burning Cactus' (1936) and his critical work '*The Destructive Element*' reflect the restlessness and anxiety. What Prof. Sandani remarked about the whole poetry of Auden group, holds quite true in repect of spenders work, that is poetry seemed "haunted by ghosts of undefined and devastating guilt . Poetry echoed the heart's desolation and the mind's despair."[3]

In his early career, spender is a realist, more conscious of contemporaneity and the socio-economic problems of the time. The course of events had convinced him that communism alone was the right solution of the crisis. Later in 'the God that Failed' he pointed out—"The slump of the 1930's, the catastrophe of the Weimar Republic, the fall of Sociolist Vienna, all of them, events which I witnessed more or less from the outside, had forced me to accept a theoretically Communist position. In 'Poems' and in Forward From Liberalism, I

[1] Of Liberty—Foreign Affairs, New York. Oct. 1932. (Op. 1).

[2] English Poetry In 1930's.

[3] Modern Review, July 1966, p. 63.

had stated Communism as an intellectual and emotional necessity."[1]

He assirted his realism as early as in 1932, when he said, "The problem before poetry today is not escape on to the snowy peaks, nor to escape into itself, but to accept the life that is around us and, in the deepest sense enjoy it."[2]

Some of his earliest poems viz. 'The cries of Evening', 'Acts thrust beyond the boundary of mere wishing', 'A whim Of Time' etc. express this note of anxiety. The poem 'The Cries of Evening' opens on a suggestive note—

"I hear the cries of evening, while the paw of dark,
creaps up the turf:"[3]

Here the paw of dark is quite suggestive, though apparently it is a part of the landscape. In the same poem, the poet further says :

"Yet this constancy
Of natural rest, pulls at my heart ;
Town bread, I feel the roots of each earth cry
Tear me apart."[4]

The poem 'A whim Of Time" written in 1929 suggests this feeling almost openly. The poet feels pity that instead of loving, we fight with each other, because before Time we are equal :

"A whim of time, the general arbiter,
Proclaims the lone instead a death of friends
Under the domed sky and athletic sun
The three stand naked, the new, bronzed German,
The communist clerk, and myself being English.
Yet to undwind the travelled sphere twelve years
Then two take arms, spring to a ghostly posture
Or else roll on the thing a further ten."[5]

---

[1] The God that Failed, p. 247.
[2] The Book Man, Oct. 1932.
[3] The Collected Poems—1955, p. 201. (Faber & Faber, 24 Russell Square London, 1955).
[4] The Collected Poems—1955, p. 201.
[5] Modern British Poetry—A critical anthology, p. 487 By Loviz Unter-Meyer (Hartcourt, Brace And Company). 1942.

The last lines are significant as they refer to the root causes of anxiety. His intuitive insight is clearly visible in the last line. It is noticeable that the II World War began in 1939, and the poem was written in 1929.

In 'Poems' (1933) the note of anxiety is more obvious. The opening lines of 'Rolled Over on Europe' are significant as they refer to the condition of Europe and its atmosphere :

> "Rolled over on Europe, the sharp dew frozen tostars
> Below us : above our head the night
> Frozen again to stars."[1]

And the poet asks—

> "What cross draws out over arms
> Heaves us over bodies towards the wind,
> And hammers us between the mirrored lights."[2]

Further, the poem "My parents kept me apart from children who were rough" shows the sense of guilt in the poet and refers to the social unrest of the time. The poet says—

> "My parents kept me from children who were rough
> And who threw words like stones and who were
> torn clothes,
> Their thigh showed through rags."[3]

The poet's sense of quilt led him to forgive them—

> "And I looked another way, pretending to smile
> I longed to forgive them, Yet they never smiled."[4]

In his autobiography spender explains this guilt consciousness. He says, "I had allowed a sense of social guilt to put me in a position where I was unable to criticize a thief or blackmailer. This meant that I was a potential exploitee, because I could never feel within myself the rightness of a social situation which would rebuke the roughness of others. So I allowed my times energy and money, all of which I should have spent to the advantage of my talent, to be wasted."[5]

---

1 "Collcted Poems", p. 20.
2 Ibid, p. 20.
3 Ibid, p. 30.
4 Ibid, p. 30.
5 World within World, p. 118.

Another poem 'who live under the shadow of war' almost predicts the coming war—

"Who live under the shadow of war
What can I do what matters ?
My pen stops, and my laughter, dancing stop, or side
to a gap."[1]

In 1935, spender wrote *Destructive Element* the general thesis of which is that the modern literature revealed a consciousness of a destructive principle in society. "Writing in 1930's," spender observes in *Creative Element*. "I thought of this distructivener as social, a kind of political doom overtaking society."[2] In *Destructive Element* spender says, "All these writers seem to me, faced by the destructive element ; that is, by the experience of an all pervading Present, which is a world without belief. This situation is accurately described by I.A. Richards, who finds in 'The Waste Land' the expression of the predicament of a generation."[3]

Vienna (1935) mainly deals with the oppression of socialists in the Civil war of Austria. There is a passionate indignation against the rising Austrian Fascist tyranny, in which so many socialists were killed. Edwin Muir observes in the review of the poem, "Mr. Spender takes as the subject of this poem the most heroic episode of modern times, the fight of the Socialist workers of Vienna against the organized brutality of military, political and economic tyranny."[4] The economic crisis and the labour unrest were some of the root causes of anxiety. The feeling of revenge of the proletariate is voiced in the following lines—

---

[1] Collected Poems, p. 37.

[2] The Creative Element, (Introduction) p. 9. (Hamish Hamilton Ltd. 90, Great Russell London, London w.e., 1953).

[3] The Destructive Element, p. 14. The Life And letters Series No. 87. (London, Jnathen Cape, Toronto, 1938).

[4] London Mercury, Feb. 1935, p. 382.

"These murders lie on Fey
'who boasted of his clean up. For many months
'They have dispersed our societies, driven our meetings,
'Beneath the recognizing light.......

× × ×

'I was exploited even as a child
'At age of 16 I became an assistant and at 17
'I made my trands in Austria and Germany
'And saw oppression of workers."[1]

So *Vienna* strikes at one of the root causes of anxiety—unrest of the labour class and their exploitation and oppressior.

In May 1936, spender published 'Buring Cactus', a collection of five stories. Here too be expresses has "acute awareness of the doslocation of his times."[2] Till, of Burning Cactus, embodies a sense of chaos, of aimlessness of hysteria in everything. So the undernote of anxiety is present in the stories also.

In 'Still Centre' the note of anxiety becomes more clear, and many poems vibrate with the fear of some undefined disasters. In 'polar Exploration' there is a suggestive note of fear and restlessness, which is visible in the following lines—

"We cannot sleep. At night we watch
A speaking clearness through cloudy paranoia."[3]

"The Uncreating Chaos" bears the prophetic intuition of the poet—

"I stand so close to you
I will confess to you
At night I am flooded *by a sense of futurs*
The bursting tide of an unharnessed power
Drawing the cantours of the present."[4]

The lines are suggestive, and they reveal the hidden fear in the heart of the poet. "The Three days", another five poem

[1] Vienna, 1935. pp. 31-32.
[2] London Mercury, May 1936. p. 62. Reviewed by High I 'A. Fausset.
[3] Polar Exploration. The Still Centre. (Faber & Faber Ltd. 24 Russell Square, London, p. 18, 1939.)
[4] Uncreating Chaos—11. 48-52. (p. 31.).

by spender, shows the restlessness of the poet's mind due to the fear of something worse to come—

"From the rhythm of the country—drinking body
What muscles assirts happiness against
The anxiety of the city?
× × ×
What place we give each other signs
A way the storm of wars."[1]

In this way we see that the inter-war poetry of spender expresses the note of anxiety significantly. Being a realist inspired by Marxism, he took active interests in the political and socio-economic problems of the period, and it was has faith that these problems could only be solved by Marxist formula,[2] which he expressed in his work 'Forward From Liberalism". W. B. yeats appreciated the approach of the poets of 'New signatures' towards the problems of the time, and called it "an effort to seek strength from without in face of despair."[3]

The other aspect of anxiety was the fear of coming war, which all the intuitive poets of the time sensed. "The fear of the coming war brought about a crisis in poetry, produced a new tone and sentiment, and gave it a new direction, because the poets of that 'crisis generation', being sensitively more awake, sensed it in the very pulse of the times."[4]

We can discern this note of anxiety in the rhythms images of the early poetry of spender. We find that images in his early poetry are highly suggestive, often from the destructive side of nature, and at times even evoking engineering images.

In the poem "Rolled over on Europe" the images are significant as they intensify the note of despair—

---

1 The Still Centre, p. 50

2 "Clearly these poets believe that a new order of society must emerge out of the present mudder and that the basis of the new society must be communistic"—Michael Roberts: 'Poetry & Propaganda'; London Mercury. Jan. 1935, p. 234.

3 Yeats' Letter to Dorothy (dated July 6, 1935)—Letters on Poetry.

4 English Poetry In 1930's., p. 48.

"What cross draws out our arms
Heaves us our bodies towards the wind
And hammers us between the mirrored lights."[1]

In the poem 'My parent kept me from children who were rough' the image of dog for the rough children makes it more effective—

"They were lithe, they sprang out behind the bedges
Like dogs to bark at our world."[2]

The poem 'Alas when he laughs it is not be' the images show the prophetic insight, and the poet is annoyed by the fear of a coming war with Germany—

"I think that obdurate cliff
That shuts out all our sky and always grows
Block between us and the silent pools of the will
Would fall: and the rocks
Would burst with German streams again."[3]

The notes of anxiety are more clearly visible in the images of 'The Still Centre'. For example (in the following lines) the fallen light, 'Sunlight peninsulas of the sword' peace torne like leaves etc. indicate the note of anxiety—

"The light is fallen and you are hidden
In sunlight peninsulas of the sword:
Torn like leaves through Europe is the place
which through we flowed.
New I climb alone to the dark room."[4]

The engineering images of 'The uncreated Chaos' suggest the shadow of some dark event, as well as the place of machine in future society (as has been pointed out by Mr. Edwin Muir, "The popularity of the engineering imagery at present is due to a belief in the inevitable approaching salvation of society through the use of machinery."[5]

[1] Collected Poems, p. 20.
[2] Ibid, p. 30.
[3] Poems.
[4] 'The Room Above The Square'—The Still Centre, p. 40.
[5] 'The Present Language of Poetry—London Mercury, Nov. 1934, p. 36.

"The engine in you, anxiety,
Was a grave lechar, a globe trotter, one
Whose were straws, the winds that puffed them, aeroplanes
Whatever happened, I shall never be alone,
I shall always have an affair, a railway far, or a revolution."[1]

So the images of his early poetry, with their tones and overtones, their dips in engineering marks, vibrate with the feelings of the poet's heart and often echo the fear and restlessness of his mind.

In poems which express his feeling of anxiety employ rhythms which are highly suggestive, resulting in assonance, spruing rhythm, internal and cross rhyming, ellipses, femine ending etc., which help to provide adquate expression. Mr. Francis Scarfe points out that "his (spender's) typical rhythms are those of hesitation and recoil, a dropping of hand."[2] Needless to say that rhythms of hesitation and recoil are often the expression of restless mind.

The heavy and yet emphatic rhythmic pattern in the following lines suggest the gloominess and restlessness of the poet's mind.

"Is the north,
Over there, a tangible, real madness,
A glittering simpleton, one without towns,
Only with bears and fish, a staring eye,
A new and singular sex ?"[3]

Similarly note the rhythm of the following lines from 'Unereating Chaos'—

"Meagre men shoot up, Rockets, rockets,
A corporal's fiery tonque ways above burning parliament

---

[1] 'The Uncreating Chaos'—The Still Centre, pp. 30-31.
[2] Auden And After, p. 35.
[3] 'The Polar Exploration'—The Still Centre, p. 18.

Breeches and gaiters camouflage blood.
O visions of a faltering will
Inventing violent patterns."[1]

At such moments there is intensity of Hopkins, often a dramatic note of Owen, and at times the sharp and jerking rhythms of Eliot and Auden.

---

[1] The Still Centre, pp. 32-33.

तात्पर्यलिङ्गनिरूपणम्

मीमांसारत्नम् ए० एस० शास्त्री

अध्यक्षः धर्मशास्त्र-मीमांसाविभागस्य, प्राच्यविद्या एवं धर्मविज्ञान संकाय, का० हि० वि० वि०

विदितमेवैतत्समेषां विद्वत्तल्लजानामैहिकामुष्मिकपुरुषार्थसाधनप्रकाशनसमर्थः सर्वज्ञकल्पो भगवान्वेद एव। वेदार्थतत्त्वं च सांगवेदाध्यायिना साधारण्येन ज्ञातुं न शकयत इति, पूर्वोत्तरपक्षविचारादिपुरस्सर एव ज्ञातव्यो भवति। सच विचारप्रकारः परकारुणिकैर्महर्षिभिर्जैमिनि-व्यासादिभिः पूर्वोत्तरमीमांसयोर्बाहुल्येनन्यरूपि। तत्र सर्वेषां वेदवाक्यानां तत्र तत्रार्थे तात्पर्यनिर्णयोपयोगीनि लिङ्गानि कुमारिलभट्टैरुपक्रमपरामर्शोपसंहाराख्यानि त्रिणि लिङ्गानन्यर्थवादाधिकरणे निरूपितानि। यथा—

"चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः इत्युपक्रमात् तस्य ज्ञानमुपदेशः इति परामर्शात्, तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायः" इति इत्युपसंहाराद्विधिप्रनिषेधयोरेव प्रामाण्यं प्रतिपादितम् (तं० वा० पृ० १०५ पूना सं०)—इति।

वाचस्पतिमिश्रैरपि भामतीनिबन्धे एतेषामुपर्युद्धृतानां त्रयाणामेवोल्लेखः कृतो दृश्यते।

यथा—न चैतान्युपक्रमपरामर्शोपसंहारैः क्रियासमभिहारेणात्मनत्वमभदधात सन्ति, शक्यानि शक्रेणाप्युपचरितार्थानि कर्तुमिति। परन्तु किंतचन प्राचीनं पद्यमुद्धरन्ति वेदान्त-विचक्षणाः—यत्र सन्दिग्धानां वेदवाक्यानां तत्र तत्रार्थे तात्पर्यनिर्णयाय लिङ्गषट्कम् निरूपितम्। यथा—

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्य निर्णये॥

अस्मिन्प्राचीनपद्ये उपक्रमोपसंहारपदाभ्यामेकमेव लिङ्गमभिप्रेतम्। ताभ्यां पदाभ्यां तत्तद्विचार्यवाक्यीयाऽऽद्यन्तभागनिष्ठमेकार्थपर्यवसायित्वं लक्षणया ज्ञाप्यते। द्वितीयं लिङ्गमभ्यासः। अभ्यासो नाम अनन्यपरं पुनःश्रवणम्। तृतीयं च लिङ्गमर्थवादः। अर्थववादश्च स्तुतिनिन्दान्यतरप्रतिपादकं वाक्यमुच्यते। एतानि त्रीणि लिङ्गानि शब्दघटितत्वात् शब्दनिष्ठं लिङ्गमित्यमियुक्तैव्यवह्रियते। एवमपूर्वत्वम्—चतुर्थं लिङ्गम्। प्रमाणान्तरागोचरत्वम्। तच्चप्रकृतवाक्यात्प्रकृतदर्थविषयकज्ञानोत्पत्तेः प्राक् केनापि प्रमाणान्तररेणांज्ञातखम्। एञ्चाज्ञातार्थज्ञापकत्वम, अनाधेगतार्थगन्तृत्वं वेति मन्तव्यम। पञ्चमंग्र-लिङ्गम फलम। प्रकृतवाक्यार्थविषयकज्ञानस्य फलवत्त्वम्। षष्ठञ्च लिङ्गमुपपत्तिः। सा चावाधितत्वम्। अर्थात्प्रमाणान्तरेण प्रकृतवाक्यार्थस्याबाधितत्वम्। एतत्रयन्त्वर्थनिष्ठम्। एवञ्च षटसु लिङ्गेषु—उपक्रमोपसंहारौ, अभ्यासः, अर्थवादश्चेति त्रिणि लिङ्गानि शब्दनिष्ठानि, अतिप्रसङ्गवारकाणि।

अपूर्वता, फलम, उपपत्तिश्चेति त्रीणि लिङ्गानि प्रामाण्यशरीरसम्पादकानि। तदेवात्रोपपाद्यते। तथाहि—

तत्रोपक्रमोपसंहारयोरेकार्थनिष्ठत्वस्यैकार्थतात्पर्यनिर्णायकत्वेन लिङ्गत्वमुपपद्यते । एकस्य वाक्यस्यानेकत्र तात्पर्यसंशये सति यस्मिन्नर्थे उपक्रमोपसंहारयोराद्यन्तभागयोः पर्यवसानं भवति, स एव तात्पर्यविषय इति सम्प्रधार्यते। इतरथा तस्य वैयर्थ्यं प्रसज्येत। क्वचित्तु अनुवादकत्वशङ्कानिरासकतयापि तस्य लिङ्गत्वं युज्यते। यदि हीदं वाक्यमेतमर्थमनुवदेत्तर्हीदमेव व्यर्थं स्यादित्युक्तेस्सम्भवात। अत उपक्रमोपहारयोरेकार्थतात्पर्यनिर्णायकत्वेन लिङ्गत्वभवगन्तव्यम् ।

द्वितीयंतु अभ्यासनामकं तत्स्वरूपञ्च प्रागस्माभिरुपन्यस्तम्। इदञ्च एकस्मिन्नर्थे वाक्यस्य तात्पर्यमित्यत्र गमकमिति। अध्वरमीमांसाकौस्तुभेदलक्षणस्य द्वितीयस्य द्वितीयऽधिकरणे समिदादिवाक्येषु कर्मभेदकतया समर्थितं दृशयते। तत्र विहितस्य विधानायोगाद्विलक्षणनानाकर्मविधाने तात्पर्यग्राहकमिति तेषामाशयः। प्रकृते तु सिद्धार्थविषयकं सत् एकस्मिन्नर्थे तात्पर्यज्ञापकतया लिङ्गमित्युच्यते। इतरथा एकस्यैव पुनःश्रवणं व्यर्थमापद्येत। अतो वस्तुनि आदरज्ञापनद्वारा तस्य तात्पर्यग्राहकत्वम्। तदुक्तम् यास्कीये निरुक्ते 'अभ्यासे हि भूयस्त्वमर्थस्य भवति, यथा अहो दर्शनीया अहोदर्शनीया' इति। अस्यायं भावः—दर्शनीयस्य पदार्थस्य अभ्यासेन दर्शनीयतमत्वं प्रतीयत इति। भामती निबन्धेऽपि वाचस्पत्ये ईदृश्येवानुपूर्वी दरीदृश्यते। अत्रेयमाशंका जागर्ति अभ्यासस्य प्राशस्त्यज्ञापनद्वारा तात्पर्यग्राहकत्वमेवमर्थवादस्यापि अभ्यस्यमानस्य अर्थस्य प्राशस्त्यज्ञापनद्वारा तात्पर्यविषयत्वज्ञापकः। तर्हि अनयोः कस्को विशेष इति जिज्ञासायामुच्यते। अभ्यासेन अर्थान्तरादुत्कृष्टत्वरूपं प्राशस्त्यं बोध्यते। अर्थवादेन तु बलवद निष्टाननुवन्धित्वरूपं ज्ञाप्यते। अतो नाभ्यासार्थवादयोरन्यतरेणान्यतरस्य चारितार्थ्यम्। न वा अभ्यासार्थवादयोरैक्यम् ।

अपूर्वत्वमपि तात्पर्यग्राहकं लिङ्गम्। तच्च प्रकृतवाक्यार्थज्ञानविषये उक्तज्ञानात्पूर्वमज्ञातत्वम्। एतेन प्रामाण्यशरीरप्रविष्टमज्ञातार्थज्ञापकमनधिगतार्थगन्तृत्वं बोध्यते। फलं उक्तज्ञानस्य प्रयोजनवत्त्वम्। 'ज्ञानस्य हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलानि' इति प्रामाणिकाः सङ्गिरन्ते। अतएव इदमपि प्रामाण्यशरीरनिर्वाहकम्।

उपपत्तिः—उक्तज्ञानविषयस्याबाधितत्वम्। एतस्य त्रयस्य प्रामाण्यघटकतया तात्पर्यं प्रति ज्ञापकतया लिङ्गत्वम्। यथा यज्ञोपवीतादिकं ब्राह्मण्यं प्रति। एतेषां त्रयाणां आद्यं विशेषणमपूर्वतानामकं 'य एवं विद्वान् पौर्णमासी यजते' इति अनुवादकस्य विद्वद्वाक्यस्य स्वार्थे प्रामाण्यवारणाय उपात्तम्। द्वितीयञ्च उत्ताना वै देवगवा वहन्ति इत्यादेः प्रामाण्यवारणाय। ननु उत्तानादिवाक्यस्य निष्प्रयोजनार्थपरत्वे तदध्ययने प्रवृत्ति न स्यादिति न शंकनीयम्। स्वाध्यायविधेस्सकलस्य वेदस्याध्ययनकर्तव्यताम् बोधयतः प्रयोजनवदर्थपर्यवसायित्वं इति नावमिकस्सिद्धान्तः। अतो यादृशं ज्ञानम् प्रवृत्तिनिवृत्तिद्वारा साक्षाद्वा प्रमातुरिष्टप्रयोजकं भवति, तस्यैव प्रमात्वेन लोके व्यवहारः दृश्यते। निष्प्रयोजनस्य केनापि प्रामाण्यानभ्युपगामात्, प्रामाण्यस्वरूपसंग्राहकं भवति, पारमर्षसूत्रम्—औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशः अव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत् प्रमाणं वादरायणस्यानपेक्षत्वात् (१–१–५ मी० द०) इति।

अत्र सूत्रे उपर्युक्त एवार्थ उपपादितोऽस्ति, औत्पत्तिकस्तु शब्दार्थयोस्सम्बन्धः इत्यत्र औत्पत्तिकशब्दो नित्यपरः। एवञ्च दोषवत्पुरुषकृतः संकेतो न भवति, तस्य-धर्मस्य ज्ञापकम् वाक्यमप्यौत्पत्तिकं निर्दोषत्वेनानादि। अपि च तादृश उपदेशः बाधकज्ञानवत्त्वरूपेण प्रमाण-वैधर्म्येण शून्यः। अपि चानुपलब्धे-अज्ञाते,अर्थे सप्रयोजने धर्मे उपदेशरूपत्वात् तद्वाक्यम् प्रमाणमेवेति अयोगव्यावृत्तिमभ्युपेत्य सूत्रस्यास्यायमर्थ उपवर्णितः। अतः शब्दनिष्ठेन लिङ्गत्रयेण अतिप्रसङ्गवारणम्, क्वचिदनुवादत्वशङ्कानिरासत्यादि। अर्थनिष्ठन्तु लिङ्गत्रयं प्रामाण्यशरीरसम्पादकमतः एतैः षड्भिर्लिङ्गैरद्वितीय ब्रह्मणि वेदान्तानां तात्पर्यं प्रतिपाद्यते। गतिसामान्यमप्यत्रैवोपपद्यते। तथा च ब्रह्मसूत्रम् ईक्षत्यधिकरणस्य गतिसामान्यादिति। सर्वेषां वेदान्तवाक्यानां अद्वैतावगतिजनकत्वेन समाना इत्यर्थः। तत्र उपरि निरूपितानां षण्णां लिङ्गानां तात्पर्यनिर्णायकानामुदाहरणं जिज्ञासूनामुपकाराय स्थालीपुलाकन्यायेन उदाहरणपूर्वकं निर्दिश्यते।

ईशावास्ये-लिंगनिरूपणम्

तथाहि—ईशावास्योपनिषत् वाजसनेयिशाखायां चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः। तत्र काण्व-शाखानुरोधेनाष्टादश मन्त्राः ईशावास्यमित्यदिः—नम उक्तिं विधेम इत्यन्तः। तत्र ईशावास्य-मित्युपक्रमः—स पर्यगाच्छुक्रमिति उपसंहारः। ताभ्यां एकत्र तात्पर्यं निर्णीयते। अनेजदेकं मनसो जवीयः, तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः; अभ्यासः। नैनद्देवाः पूर्वमाप्नुवन्नित्य-पूर्वतासंकीर्तनम्। तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः, इति फलवत्तासंकीर्तनम्।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि इति जिजीविषोर्भेददर्शिनः कर्मकरणानुवादेन—असुर्या नाम ते लोकाः इति निन्दया ऐकात्म्यदर्शनस्य स्तुतत्वात्। तस्मिन्नपो मातरिश्वा-दधाति इत्युपपत्त्य-भिधानाच्च ईशावास्योपनिषदः ऐकात्म्यतात्पर्यं दृश्यते। एवञ्च—उपक्रमोपसंहारयोरैकरूप्य-अभ्यास अपूर्वता फलवत्ता अर्थवाद युक्ति—उपपादकानिषट्तात्पर्यलिङ्गानि।

छान्दोग्ये लिंगप्रतिपादनम्

छन्दोगानां उपनिषद्यपि दृश्यते तथाहि—भगवती छान्दोग्यश्रुतिः उद्दालकश्वेतकेतु संवादमुखेन—उततमादेशमप्राक्ष्यः। येनाश्रुतं श्रुतं भवति, अमतं मतम्, अविज्ञातं विज्ञातमिति एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय तदेव कथन्नु भगवः स आदेशो भवति आशंकापूर्वकं—यथा सौम्य एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात्, वाचारम्भणं विकारो नामधेयम् इत्यादि-दृष्टान्तैरुपपाद्य ततो दार्ष्टान्तिकं प्रपञ्चयितुं सदेव सौम्यदेमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयमिति सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यं सन्मात्रं वस्तु इत्युपक्रमः। ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्—इत्युप-संहारः, ताभ्यां समग्रस्य प्रकरणस्यैकस्मिन्नर्थे पर्यवसानं बोध्यते। एवं श्वेतकेतुं द्वारीकृत्य मुमुक्षूणां जीवानामात्मत्वेन सदद्वितीयमतिसूक्ष्मं सर्वात्मकं परमार्थसत्यं ब्रह्म तत्तदाशङ्कानिरा-करणपूर्वकं नवकृत्वः पुनः पुनरुपदिदेश।

तथाहि—प्रयतो वाङ्मनसि इत्यादिना सुषुप्त्युत्क्रान्त्याद्यवस्थासु येन रूपेण जीवः सम्पद्यते, तत्स्वरूपं ब्रह्म तत्त्वमसीति उद्दालकेन पित्रा उपदिष्टे सुषुप्त्यवस्थायां सत्सम्पन्नाः प्रजाः तद् ब्रह्मात्मत्वं किमिति न जानीयुरिति श्वेतकेतोः आशङ्का जाता, तामाशङ्कां यथा सौम्य

मधुकृतः इत्यादिना मधुकरैर्मधुत्वेन सम्भृतनानावृक्षरससमुदायवत् विवेक्तुमशक्यत्वेन सुषुप्त्यादौ प्राप्तमपि ब्रह्म न ज्ञायत इति पराकृत्य तदेव तत्त्वमुपदिदेश ।

ननु सुषुप्त्यादौ कारणाभावात् अविज्ञानमस्तु उत्थितास्ते ब्रह्मणो वयमुत्थिता इति कस्मान्न विदुः इति श्वेतकेतोश्शङ्का समुत्पन्ना, तां इमा सौम्य नद्यः इत्यादिना यथा जलधरैरम्भोधितः आकृष्य विसृष्टानां नदीनां रसान्यत्वेन समुद्रादागमनं दुर्ज्ञानम् । एवं ब्रह्मण उत्थितानां संसारिणां जीवानां तद्वैलक्षण्यात् तदात्मनानवस्थानात् उत्थिता वयमिति न ज्ञानमिति परिहृत्य पुनस्तदेव तत्त्वमुपदिदेश । पुनः श्वेतकेतोरियं शङ्का समुत्पन्ना यद् सुषुप्तौ जीवस्य कारणभावापत्तौ समुद्रवीचीवन्नाशशंकायां अस्य सोम्ये महतः इत्यादिना यथावृक्षस्य परश्वदिना उच्छेदे रसस्राविवात्सजीवत्वम् । तथा सुषुप्तौ देहे लोहितदर्शनात् न जीवनाशः इति परिहारेण तदेव तत्त्वं पुनरुपदिदेश । तदुपरि कथं सूक्ष्मात् ब्रह्मणः स्थूलजगतः उत्पत्तिरिति शंकां न्यग्रोधफलमत आहर इत्यादिना वटधानान्तर्गतसूक्ष्मरूपात् वटोत्पत्तिवत् जगत उत्पत्तिसम्भवेन निराकृत्य, पुनरपि स एवार्थः स्थापितः । तस्योपरि जगन्मूलकारणं ब्रह्म किमिति नोपलभ्यते इति शङ्किते, लवणमेतदुदके अवधाय उदक प्रक्षिप्तलवणधनस्य दर्शनस्पर्शनाभ्यामनुपलम्भेपि रसनात् लवणसद्भावनिश्चयवत् चक्षुराद्यदृश्यमपि ब्रह्म कार्यलिङ्गादस्ति, इत्युपर्युक्तां शङ्कां निरस्य तदेव तत्वमुपदिष्टम् । ततः ब्रह्म साक्षात्कारे क उपायः इत्याशंकायां यथा सौम्य पुरुषं गन्धारेभ्यः इत्यादिना गन्धारदेशादरण्ये चोरै निक्षिप्तस्य बद्धचक्षुषः पुरुषस्य नेत्र बन्धनिर्मोचनपूर्वकं गन्धारदेशोपदेशवत् आचार्यकृतादुपदेशात् ब्रह्मसाक्षात्कारः अविद्यानिवृत्तिश्च भवतीत्यभिधाय, तदेव तत्त्वं पुनरुपदिष्टम् । ततः स विद्वान् केन प्रकारेण ब्रह्मसम्पद्यते इत्यपेक्षायां पुरुषं सौम्य उपतापिनं इत्यादिना मन आदेर्लये सति ज्ञानदीपप्रकाशितं ब्रह्मैव प्रतिपद्यते नार्चिरादिकमपेक्षते ।

अविद्वान्स्तु देहान्तरं गृह्णातीत्युक्त्वा तदेव तत्त्वं पुनरुपदिष्टम् । तदनन्तरं मोक्षमाणः मरिष्यमाणश्च यदि तदा ब्रह्म सम्पद्यते, तर्हि अविद्वानिव विद्वानपि किमिति नावर्तत इति श्वेतकेतोराशंकानिरसाय—पुरुषं सौम्य उत हस्तगृहीतमानयति इत्यादिना तप्तं परशुं गृह्णतोः स्तेनास्तेनयोः तप्तपरशुकरतलसंयोगाविशेषेऽपि सत्यव्यवहितहस्ततलत्वात् अस्तेनो न दह्यते, स्तेनस्तु दह्यते । एवमेव अन्त्यकाले विद्वदविदुषोः समानायामपि सत्सम्पत्तौ सत्यब्रह्माभिसन्धिः पुनर्देहं न गृह्णाति, अनृतदेहाद्यात्मबुद्धिस्तु पुनः शरीरमुपादत्त इति परिहारपूर्वकं तदेव तत्वं नवभिर्पर्यायैस्तत्वमुपदिष्टम् । जीवब्रह्मणोरैक्यं न प्रमाणान्तरगोचर इत्यपूर्वता तस्य। ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवतीति फलम् । अविद्वन्निन्दया विदुषस्तुतिरित्यर्थवादः । ऐतदात्म्यमिदं सर्वमिति जीवब्रह्मणोरैक्यं न केनचित्प्रमाणेन बाध्यत इति उपपत्तिः ।

एवं षण्णां लिङ्गानां छान्दोग्ये उपनिषदि समन्वयप्रकारः संग्रहेण प्रदर्शितः । विशेषं मवजिगमिषुभिःस्तप्वालोके द्रष्टव्यः, यत्र एतानि तात्पर्यलिङ्गानि षट् विकल्पेन, समुच्चयेन च प्रदर्शितानि इति ।

गीतायां सांख्ययोगौ

केदारनाथ त्रिपाठी
रीडरः दर्शन विभागे, प्राच्य विद्या एवं धर्मविज्ञान संकायः, का० हि० वि० वि०

श्रीमद्भगवद्गीता सर्वासामुपनिषदां सारमित्युच्यते। तथाह्युक्तम्—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

तथैव सर्वेषां शास्त्राणां समन्वयस्थलीतयापीयं प्रसिद्धा लोकेऽधोलिखित श्लोक प्रामाण्यात्। यथा—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिःसृता ॥

इत्थञ्चेयं भगवद्गीता सत्यप्यध्यात्मप्रधानशास्त्रभावमापन्ना अस्माकं व्यवहारक्षेत्रेऽपि महत्योपयोगितया संभृतासती नो मार्गप्रदर्शनकार्यं सम्पादयतीति मन्यन्ते गीतातत्त्वविदः। एकतो हीयं व्यावहारिक जनानां व्यवहारेष्वाध्यात्मिकीं दृष्टिं प्रददाति येन तदीया व्यवहारा निर्दोषाः सम्पद्यन्ते, यथा च ते स्वकर्महेतुभिर्न कथमपि बध्यन्त इति। अन्यतरश्चाध्यात्म प्रधानव्यक्तीनामपि कृते निर्बाधरूपेण व्यवहार पद्धतिमपि पुरस्करोति, येन च तादृश पुरुषधौरेया आत्मन इव लोकानामपि कल्याणं सम्पादयेयुः।

एवं प्रकारेणं गीता यत्रैकस्या एव व्यक्ते र्व्यावहारिकजीवने आध्यात्मिकजीवने च समन्वयमर्पयति तत्र भिन्न-भिन्नानां व्यावहारिकाध्यात्मिकव्यक्तिनामपि समन्वयं करोतीति। वस्तुतोऽस्माकं कृते गीताभिधानस्तादृशस्तीर्थराज एव विराजते, यत्र ज्ञानकर्मभक्तिरूपाया-स्त्रिवेण्याः, कपिलपतञ्जलिजैमिनि, व्यासप्रभृतीनामृषीणां तथा कौरवाणां पाण्डवानाञ्च महत्याः सेनाया व्याजेनापारजनसमूहस्य चैकं समन्वितं दर्शनं प्राप्नुमः।

तथापि दार्शनिकदृष्ट्या विचारे क्रियमाणे वयमधिगच्छामो यद्गीतायां सांख्ययोगयोः प्रमुखं स्थानं वरीवर्ति तथा सांख्ययोगाभ्यां नितरामोतप्रोतेव सा वर्तते। सम्पूर्णां गीतां ब्रह्म विद्या योगशास्त्रनामभ्यामध्यायान्ते वाम्नाति भगवान् व्यासः। द्वितीयाध्यायस्तु स्पष्टरूपेण सांख्ययोग नाम्ना निर्दिष्टः। तथा सर्वेऽप्यध्याया यथाकथमपि योग नाम्नैव सङ्केतिताः सन्तीति। संख्याशब्दार्थश्च ज्ञानमतस्तत्प्रापकं शास्त्रं सांख्यशास्त्रमिति कथ्यते। अतएव ज्ञान प्रति-पादकताहेतोः प्रत्यध्यायान्तं ब्रह्मविद्येत्युक्तिः सङ्गच्छते। ब्रह्म चात्मैव नान्यत्। एवं योग शास्त्रे चित्तवृत्तिनिरोध एव योग इत्युक्तं 'योगश्चित्त वृत्तिनिरोधः' इति सूत्रेण। सम्पूर्ण गीतायां चित्तवृत्तिनिरोध एव महान् भरोदतः। यतो 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः' इत्यनेन श्लोकेन मन एवास्माकं बन्धनस्य मोक्षस्य च प्रधानं कारण मित्युक्तमस्ति। अतश्चेयं गीता योगशास्त्रमप्यस्तीति। अर्जुनेन प्रश्नः कृतः—स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ! स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ? अत्र पूर्वार्धगतः प्रश्नः समाहित-चितस्थ योगिनोऽभिप्रायेणास्ति, उत्तरार्धगतास्तु व्युत्थानकालीनचित्तानां योगिनामभिप्रायेण त्रयः प्रश्नाः कृताः सन्ति। एवं विधैः प्रश्नैस्तदुत्तरैश्चापि योगशास्त्रमियमिति गम्यते। एवं

मानवानां कृते सांख्ययोगावुभावपि समानरूपेणापेक्षितौस्त:, अतएव गीता तावुभावपि अपृथऽभूतावादर्शयति—'सांख्य योगौ पृथग्बाला: प्रवदन्ति न पण्डिता:' इति वचनेन ।

गीतायां योगशब्दो बहुषुस्थानेषु भिन्नभिन्नार्थेषु प्रयुक्तो दृश्यते । एतावता योगस्य महत्ता व्यापकता चैव सिद्ध्यत: । यथा—प्रथमाध्याये विषाद योग:, द्वितीयाध्याये सांख्ययोग:, तृतीये कर्मयोग:, चतुर्थे ज्ञानकर्मसंन्यास योग:, पञ्चमे कर्म संन्यास योग इत्यादि: । 'सिद्ध्यसिद्ध्यो: समोभूत्वा समत्वं योग उच्यते' इत्यत्र 'योग' इत्यनेन निष्काम कर्मयोग इत्युक्तो भवति । 'बुद्धियुक्तो जहातीह उभेसुकृतदुष्कृते । तस्माद्योगाय युज्यस्व योग:कर्मसु कौशलम्' अत्र बुद्धिशब्दार्थ: समत्वबुद्धिरित्यस्ति । इयमेव योग:, तथा एवं प्रकारो योग एव च कर्मकौशल मित्येच्छ्लोकगतयोगपदाभिप्राय: । एवं 'संन्यासस्तु महाबाहो ! दु:खमाप्तुमयोगत: । योगमुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ।' इत्यत्रापि स एव निष्काम कर्मयोग: प्रतिपादितो यद्विना संन्यासप्राप्तिरपि दु:शकैव । 'ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना । अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥' श्लोकेऽस्मिन् ज्ञानयोग कर्मयोगोपासनायोगानां त्रयाणामेवैकत्र निर्देशोऽस्ति । तथा—

> **अधिष्ठानं तथा कर्ता करणञ्च पृथग्विधम् ।**
> **विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवञ्चैवात्र पञ्चमम् ॥**
> **पञ्चैतानि महाबाहो ! कारणानि निबोध मे ।**
> **सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥**

अत्र श्लोके 'सांख्ये कृतान्ते' इत्यस्य 'सांख्ये सिद्धान्ते' इत्यर्थोऽस्ति । एवं प्रकारेषु गीताया: कतिपयोद्धरणेषु स्पष्टरूपेण सांख्ययोगशब्दयोरुल्लेखो वरीवर्ति ।

विषयदृष्ट्या विचार्यमाणेऽपि सांख्ययोगयोरव गीतायां विशदं विवेचनं क्रियमाणं वयं पश्याम: । गीतायामेतदन्वेषणात् पूर्वमस्माभिरेतत् संक्षेपतो ज्ञातव्यं यत् के तावत् सांख्ययोगयो: प्रतिपाद्यविषया: सन्तीति । सांख्यदर्शनानुसारं जगति सर्वाणि पञ्चविंशतिस्तत्त्वानि सन्ति । तानि च मूलप्रकृति: प्रधानापराभिधाना, बुद्धिर्महदपरपर्याया, अहङ्कारोऽभिमानधर्मक:, सङ्कल्पकात्मकं मन:, पञ्चतन्मात्राणि, पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चकर्मेन्द्रियाणि, पञ्चमहाभूतानि, पुरुषश्चेति । सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थैव प्रकृतिरस्ति । सृष्टे:पूर्वमेते त्रयोगुणा: समभावेन तिष्ठन्ति सृष्टिकाले च विषमभावेन । अत एषां गुणानां साम्यावस्था मूलप्रकृति: प्रलयावस्था चोच्यते, तथा वैषम्यावस्थैव विकृति: सृष्ट्यवस्था चोच्यते । अर्थात् सम्पूर्णं चराचरात्मकं विश्वं त्रिगुणात्मिकायास्तस्या: प्रकृतेरेव परिणामो विकासो वास्तीति ।

यद्यप्येवंविधां प्रकृतिं वयं न चक्षुरादीन्द्रियैरध्यक्षमनुमवामस्तथापि 'कारणगुण पूर्वक: कार्यगुणो दृष्ट:, इति नियममनुसृत्य कार्यगुणान् दृष्ट्वा तादृशगुणवत् कारणमनुमिनुम: । संसारस्य प्रत्येकवस्तुषु सत्त्वरजस्तमसां प्रभावमनुभवाम: । क्वचित् सत्त्वगुणस्य प्राधान्यमन्ययोस्तु गुणयोरप्राधान्यं भवति । एवमेव क्वचिद् रजस तमसो वा प्राधान्यमन्ययोस्त्वप्राधान्यं भवतीति । एतद्गुणत्रयस्वभावपरिचय ईश्वरकृष्णस्य सांख्यकारिकया मिलति । यथा—

> **सत्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रज: ।**
> **गुरुवरणकमेव तम: प्रदीपवच्चार्थतो वृत्ति: ॥**

सत्त्वगुणप्रभावात् धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्याणि प्रादुर्भवन्ति, तमोगुणप्रभावाच्चाधर्म ज्ञानावैराग्यानैश्वर्याणि प्रादुर्भवन्ति। सत्त्वतमसी यत् किञ्चन कुरुतस्तत् रजःप्रेरिते एव, स्वतोऽक्रियत्वात्तयोः। रजस्तु स्वयं चलं सत् ते अपि चालयति। सत्त्वगुणः सुखात्मको, रजोगुणो दुःखात्मकस्तथा तमोगुणो मोहात्मको भवति। संसारस्य प्रत्येकस्मिन् वस्तुनि सत्त्वरजस्तमसां गुणानां प्रभावसद्भावादेव सर्वाण्यपि वस्तुनि सुख दुःखमोहात्मकानि भवन्ति। सांख्यकारिकाटीकायां श्रीमद्वाचस्पतिमिश्रेणातिसरलसरण्या विषयोऽयं सम्बोधितो यथा--एकैव स्त्री स्वपतिं सुखाकरोति, तस्यास्तं प्रति सुखरूपेण समुद्भवात्। सैव स्त्री स्वसपत्नीर्दुःखाकरोति, ताः प्रति तस्या दुःखरूपेणाविर्भावात्। सैव च पुनस्तामविन्दमानं पुरुषान्तरं मोहयति, तत्प्रति तस्या मोहरूपेण समुद्भवात्। अनया च दृष्टान्तभूतया स्त्रिया सम्पूर्णान्यपि वस्तूनि सुखदुःखमोहात्मकान्यवगतानि भवन्तीति।

एवञ्च यदा विश्वस्य सर्वे पदार्थाः सुखदुःखमोहात्मकाः सन्ति तदा तत्कारणेनापि सुखदुःखमोहात्मकेनैव भवितव्यम्। तथा च तादृशं कारणं त्रिगुणात्मिका प्रकृतिरेवास्ति। एवं सत्कार्यवादोऽपि सांख्यस्य मान्यः सिद्धान्तोऽस्ति। एवं सांख्यस्य पुरुषोऽत्रिगुणात्मकश्चेतनो नित्यो गुणक्रियादिरटितोऽसङ्गश्चास्ति। सम्पूर्णो हि विश्वव्यवहारः प्रकृतिकृतोऽस्ति पुरुषस्तु केवल स्तस्य द्रष्टा भोक्ता चास्ति। अयं भोगोऽपि प्रकृतिकृत एवास्ति, न तु तत्र पुरुषस्य किमपि कर्तृत्वमस्ति। एवं मोक्षोऽपि पुरुषस्य प्रकृत्याधीन एव। प्रकृतिपुरुषविवेकज्ञानमेव तत्त्वज्ञानमास्ति। एतत्सर्वं योगदर्शनमपि मन्यते। किन्तु तस्य सांख्यतः पृथगुपयोगित्वमस्मादेव हेतोर्भवति यत् सांख्यीयविवेकज्ञानोत्पत्तौ योगदर्शनं साधनं प्रस्तौति। तच्च साधनं चित्तवृत्तीनां निरोध एव। चित्तचाञ्चल्ये विवेकज्ञानस्याधारभूमिरेव नोपतिष्ठते, जायमानमपि वा विवेकज्ञानं दृढं न भवति। योगसिद्धये च यमनियमाद्यष्टयोगाङ्गान्यावश्यकानि सन्ति चित्तमलापकरणसम्पादकानि। एवंरीत्या सांख्ययोगौ परस्परस्यं पूरकौ स्तः। सांख्यं विना योगो निष्फलस्तथा योगं विना सांख्यज्ञानमसंभवं जायते।

सांख्ययोगयोरिमां प्रक्रियां न केवलं गीता स्वीकरोत्येव प्रत्युत सा प्रसङ्गानुसारं तां वर्णयत्यपि। यथा--

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः,
निबध्नन्ति महाबाहो! देहे देहिनमव्ययम्।

अत्र प्रकृतेस्त्रिगुणात्मकत्वं पुरुषबन्धनस्य प्रकृतिकृतत्वञ्च प्रतिपाद्येते। अस्मिन्नेव प्रसङ्गे सत्त्वरजस्तमसां स्वरूपाणि परिणामाश्च प्रतिपादिताः सन्ति कतिपय श्लोकैः। यथा—

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम्
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ।
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्।
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत।
यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्
तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपाद्यते।

PURUSH AND PRAKRITI

(A PROCESS OF CREATION)

MEDIUM—SAND STONE

By

M. V. Krishnan

Lecturer in Sculpture

FACULTY OF MUSIC & FINE ARTS, B.H.U.

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ।
कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ।

सांख्यं पुरुषमसङ्गं मन्यते 'असङ्गो ह्यय पुरुषः' इति श्रुतेः। गीताऽपि "प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः, अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्येत।" इति श्लोके प्रकृतिगत गुणकर्मभिरात्मानं सर्वथाऽसङ्गं प्रतिपादयति। एवमात्मनोऽसङ्गतां वास्तविकी-माधृत्यैव वारं वारम् अनासक्ति योगमुपदिशति गीता। यथा—तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचार—

यः सर्वत्रानभिष्वङ्गस्तत्तत् प्राप्य शुभाशुभम्
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।

अर्थात् कर्म तत्फलञ्च प्रत्यनासक्तभावेन मदीयमिदं कर्तव्यमिति बुद्धया स्व स्वभावानुसारं विहितकर्माणि कुरु। इत्थं क्रियमाणं कर्म बन्धकं न भवति। अत्रायं निष्कर्ष :-—यदि तस्य कर्मणोऽनुकूलं फल तदा न तस्य हर्षो, यदि च प्रतिकूलं फलं तदा तस्य न विषादोऽपीति सदैवैकरसः सन् न कदापि स्वकर्मभ्यो विचलितो भवतीत्यहो माहात्म्यम-सङ्गताभावनायाः।

अर्जुनं प्रति भगवतः श्रीकृष्णस्य युद्धोद्योगसम्बन्धी सम्पूर्ण उपदेशोऽस्यामेवाधार–शिलायां प्रतिष्ठितोऽस्ति। हे अर्जुन ! त्वं क्षत्रियकुलोत्पन्नोऽसि, अन्यायिना सह योधनं तव क्षात्रो धर्मः स्वाभाविकश्च, तत्त्वं कर्तव्यबुद्धया कुरु, तत्फलाफलाभ्यां तवात्मा नैव लिप्तो भविता यदि त्वं मोहात् नापि चिकीर्षिष्यसि, तदापि प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यत्येव। न योत्स्य इत्यहङ्का-रात्मिका भावनापि आसक्तिरेव सती तव बन्धनायैव भवितेति सर्वविधाहङ्काररहितस्सन् स्वधर्मपालनं कुरु। इत्थमात्मनोऽङ्गताया भावनां पुरस्कुर्वतैव सांसारिका व्यवहाराः सम्पाद-नीया इति भगवद्गीतोपदेशः सांख्यभावनाया एव व्याख्यानमिति नात्रास्ति संशयलेशोऽपि।

सांख्यस्य सत्कार्यवादोऽपि गीतायाः "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः" इति वचनेन प्रतिपादितोऽस्ति। एवञ्च वयं पश्यामो यद् गीतायां सांख्ययोगयोर्विचार एवादितोऽन्त-पर्यन्तमनुस्यूतो विद्यत इति।

यद्यपि गीताया एकं विषयमालम्ब्य सांख्येन सहायाति विरोधः। योगोऽपीममेवांश-माश्रित्य सांख्येन विरुध्यते, स चास्ति विचार ईश्वरसत्ताविषयकः। सांख्ये 'ईश्वरासिद्धेः' इतिसूत्रद्वारा ईश्वरसिद्धेरभावः प्रतिपादितो भवति, योगे च 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः, ईश्वरप्रणिधानाद्वा, शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्राणिधानानि नियमाः इति सूत्रैः स्पष्टरूपेणेश्वरस्य प्रतिपादनं क्रियते। गीतायान्तु पदे पदे वयमीश्वरभावमनुभवामः। विभूतियोगे विराट्स्वरूपस्य दर्शनमीश्वरभावस्य प्रबलं प्रमाणमास्ते। गीतायामीश्वर भक्तेरूपासनायाश्च वर्णनं स्फुटतरमस्ति। 'ईश्वरः सर्वभूतनांहृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति, भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया' इत्यादयःश्लोकाः साक्षादीश्वरपदघटितादृश्यन्ते इति।

किन्त्वत्रेश्वरविषये सांख्यस्य कः सिद्धान्त इत्यस्ति विदुषामन्वेषणविषयः। यतो नास्यानीश्वरवादित्वं निर्विविवादम्। विज्ञानभिक्षु र्हि 'ईश्वरासिद्धेः' इत्यादि सूत्रजातस्य व्याख्यानमभ्युपगमवाददृष्ट्या करोति। स कथयति-सांख्यदर्शनस्य मुख्यमुद्देश्यम्, प्रकृति पुरुषयोर्विवेकज्ञानसम्पादनमेवास्ति। न तु ईश्वरखण्डनेतस्य मुख्यं तात्पर्यमस्ति। यतो ह्यात्मस्वरूपस्य यथार्थज्ञानमेव मोक्षस्य हेतुरस्ति न ततोऽन्यत्, इत्यत्र सर्वेषां वादिना मैकमत्यमस्ति। स चात्मा कामं वेदान्तिनां ब्रह्मभवतु, बौद्धानां क्षणिकविज्ञानं वा भवतु, चार्वाकाणां शरीरमिन्द्रियाद्रिकं वा भवतु। न्यायादिसम्मतोऽन्यविधो वा भवतु। योग वर्णितमीश्वरप्रणिधानमपि तदनुग्रहप्राप्तावेवोपयुज्यते न तू साक्षान्मुक्तौ हेतुः। ईश्वरानुग्रहादाशु निर्वीजसमाधिलाभे बन्धविगमान्मुक्तिरिति। अद्वैतबुद्धावीश्वरानुग्रहं वेदान्तोऽपि हेतु मन्यते। अत एवोक्तं खण्डनखण्डखाद्ये श्रीहर्षेण—

ईश्वरानुग्रहादेषा पुंसामद्वैतवासना
महाभयकृतत्राणा द्वित्राणां यदि जायते।

प्रसिद्धिस्तु यद्यपीयमेवास्ति यत् साख्यं निरीश्वरवादि योगश्च सेश्वरवादिदर्शनमस्तीति। तथापि अत्रास्ति नैकविधो मतभेदः। कियतां विदुषामियं मान्यता वर्तते यत् सेश्वरसांख्यं निरीश्वरसांख्यञ्चेति सांख्यस्य द्वौ भेदौस्तः। विज्ञानभिक्षुस्तु निरीश्वरसांख्यनामकं किमपि दर्शनं नैव मन्यतेऽतस्तदनुसारं गीताया ईश्वरांशेऽपि सांख्यदर्शनेन नास्ति कश्चिद् विरोधलेशोऽपीति।

प्रसिद्ध्यनुसारं यदि निरीश्वरसांख्यमप्यभ्युपगम्येत तथापि गीतायाम् उपनिषदां योगस्य चेतित्रयाणां समन्वयात्मकदृष्ट्या इयमेव मान्यताऽधिकमुचिता प्रतीयते यत् सांख्ये निरीश्वरवादिताप्रसिद्धिरीश्वरे तदीपमुख्यप्रतिपाद्यविषयत्वाभावाद्धेतोः सञ्जातेति। अथवा ईश्वरकृष्णानन्तरमेव सांख्येऽनीश्वरवादित्वं प्रविष्टमिति संभाव्यते। तथात्वञ्च बौद्धप्रभावाद् भवितुभर्वतीति बहवो मन्यन्ते। वर्तमानसांख्यसूत्राणां रचनाऽपि सांख्यकारिकाणां रचनानन्तरमेव सञ्जाता। यतः शङ्कराचार्यप्रभृतयो भाष्यकाराः क्वचिदपि सूत्राणि नोल्लिखन्ति, प्रत्युत कारिकाणामेव स्थाने स्थाने समुद्धरणं प्रस्तुतवन्ति। यदि च वर्तमानसांख्यसूत्राणि आदिविदुषा कपिलमर्हषिणा कृतान्यभविष्यन् तर्हि तत्र पञ्चशिखवार्षगण्यप्रभृतीनां पर्वतिनामाचार्याणामुल्लेखः कथमपि नाभविष्यत्। योगभाष्यकर्त्रा व्यासेन वाचस्पति मिश्रप्रभृतिविद्वाद्भिश्च सांख्ययोगसम्बन्धिसिद्धान्तसमर्थने पञ्चशिखाचार्यस्य वचनान्युद्धृतानि सन्तीत्यतस्तथा सांख्याचार्याणां परम्परायां पञ्चशिखस्य गणनायाश्चायं सांख्यवादीति निश्चीयते। तस्येदानीं कापि पूर्णा कृतिर्नोपलभ्यते, कानिचित्स्फुटवाक्यान्येवोपलभ्यन्ते। संभाव्यते, श्वेताश्वतराद्युपनिषद्वर्णितं सांख्यमेव तस्याप्यभिमतं भवेत्तदेव च सांख्यं गीतायां वर्णितमस्तीति। सेश्वरसांख्यस्य समर्थने श्वेताश्वतरस्यैतानि वचनानि मननयोग्यानि सन्ति। यथा—"नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्। तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः।"

"स विश्वकृद् विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकारो गुणी सर्वविद्यः। प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्ष-स्थितिबन्धहेतुः।" इत्यादीनि।

एतैः प्रमाणैः विज्ञायते यत् कपिलमहर्षेः सांख्यमुपनिषद्वचनानुसारं सेश्वरमेवासीत् तस्यैव च प्रतिपादनं भगवद्गीतायां विहितमस्तीत्यतः परवर्तिसांख्यसम्बन्धिनीमनीश्वरवाद-मान्यतामाधृत्य गीताया ईश्वरांशे सांख्यविरोधित्वप्रतिपादनं न युज्यते। इदमपि संभाव्यते यद् योगापृथग्भूततत्पुरातनसांख्याभिप्रायेणैव भगवतोक्तंभवेत्—"स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप!" इति।

गीतया व्यवहारे आध्यात्मिकत्वं सन्निवेशितं नरश्च नारायणेन योजितः अत एवास्या आध्यात्मिके जगति यावन्महत्वं तावदेव व्यावहारिकेऽपि जगति विद्यत इति। इदञ्चाध्यात्म व्यवहारयोर्मेलनमेतावदुच्चकोटिकमभूद् येन तयोक्यमेव सम्पन्नं तथ। सांख्ययोगयोर्मेदोऽपि दूरङ्गतः। भगवता समुद्घोषितं—"सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः" इति। अस्यामेवाध्यात्मव्यवहारयोरेकीकरणप्रक्रियायां सांख्यशब्दः प्रकृतिपुरुषविवेकज्ञानमात्रार्थकत्व-सीमानमुल्लङ्घ्य गीतायां समत्वबुद्धिस्थितप्रज्ञेत्यादिरूपविस्तृत ज्ञानार्थे प्रयुज्यमानो दृश्यते। तथैव योगशब्दोऽपि चित्तवृत्तिनिरोधार्थकत्वसीमानमुल्लङ्घ्य सम्पूर्णकर्मपरको जातः। अर्थात् सम्पूर्णे कर्मणि सांख्यस्य (ज्ञानस्य) आवश्यकता वरीवर्ति। एवं सत्येव तत् कर्म कथमपि पुरुषबन्धकं न भविष्यतीति।

कर्मणां मार्गं सुचारुरूपेणं प्रवर्तयितुमेव भगवान् गीतायाम् वैशद्येन ज्ञानतत्त्वं वर्णयामास। गीतायाः प्रथमश्लोक एव "किमकुर्वत सञ्जय !" इति वाक्येन कर्मविषयकप्रश्नेन प्रारम्भान्ते "स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तवे" ति वचनद्वारा सन्देहनिर्वतक निश्चयात्मकज्ञान पुरस्सरे कर्मण्येव तदुपसंहारं चकार। एवं हि सांख्ययोगावेव गीताया मुख्यः प्रतिपाद्यविषय इति प्रतीयत इति शम्।

REFORMULATION OF THE PRINCIPLES OF COOPERATION

S. N. RANADE,

Lecturer, Faculty of Commerce, B. H. U.

When the generations of Shem began building the Tower of Babel, they were foiled by a confusion of tongues and they were scattered to the four corners of the earth. This dispersive trait continues to plague mankind in an accentuated form. In the literature pertaining to cooperatives, the area of greatest contention appears to centre on the concept of principles. The extent of divergences of opinion is apparent in the listing of principles by different writers. The range in these listings is impressive. Some writers have enumerated a few of them as 'Cardinal' ; some have declared a good many as 'essential ideals fundamental to the movement'. This divergence may be attributed either to vagueness of statement, limitation in phraseology or to differences in interpretation by people of diverse experiences and training.

Several writers have uncritically employed the terms 'policy', 'practice', 'purpose' or even 'pre-requisite', interchangeable with the term 'Principle'. In fact, they are used effectively to distinguish principles from other notions. The philological origin of the word 'Principle' may be traced back to the time when the Greek civilization was in flower. Several encyclopedic sources show that word 'Principle' has been broadened from its original meaning and has undergone changes in usage since the time of Greeks. In their search for truth, the Greek Philomaths endeavoured to trace things to their origin. To them the original term meant 'the source of all things' and imparted the idea that everything emerges from the primary concept. The encyclopedist refers to this mental process as the Grecian constitutive sense of objective

reality. In later times the logicians used the term 'Principle' to connote a summary expression of their generalisations. Careful observations of phenomena disclosed certain similarities which in course of time were classified and interpreted into laws or principles from which deductive reasoning proceeded. Similarly the moralist derived laws which purported to explain the factors that control the conduct of human beings. This interpretation of the word 'Principle' might be referred to as 'normative' in that it brings under one concept the effects of casual elements. In modern times the word 'Principle' has fallen into a general and indefinite use expressing a broad truth or apparent law. The most common use of the term in the social science, however, is the metaphysical one. Here it has the advantage of combining the various meanings given from ancient times to the present ; the '*Primary element*' idea contributed by the Greeks, the '*determining cause*' *is* conceived by the logicians and '*regulating law*' of contemporary usage.

The term 'principles of cooperation' has been defined by many authors and commissions. The International Corporative Alliance's Commission on Cooperative Principles (1937) adopted the following working definition of principles : '*The Cooperative principles are* those *practices which are essential that is, absolutely indispensable to the achievement of the Co-operative Movement's purpose.*"[1] H. H. Bakken defines the principles of coperation. 'They, in his opinion, 'constitute *criteria which serve as inspirational and directive forces in determining objectives and in motivating to attain the ends desired*".[2] According to W. P. Watkins, the principles of cooperation "*are the ideas inherent in Cooperation, which determine what it is as a mode of action*........... They are the *ideas which it is the purpose of cooperative activity to realise*......... They

[1] ICA Report of the ICA Commission on Cooperative Principles, London : International Cooperative Alliance 1966, Page 9.

[2] Basic Concepts, Principles and practices of cooperation by Bakhen H. H., Madison Wisconsin 1963, pp. 32—33.

are the ideas accepted as *invariable guides to policy or conduct of action.*"[1]

It is natural that when we talk about the principles of cooperation our mind should go back to Rochdale Pioneers Society established in England in Manchester in 1844. Though Robert Owen of England and Charles Fourrier of France, no doubt, may be considered as precusors of Rochdale Pioneers, yet it is this society which stood the vicissitudes of time and has continued to the present day. Obviously, later cooperative societies tried to learn from and conform to the Rochdale model as far as possible. The ideas of the Rochdale Pioneers set forth in the *rules of their society make up a First set of Co-operative principles.* Thus the first set of cooperative principles (ideas) we have now on record consists broadly of the following :

1. Democratic Control,
2. Open membership,
3. Limited interest on capital,
4. Patronage dividend,
5. Cash trading,
6. Sale of pure and unadulterated goods,
7. Education of members, and
8. Political and Religious neutrality.

None of these ideas was novel but their combination was new.[2] For Rochdale Pioneers, a small band of idealist, it would have been too far-fetched an idea to try and lay down a set of cooperative principles for all time to come. Though they valued equality of status among members, their rules were guided by the economic and social circumstances in which they were living. It is natural that not all their rules or ideas now called principles were made or defined at one and the same time. For survival and progress, they went on making and modifying rules which in due course attained a certain

[1] "The nature of Cooperative Principles" Watkins W.P. Cooperative Principles in the Modern World, Stanford Hall England : Cooperative Union Limited 1967, p. 83.

[2] Cole G. D. H. A century of Cooperation London, George Allen & Union Ltd., 1944, p. 63.

degree of firmness. In course of decades, as social historians began so look back on performance and achievements of the pioneers, they set out in their writings *what they considered to be essential Rochdale Principles.* "The selection and particular formulations were of the historians making, though over the years, a certain respect or validity came to be attached to broadly accepted, formulation."[1] Rochdale Pioneers themselves never ordained any set of principles of cooperation.

In course of time, cooperative movement spread to various countries of the world such as Germany, Italy, Denmark etc. This proliferation gave rise to diversification of the cooperative activities. Reformers in all countries who were inspired by the same ideals as the Rochdale Pioneers, formulated their own rules of operation, largely under the stress of their own circumstances. As an expected outcome of the aforsaid circumstances many cooperative organisations sprung up which could not adhere *to the ideals* (*Principles*) set forth by Rochdale Pioneers, e.g. in Germany compulsion was exercised to form cooperative organisations to meet the challange of well established socio-economic institutions. Moreover in many countries management of many cooperatives of the purchase type associations found it difficult to conform to the Rochdale Pioneers. Similar was the case with Processing organisations.

Establishment of the communist State in Russia added new dimension to the problem of formulation of Cooperative Principles under the changed circumstances. The relaionship between the Government and its organs and the cooperatives in commnnist state evoked more than mild and thoughtful interest. The claims of world revolutions put up by Communists on the one hand and the dread abhoarrence of all things communist entertained by capitalist states on the other, endowed the Rochdale declaration of a lrgely *defensive neutrality with the strength of an aggressive dogma.* In an age *of ostracism*

[1] Prof. D. G. Karve 'Cooperative Principles Mission and Profession' Souveneir 5th Indian Cooperative Congress, New Delhi, 1967.

a controversy was waged between capitalist and socialist cooperators about the alleged inviolability of political neutrality.

Faced with the situation, the question of reformulation of Cooperative principles came up before the cooperative institutions and the people of various countries. Attention of the world cooperative organisation viz., International Cooperative Alliance was drawn towards the problem. The Congress, therefore, at its Vienna session (1930) asked its Central Committee to appoint a special Committee to *examine the conditions in which Rochdale Principles were applied in the member countries and to state these principles in the final form.* The special committee was oppointed in 1934 and it submitted its report in 1937 to the congress at Paris. The Committee's formulation of Cooperative Principles specifically Rochdale Principles was based on division of these principles in two categories : (1) Important or essential and (2) Less important. It seems that the committee could not completely ignore the atmosphere of active opposition between the two camps of nations Socialist and Capitalist.

In the opinion of the Committee the essential or obligatory attributes of cooperative activity *a la* Rochdale were :

(1) Open Membership,
(2) Democratic Management—one man, one vote,
(3) Limited interest on capital, and
(4) Payment of dividend in proportion to transactions.

The non-essential principles were :

(1) Religious and political neutrality,
(2) Cash trading, and
(3) Education.

Here it is to be observed that the eighth principle of the original so called Rochdale principles was omitted as the supply of pure and unadulterated goods can be taken for granted due to consumers resistance and protective legislations inforce in various countries.

The reformulated cooperative principles did not find support from either capitalists or socialists. The very concept of grading in principles was resented. Snappy or summary manners in which the principles were expressed failed to carry adequate meaningfulness to be either enlightening or helpful. Many questions remained unanswered. Is non-voluntary though open membership compatible with cooperation ? Can or must the principle of 'one man and one vote' be followed at all stages and in all circumstances ? Must interest on capital be paid ? Must dividend be distributed ? Guidance on these important issues was necessary for practical cooperator while making his mind how he should make a correct choice in promoting the objects of his cooperative organistation.

Immediately after the 1937 Congress of the ICA held at Paris in which the report of the Committee was filed the world was plunged into a long period of disaster, conflict, agony and uncertainty. Radically different socio-economic-political conditions emerged in many of the countries of the world thereafter. The state came to play a dominant role of overseer, guide and supporter of the people though the form and extent differed from country to country. Establishment of international organisations the UNO, UNESCO, FAO and others provided channels for bringing various countries closer to each other. As an outcome of the impetus of a struggle for survival scientific and technological revolution was initiated which thrown all forms of social, economic and political organisations into the melting pot. Every old form was on defensive. It had to be proved or adjusted, in the light of the demands and promises of the new times which broadening knowledge and a unifying world were unfolding before us.

Against the aforesaid panorama of world transition the position of cooperatives is very challenging. In developing countries, many of which are liberated ex-colonial regions the most important urge in the struggle of freedom was its rapid economic development. Achievement of this objective needed active support and guidance of the government. The Govern-

ment in its turn incorporated all sections of the society and all organisations including Cooperatives in the new programme of national economic policy. Participation of the state by way of finance and personnel to ensure progress of joint enterprises was a common pattern of economic transformation. Peculiarly private enterprises and cooperative enterprises both showed equal readiness to adopt this pattern in appropriate circumstances.

The world appears to stand on the threshold of a new and more comprehensive industrial revolution. In this new industrial revolution the *cooperatives as a part of free democratic communities committed to bringing about rapid economic transformation have become* the active agents and colloborators. The cooperatives in many developing countries are trying to shoulder greater responsibility in initiating and promoting economic revolution. Even in developed countries-capitalist as well as socialist, constant technological change and mounting pressures of equalitarian ideas are *transforming the cooperative outlook from a defensive to an active and purposeful one.*

In this context, it became incumbent on cooperatives to find out new norms to prepare themselves for more complicated and challenging task lying before them. A review of the basic tenets of cooperative organisations was, therefore, inevitable. A proposal to this effect was put forward by a Russian delegate in twenty second Congress of the ICA held in 1963. The proposal was supported amazingly by *Socialist and Communist countries alike.* This was an indication of pressing demand acceptable to both to reformulate principles and procedures which will help cooperators to win fresh ground.

Accordingly, a Commission (second) on Cooperative Principles was appointed by the Central Committee of the ICA in its Congress in 1964. The Commission was empowered to study *which of the principles of the Rochdale Pioneers retained their importance ; which should be changed and how in order to contribute in the best manner to the fulfilment of the tasks of the*

cooperative Movement, and *finally which of the principles had lost their importance and substituted by others.* The commission was empowered to formulate new principles, if necessary. The commission was, headed by late Prof. D. G. Karve, a greatest honour for the Cooperative Movement of India. The report of the Commission was submitted to the 23rd Congress of the ICA held at Vienna in 1966. It was adopted by the Congress.

The report of the Commission was characterised by two important features which distinguished is from earlier attempts and reports. Given the ideal of seeking maximum economic progress while maintaining the dignity, freedom and equality of human beings, all methods of organisation and working, without which *this ideal* will not be attained, in the opinion of the Commission, must be considered to be a Principle of Cooperative activity. *If, economic progress could be attainted, by any method other than above howsoever, preferable that way may appear to some Cooperators, it is not a principle of cooperation.* Secondly, in formulationg any Principle of Cooperation, its full implications must be brought out if it is to help practical cooperators to solve their problems of *making a right cooperative choice among ways by which they hope or intend to promote the best interests of the members of their cooperatives.* The Commission struck a note of warning when it stated "Brevity or brillance of phraseology in formulation of cooperative principles which is attained at the cost of its accuracy and adequacy, or serviceableness as guide to practical conduct, would be both incorrect and injurious."[1]

Thus the Commission considered the following as essential to genuine and effective cooperative practice both at the present time and in the future as far as that can be foreseen. *The principles enumerated by the Commission are :*

(1) Voluntary and Open membership,

(2) Democratic Administration,

[1] ICA Report of the ICA Commission on Cooperative Principles' 1966 page 37.

(3) Limited interest on Capital,
(4) Distribution of the surplus to the members in proportion to their transactions,
(5) Cooperative Education, and
(6) Cooperation among cooperatives.

Out of the six principles reformulated by the Commission, the first four are the same as were formulated by the previous Commission in 1937. The category of non-essential has been dropped. One of the remaining two principles No. 5 is an old principle but it has been restressed, re-emphasized and reranked as a principle considering its potential strength in making ventures a success. The last principle No. 6 is a new addition keeping in view the growing, competitive nature of the cooperatives in modern world. It is to be noted here that those principles which do not find place in the commissions report have not been left out with the intention of downgrading or discarding them. The Commission went into the whole question as to what value the Rochdale Pioneers and other advocates sought to realise by following these tenets and what would be their appropriate equivalents at the present stage of the cooperative movement.

An analytical view of the principles reformulated by the Commission will clarify their full implications so as to guide cooperators in the world while solving their problems without scarificing the spririt of the Cooperative movement.

Voluntary and Open Membership

Instead of stating 'Open Membership' alone the Commission has added the world 'Voluntary'. The Commission has restored voluntarism to its pride place. It is significant in context of coercive tactics and compulsion exercised in organising cooperative societies in some countries. By open membership it is meant that membership of a cooperative society should be available without artificial restrictions or any social, political, racial or religious discriminations to all persons who can make use of its services and are willing to accept the

responsibilities of membership. Another aspect of cooperative membership is Member-User identity. This is one of the distinguishing characteristic of a cooperative. This will be lost and the society will degenerate into a profit seeking enterprise if it adopts restrictive policies in admitting members and extensively deals with non-members. Moreover, associations or persons who are themselves engaged in trafficking for profit of some sort do not become constituents of the cooperative movement by cooperating with one another for specific common purposes. On the other hand, cooperatives do not lose their character as cooperatives by joining with other un-cooperative associations for promoting specific purposes of their members. Rendering appropriate regard to factors like economic-functional vaibility and determination of optimum size ought not to be treated as an artificial restriction which would impair the cooperative character of an association.

Democratic Administration

It is a self-evident principle. But whether this would necessarily imply an arrangement by which each member, or member institution, has an equal number of votes, is not a matter on which a uniform and rigid law could be laid down. Moreover, what would be suitable and equitable in a primary consumer society may not be appropriate in secondary or non-consumer society. In developing economies and for specific periods and purposes even in developed economies some times outside element like governmental and other which are friendly to the cooperative enterprise are admitted. As long as members of the society by free choice agree to this modification, no infringement of cooperative principle would be involved. By Democratic Administration, the Commission States administration by persons elected or appointed in a manner agreed by the members and accountable to them.

Limited interest on Capital

In a cooperative society users are supreme and in a democracy power should always be located on the man. Hence,

contributors of capital should not assume power on the strength of finances contributed by them. Contributors of capital should only receive remuneration by way of interest for the finance contributed and no share either in management or in the net saving or surplus on that strength. It is, however not obligatory on Cooperative associations that they must pay to contributors of capital. German consumers Cooperatives pay no interest of this type. In substance, the share capital should receive a strictly limited rate of interest, if any.

Distribution of Surplus

Dividends are a peculiar phenomenon in consumer societies, though an element of similar return to members can be traced in other forms of cooperatives as well viz., Purchase or Labour. It ought, however, to be clear that a deliberate creation of a surplus or saving by charging more than what is strictly necessary and then distributing it among members is not essential. The real principle underlying the idea of dividend is the provision of goods and services at cost rather than profit. Dividend is simply the method of returning any surplus to members. However, it is not obligatory to pay dividend out of surplus. Members may choose to transfer it to development or other reserves. The principle only emphasizes equity in distributive justice in case surplus is to be divided.

Cooperative Education

The 1966 Commission has rightly restored the principle of promotion of education to its pride of place and re-ranked it as a main principle. The free and uninterrupted flow of information is vital to collective action. The cooperative movement should educate : the members, officers, employees and general public. The education of members the special characteristic and obligation of cooperation, is a sine qua non of cooperative existence. Even more importont than contribution of fees, is the subscripsion to ideals and values. This is to be done by cooperative education of members. Almost of equal importance is the propogation of cooperative ideals in

the general public or community whose passive tolerance and if possible active support is necessary for survival and progress of cooperatives. The professional training of staff employed by cooperatives is also important in efficient running of the organisation. This can be entrusted to the cooperative training institutes or colleges. As regards the quantum of funds to be set aside for the purpose of education and provision of necessary organisational set up for it the matter should be left to the individual cooperative as they are variable features. Every cooperative should, therefore, take responsibility for educating its members in appropriate manner.

Cooperation among Cooperatives

This is a new principle included in the set of cooperative principles formulated so far. It is the result of the existing exigencies of dynamic world. Rapid changes are taking place affecting every aspect of economic life. One major concomitant of this change is the formation of large giant organisations. In this process of enlargement the average man, the consumer, the small business and the primary producer is threatened with loss of participation in either ownership or decision making. These trend, it is feared, could destroy the very substance of democracy and freedom. In this dynamic world challenging claims are made by all the three important sectors of economy viz., Private, Public and Cooperative in seeking control over the economic life. Competition is becoming the order of the day making survival of the others difficult. Cooperatives face the challenge from private capitalist sector which claims unchecked freedom of action and from growing powerful state which in recent days have made sufficient inroads into the free life of people. More than philosophical ideologies the conflict of the three patterns, will be decided by the measure and speed of the contribution which they succeed in making to the prosperity and welfare of their adherents. We are not living in a static world in any respect-ideology, organisation, technology and science. Obviously, if the full limits of pro-

gress are not attained in one pattern, people will not hesitate to adopt a more promising and fruitlul alternative pattern.

Cooperation theoretically and ideologically upholds the freedom and dignity of the individual and can restore true freedom for men through broad ownership and democratic control. But realisation of these ideals needs concerted efforts on the part of cooperatives. Unless all cooperative businesses individually and jointly, nationally and internationally, recognise the *high stakes for which they are striving*, they will not appreciate the compelling need of a growing and *unreserved integrity* of the cooperative sector. All cooperative oranisations, in order to serve the interests of their members and communities should actively cooperate in every practical way with the cooperatives at local, national and international levels. This idea of Cooperation among cooperatives is inherent in the cooperative movement. Hence the acclamation of the Commission to rank the idea 'Cooperation among cooperators and among cooperatives' as a principle of cooperation—a new principle suitable to needs of the times.

Lastly, many writers have insisted that the principles of cooperations are limited to *three, five or seven* and some have conveyed the impression that such listing is universal in effect for every association in existenee. This line of reasoning is inaccurate. The view presented herein recognises the cooperative development as a vital and dynamic phenomenon within a society. It assumes that the *number of principles which apply to any particular organisation is variable*. Furthermore, this presentation does not preclude the addition of other principles, that may yet come to light as *a means to attain further perfection in operating techniques and in the advancement of economic and social well-being*.

पूर्वमध्ययुगीन हिन्दू धार्मिक त्योहार

डॉ० जय शंकर मिश्र,

लेक्चरर, इतिहास विभाग, का० हि० वि० वि०

भारत में प्राचीन काल से विभिन्न प्रकार के त्योहार और उत्सव मनाने की प्रथा रही है, जो कालान्तर में भारतीय संस्कृति के प्रधान प्रेरक तत्त्व बन गये। विभिन्न देवी-देवताओं को धर्मप्रवण कथात्मक परिवेश में आकलित कर ऐसी तिथियाँ नियत की गई, जो विशेष पर्व अथवा त्योहार के नाम से हिन्दू समाज में जानी गईं। उन तिथियों पर व्रत, उत्सव और खुशियाँ मनाई जाती थीं तथा उन देवी-देवताओं का समारोहपूर्वक पूजन होता था। पूरे वर्ष की कतिपय तिथियाँ अपने-अपने विशेष पर्व के लिए विख्यात हुईं। फलतः प्रत्येक वर्ष उन तिथियों पर उत्सव और त्योहार मनाया जाता था, जिनका स्वरूप पूर्णतः पावन और पवित्र था। इन त्योहारों पर स्त्री-पुरुष समान रूप से भाग लेते थे। यद्यपि कोई-कोई त्योहार मात्र स्त्रियों के लिए ही था अथवा केवल पुरुषों के लिए।[१]

यहाँ हम ग्यारहवीं सदी के अरबयात्री अलबीरूनी के हिन्दू धार्मिक त्योहार संबंधी विवरण को तत्कालीन भारतीय स्रोतों से तुलना करते हुए प्रस्तुत कर रहे हैं, जो पूर्वमध्ययुगीन भारतीय संस्कृति पर नवीन प्रकाश डालता है। अलबीरूनी पहला विदेशी लेखक है जिसने हिन्दू त्योहारों पर अत्यन्त विस्तार और मनोयोगपूर्वक लिखा है। बाद में उसके विवरण को गरदीजी[२] नामक दूसरे अरब लेखक ने अपनी भाषा में उतार लिया, जिसका मैंने स्थान-स्थान पर उल्लेख किया है।

यहाँ मैं अलबीरूनी द्वारा निरूपित हिन्दू त्योहारों का समसामयिक ग्रंथों से परीक्षण करता हुआ उनकी मूल प्रकृति का हिन्दू माह और तिथि के तदनुरूप निरूपण कर रहा हूँ।

२ चत्र—अलबीरूनी लिखता है कि "चैत्र मास का दूसरा दिन 'अगदूस' कहा जाता है। कश्मीरियों के लिए त्योहार का दिन है, राजा[३] मुत्ते की तुर्कों पर विजय प्राप्ति के कारण सम्पन्न किया जाता है।"[४]

इस त्योहार का समसामयिक लेखकों ने कोई संकेत नहीं दिया है।[५] सम्प्रति अलबीरूनी

---

१ Mishra, J. S., Albiruni's Stay and Travel in India, *Journal of Indian History*, Kerala, Vol. XLIV, Part II, No. 131, August, 1966., pp. 518-28.

२ गरदीजी, जैन-उल-अखबार (रचनाकाल १०५२ ई०), Indian Historical Quarterly, Vol. IX, No. 4, 1933, p. 941.

३ *AI.*, Vol. II, p. 178.

४ मुत्ते नाम सिविस्तान के एक राजा के नाम से मिलता है—*Ed.*, Vol. I, pp. 145.

५ श्रीनगर के (कश्मीर) आवासकाल में मैंने वहाँ के निवासियों से इस विषय में जिज्ञासा प्रकट की, किंतु उन लोगों का मौन इस त्योहार की अवर्तमानता ही व्यक्त की।

के कथन से इतना अवश्य स्पष्ट है कि अलबीरूनी के काल में कश्मीर की जनता यह त्योहार मनाती थी।

६ **चैत्र**—अलबीरूनी का कथन है कि "चैत्र का छठाँ दिन व्रत का दिन है और सूर्य के लिए पवित्र है।"[१] अलबीरूनी के इस कथन का समर्थन चंडेश्वर के इस कथन से होता है कि चैत्र का छठाँ दिन सूर्य का दिन है जिसमें पूजन आदि का उपक्रम होता है।[२]

११ **चैत्र**—अलबीरूनी के अनुसार चैत्रमास की ११वीं तिथि का उत्सव 'हिंडोली चैत्र' कहलाता था। जब वे 'देवगृह' या वासुदेव के मंदिर में मिलते हैं और उसकी प्रतिमा को इधर-उधर हिलाते हैं, जैसे कि वह शैशवावस्था में झूले में झुलाया जाता था। वे इसी को अपने घर में पूरे दिन सम्पन्न करते हैं और आनंद मनाते हैं।[३]

किन्तु अभयतिलकगणि के अनुसार 'डोल' या 'डोला' त्योहार चैत्र के शुक्ल पक्ष के १४वें मास के चारों वर्णों द्वारा मनाया जाता था। उस अवसर पर शंभ और गौरी झुलाये जाते थे।[४] भविष्यत् पुराण को उद्धृत करते हुए अभयतिलकगणि का कथन है कि सोमनाथ का 'डोल' उत्सव सभी लोगों द्वारा सम्पन्न होता था।[५] ब्रह्मपुराण को उद्धृत करते हुए लक्ष्मीधर[६] और चंडेश्वर[७] का कथन है कि इस अवसर पर सुन्दर वस्त्राभूषण से सज-धज कर लोग माँस आदि ग्रहण करते थे। परमार उदयादित्य के अभिलेख से प्रकट होता है कि यह उत्सव 'दमनक' कहलाता था।[८] एक प्रमाण से विदित होता है कि आश्रित राजा वागमल्ल ने इस उत्सव के निमित्त शैव मंदिर को (वि० सं० १२४६–१२०७ ई०) सहायता दी थी।[९] दमनक में दमन नामक वृक्ष शिव या विष्णु को प्रार्थना के साथ भेंट किया जाता था।[१०] इस पर्व के दिन गुजरात के प्रायः सभी शिवमंदिरों में डोलोत्सव मनाया जाता था।[११]

अर्जुन वर्मन के धारप्रशस्ति से यह उद्घाटित होता है कि 'पारिजातमंजरी नाटिका' चैत्र पर्व (जो वसंतोत्सव भी कहा जाता है) पर खेली गयी थी।[१२]

चैत्र पूर्णिमा का दिन—अलबीरूनी वसंतोत्सव के विषय में लिखता है कि चैत्र के पूर्ण

---

१ *Ibid.*, p. 176.

२ कृत्यारत्नाकर, पृ० १२१–२३।

३ *AI.*, Vol. II, p. 178.

४ अभयतिलकगणि का 'द्वयाश्रय' पर भाष्य–५.१४१।

५ वही, 'असमिंश्च पर्वणि सोमनाथस्य चतुर्वणरमहाविस्तरेण डोलामहोत्सवः क्रियते।'

६ **कृत्यकल्पतरु** नियत०, पृ० ३८४–८५।

७ कृत्यरत्नाकर, पृ० १३८–३९।

८ *EI.*, XXIII, 134.

९ *IA.*, VI, 338.

१० हेमाद्रि : **स्मृतिकौस्तुभ** १९।

११ Majumdar, A. K. : *Chalukyas of Gujarat*, p. 306.

१२ *EI.*, VIII, 96.

चंद्रमा के दिन का उत्सव 'वसन्द' (वसंत) कहलाता है, स्त्रियों का त्योहार। जब वे आभूषण पहनती हैं और पतियों से उपहार की याचना करती हैं।[१]

हेमचन्द्र ने 'देशीनाममाला' में वसन्तोत्सव के लिए 'फागु' व्यवहृत किया है।[२] संभवतः यह डोल पर्व ही है।

वैशाख मास (अप्रैल-मई)

३ **वैशाख**—अलबीरूनी लिखता है कि तीसरा वैशाख औरतों का त्योहार है, 'गौर-त-र' (गौरी तृतीया) कहा जाता है, महादेव की पत्नी और हिमवन्त की पुत्री गौरी के कारण (यह पर्व) पावन है। वे स्वच्छ होती हैं और प्रसन्नतापूर्वक वस्त्र पहनती हैं। वे गौरी की प्रतिमा का पूजन करती हैं और उसके सामने दीप जलाती हैं। वे धूम देती हैं, भोजन से विलग रहती हैं और झूलों से खेलती हैं। बाद के दिन वे दान देती हैं और भोजन ग्रहण करती हैं।[३]

इस त्योहार का हेमाद्रि ने 'चतुर्वर्गचिंतामणि' में विस्तार से विवेचन किया है, जिसमें पूजा की विधि और व्रत-उपवास का वर्णन है।[४]

१० वैशाख—अलबीरूनी के अनुसार १० वैशाख को सभी ब्राह्मण राजा द्वारा खुले खेत में जाने के लिए निमंत्रित किये जाते हैं, जहाँ वे पूर्णिमा तक पाँच दिन होम के लिए वृहद् हवन करते हैं। वे सोलह भिन्न स्थानों पर चार भिन्न समूहों में अग्नि जलाते हैं। प्रत्येक समूह में एक ब्राह्मण होम करता है। इस प्रकार चार हवन करने वाले पुरोहित चार वेद की तरह हैं। १६ को वे घर लौट आते हैं।[५]

इस त्योहार का भारतीय ग्रंथों में उल्लेख नहीं मिलता। संभव है उस समय इसका कोई स्वरूप रहा हो।

वसन्त ऋतु का रात-दिन बराबर का समय—अलबीरूनी लिखता है कि "इस महीने में रात-दिन बराबर का समय होता है, जो वसंत कहलाता है। गणना के अनुसार दिन का निश्चय करते हैं और त्योहार मनाते हैं, जब लोग ब्राह्मणों को निमंत्रित करते हैं।"[६]

समसामयिक ग्रंथों में इस त्योहार का कोई उल्लेख नहीं। आज भी इस त्योहार का कोई विवरण नहीं मिलता। किंतु अलबीरूनी की विवृत्ति से प्रकट है कि उस समय के भारतीय समाज में इसका अवश्य प्रचलन रहा होगा। संभवतः यह कर्क-संक्रान्ति रही हो। अलबीरूनी का ज्ञान अधिकतर संवाददाताओं की सूचनाओं पर आधारित रहा। ये संवाददाता विभिन्न भारतीय प्रदेशों के थे जिन्होंने अलबीरूनी को समसामयिक समाज के धार्मिक पर्वों पर पारम्परिक विवरण दिये।

---

१ *AI.*, Vol. II, p. 178.
२ देशीनाममाला, ६.८२।
३ *AI.*, Vol. II, p. 179 : *Gardizi* MSS., p. 216.
४ *CC.*, Vol. II, pt. I, Vrata Khanda, Vol. VII, p. 450-52.
५ *AI.*, Vol. II, p. 179.
६ *AI.*, Vol. II, p. 179.

ज्येष्ठ मास (मई-जून)

१ ज्येष्ठ--अलबीरूनी कहता है कि "प्रथम ज्येष्ठ या नवीन चन्द्र के दिन वे एक त्योहार आयोजित करते हैं और सब फलों के पहले फल को अनुकूल पूर्व लक्षण जानने के लिए पानी में फेंकते हैं।"[१]

यह त्योहार भी भारतीय लोगों को विदित नहीं था किन्तु अलबीरूनी इस त्योहार के विषय में जानता था, जिसका उसने निरूपण कर दिया और तदयुगीन समाज में प्रचलित एक त्योहार को सम्मुख ला दिया।

ज्येष्ठ पूर्णिमा--अलबीरूनी ने इस पर्व का यथोचित विवरण नहीं दिया है। वह लिखता है कि "इस मास का पूर्ण चन्द्र का 'रूप पंच' नामक दिन औरतों के लिए एक त्योहार है।"[२]

उड़ीसा में इस दिन पुरुषोत्तम की प्रतिमा को सड़कों पर घुमाया जाता है। यह त्योहार 'महाज्येष्ठि' के नाम से विख्यात है। इस पर्व का ब्रह्म[३], स्कंद[४] और अग्निपुराण[५] में इसी रूप में वर्णन हुआ है। 'राजमार्तण्ड' में भोज ने कहा है कि महाज्येष्ठि त्योहार पुरी या पुरुषोत्तम स्थान पर वर्जित है।[६]

यह दिन संभवतः सावित्री का दिन माना गया है। भोज[७] और चंडेश्वर[८] ने इसी रूप में इसका विवेचन किया है। ऐसा विश्वास था कि इस त्योहार को सम्पन्न करने से औरतें विधवा होने से बचती थीं। इस अवसर पर अनेक फल-फूल के साथ सावित्री और ब्रह्म का पूजन होता था तथा ब्राह्मण दम्पति को दान दिया जाता था।[९]

आज भी सावित्री व्रत इसी दिन मनाया जाता है।[१०]

आषाढ़ मास (जून-जुलाई)

अलबीरूनी के अनुसार 'आषाढ मास के सभी दिन दान देने में व्यतीत होते हैं। यह 'आहारी' भी कहा जाता है। इस कालावधि में घर में नवीन बर्तन की व्यवस्था की जाती है।[११]

---

१ *Ibid.*

२ *Ibid.*, p. 179 ; *Gardizi*, MSS., p. 216.

३ **ब्रह्मपुराण**, ६५. ५८।

४ **स्कंदपुराण**, उत्कलखंड ३२.९।

५ **अग्निपुराण**, १२१.६३।

६ **राजमार्तण्ड**, ABORI, Vol. 36, p. 334, Verse 245.

७ *Ibid.*, verse 335.

८ **कृत्यरत्नाकर**, पृ० १९२–९५, चतुर्वर्गचिंतामणि, भा० २, पार्ट २, व्रतखंड, अ० २१, पृ० २७२–७४।

९ **कृत्यरत्नाकर**, पृ० १९५।

१० Gupte : *Hindu Holidays and Ceremonies*, p. 238.

११ *AI.*, Vol. II, p. 179 ; *Gardizi*, MSS., p. 217 A.

चंडेश्वर[१] ने भविष्यपुराण के आधार पर यह व्यवस्था दी है कि इस महीने की सभी रातों में फल पर प्रतिबंध था। इस मास में 'भौम' नामक त्योहार गौरीपूजन के संदर्भ में मनाया जाता था, यह हेमचंद्र के 'देशीनाममाला' से विदित होता है।[२] यह त्योहार फोर्ब्स के समय तक गुजरात में प्रचलित रहा है।[३]

आषाढ़ शुक्ल का आठवाँ दिन गणेश या विनायक पूजन के लिए था। यह त्योहार वाद्यसंगीत से सम्पन्न किया जाता था।[४]

आज की तिथियाँ ऐसे त्योहार का अनुमोदन नहीं करती। 'कालविवेक' के अनुसार अर्द्धआषाढ़ के कृष्ण-पक्ष में केवल चतुर्दशी को शिव का पूजन होता था।[५]

अर्द्धआषाढ़ के शुक्ल पक्ष में अनेक त्योहार मनाये जाते थे। सातवें दिन 'भास्कर' (सूर्य) का पूजन किया जाता था। लोक सोत्साह खाना और पीना आयोजित करते थे।[६] नवें दिन व्रत के साथ दुर्गा इंद्राणी के स्वर्ण प्रतिमा का पूजन किया जाता था। अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार श्रद्धालु लड़कियों, औरतों और ब्राह्मणों को भोजन कराते थे।[७] यह त्योहार 'मार्गशीर्ष' को भी नवें दिन मनाया जाता था।[८]

११ आषाढ़ : देवशयनी एकादशी—अलबीरूनी लिखता है कि 'आषाढ़ मास के सत्रहवीं राशि में जब चन्द्रमा अनुराधा में होता है तब वासुदेव के नाम पर व्रत का दिन होता है, 'देवसीनी' (देवशयनी) कहलाता है, अर्थात् देव सो रहे हैं, क्योंकि यह चार महीनों का प्रारंभ होता है जिसमें वासुदेव सोता था। दूसरे लोग यह कहते हैं, दिन महीने का ग्यारहवाँ होना चाहिये।[९]

यह प्रकट है कि ऐसा दिन प्रत्येक वर्ष नहीं आता। इस दिन वासुदेव के अनुयायी मांस, मछली, मिठाई और संभोग से दूर रहते हैं। केवल फल दिन में एक बार लेते हैं। बिना विस्तर के जमीन पर सोते हैं, खाट का उपयोग नहीं करते।[१०]

वह आगे लिखता है कि 'लोग कहते हैं कि ये चार महीने देवों की रात्रि हैं, जिनमें एक महीना प्रारम्भ में, संध्या के रूप में जोड़ देना चाहिए और एक महीना अंत में सुबह के रूप में। इस प्रकार तब सूर्य के निकट होता है जो देवताओं के दिन में मध्याह्न है और में नहीं देखता कि चन्द्रमा दो संधियों के साथ कैसे सम्बद्ध है।[११]

१ **कृत्यरत्नाकर,** पृ० २०३।
२ **देशीनाममाला,** ४.१०३।
३ Forbes : *Rasamala*, Vol. II, p. 319.
४ **कृत्यकल्पतरु, नियतकालकांड,** पृ० ३९०, **कृत्यरत्नाकर,** पृ० १९९।
५ **कालविवेक,** पृ० ४७१।
६ **कृत्यकल्पतरु, नियत०,** पृ० ३९०–९१।
७ **कृत्यरत्नाकर,** पृ० २०३–४।
८ **वही,** पृ० ४४५–४६।
९ *AI.*, Vol. II, p. 176.
१० **वही।**
११ **वही।**

लक्ष्मीधर[१], जीमूतवाहन[२], चंडेश्वर[३] और भोज[४] का कथन है कि इस अवसर पर विष्णु शयन करते हैं। भक्तजन व्रत रखते थे और ११वें दिन की रात्रि में जगते थे, १२वें दिन उनकी पूजा करते थे और १३वें दिन नृत्य और संगीत का आयोजन करते थे। लक्ष्मीधर[५] और चंडेश्वर[६] का यह कहना है कि अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार लोग अभिनेताओं को द्रव्य देते थे। ब्रह्मपुराण, वाराहपुराण और वामनपुराण का उद्धरण देते हुए चंडेश्वर[७], देवशयनी एकादशी का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करता है।

श्रावण मास (जुलाई-अगस्त)

अलबीरूनी कहता है कि 'श्रावण की पूर्णमासी को वे ब्राह्मणों को ज्योनार कराते हैं'[८] तथा यह दिन 'सोमनाथ के लिए पवित्र उपवास का दिन है'[९]। हेमचंद्र ने 'देशी-नाममाला' में इस त्योहार का नाम 'वोरल्ली' दिया है और अर्द्धश्रावण के शुक्लपक्ष के चौदहवें दिन मनाये जाने का निर्देश किया है।[१०]

लक्ष्मीधर ने श्रावण के केवल एक त्योहार का उल्लेख किया है, जिस दिन तीन नक्षत्र मिलते थे, विष्णु की पूजा की जाती थी। मनोरंजनपूर्वक लोग अपने संबंधियों के साथ भोजन करते थे। अगर कोई कन्या अच्छा पति चाहती थी तो वह पानी की प्रतियोगिता में हिस्सा लेती थी।[११] श्रावण के शुक्लपक्ष के द्वादशी का दिन 'बुद्ध द्वादशी' के नाम से जाना जाता था।[१२] इस दिन का न तो लक्ष्मीधर ने उल्लेख किया है न जीमूतवाहन ने। इस प्रकार इस त्योहार के दिन बुद्ध की स्वर्ण प्रतिमा का पूजन किया जाता था और तब ब्राह्मण को आमंत्रित किया जाता था। यह व्रत का दिन होता था।[१३] बंगाल में 'बुद्धद्वादशी' का त्योहार ज्येष्ठ पूर्णिमा को होता है।

नदोल प्लेट (वि० सं० १२१८।११६१ ई०) के अनुसार इस अवसर पर चाहमान आश्रित प्रधान अल्हणदेव ने ब्राह्मणों को उपहार दिया था।[१४] डॉ०वी०पी० मजुमदार[१५] ने

---

१ **कृत्यकल्पतरु, नियत०** पृ० ३९१।

२ **कालविवेक,** पृ० १७५–८५।

३ **कृत्यरत्नाकर,** पृ० २०४–५।

४ **राजमार्तण्ड,** ABORI, Vol. 36, p. 314.

५ **कृत्यकल्पतरु, नियत०** पृ० ३९०–९४।

६ **कृत्यरत्नाकर,** पृ० २०४–५।

७ **कृत्यरत्नाकर,** पृ० २०४–७।

८ *AI.*, Vol. II, p. 179.

९ *Ibid.*, p. 177.

१० देशीनाममाला ७.८१।

११ कृत्यकल्पतरु, नियत० पृ० ३९५, कृत्यरत्नाकर, पृ० २५१।

१२ कृत्यरत्नाकर, पृ० २४७-४८, चतुर्वर्गचिंतामणि, भा० २, पार्ट १, पृ० १०३७-३८।

१३ कृत्यरत्नाकर, पृ० २४७।

१४ *EI.*, IX, 65-66.

१५ *Socio-Economic History of Northern India*, p. 284.

डॉ० अशोककुमार मजुमदार[१] के इस मत का खंडन किया है कि यह शैव उत्सव था। किन्तु आज उत्तरी भारत में, विशेषकर श्रावण मास के प्रत्येक सोमवार को वाराणसी में लोग व्रत रहकर विश्वनाथ (महादेव) का पूजन करते हैं। यह क्रम परम्परा से चला आ रहा है। अतः बिना किसी तथ्य के आधार पर डॉ० बी० पी० मजुमदार का कथन आश्चर्यजनक है।

भाद्र मास (अगस्त-सितम्बर)

भादों में होनेवाले अनेक हिन्दू त्योहारों का उल्लेख अलबीरूनी ने किया है।

१-७ भाद्र—अलबीरूनी लिखता है कि 'अर्धकृष्ण का पहला दिन, उन सात दिनों में से पहला है, जो 'करार' कहलाता है। जब वे बच्चों को सुंदरतापूर्वक सजाते हैं और उनको उत्तम भोजन देते हैं। वे अनेक जंतुओं के साथ खेलते हैं। सातवें दिन पुरुष अपने को सज्जित करते हैं तथा उत्सव मनाते हैं।[२]

८ भाद्र—भाद्रमास के ८वें दिन कृष्ण-जन्म[३] का उत्सव मनाया जाता है, जो 'कृष्ण जन्माष्टमी' नाम से विख्यात है। अलबीरूनी कहता है कि "इस मास में जब चंद्रमा 'रोहिणी' में हो तो यह वासुदेव के जन्म के व्रत का दिन है। दूसरे, इसके अतिरिक्त यह भी निर्देश करते हैं कि दिन कृष्णपक्ष का आठवाँ होना चाहिए। हम पहले ही यह संकेत कर चुके हैं ऐसा दिन प्रत्येक वर्ष नहीं आता, किन्तु वर्षों की बड़ी संख्या के विशेष वर्षों में ही।"[४] चंडेश्वर और जीमूतवाहन नक्षत्रों की सही स्थिति का भान कराते हैं। अलबीरूनी जहाँ इस दिन को उपवास का दिन बताता है वहीं लक्ष्मीधर[५] फल और दूध खाने का निर्देश करता है। जीमूतवाहन[६] ने श्रीकृष्ण जन्म के इस दिन को 'जयन्ती' के नाम से सम्बोधित किया है। जब रोहिणी नक्षत्र अष्टमी को होता है तब उसने व्रत रहने का निर्देश किया है। लक्ष्मीधर ने इस अवसर पर होनेवाले नाच-गाने का उल्लेख किया है, जो रात भर चलता था।[७] अलबीरूनी भी कहता है कि जब चंद्रमा चौथे नक्षत्र रोहिणी में होता है तब इस समय को 'गुनालहीद' कहते हैं। वासुदेव के जन्म पर वे प्रसन्नतापूर्वक तीन दिन उत्सव करते हैं तथा एक दूसरे के साथ क्रीड़ा करते हैं।[८] वाराणसी में आज भी जन्माष्टमी का यह उत्सव तीन दिन तक चलता है।

भाद्रपद अमावस्या—भादों के कृष्ण-पक्ष के आधे महीने में 'पितृपक्ष' रहता है। इन दिनों मरे हुए लोगों का श्राद्ध और तर्पण किया जाता है। अलबीरूनी लिखता है कि 'भाद्रपद के महीने में जब चन्द्रमा दसवें स्थान मघा पर रहता है, वे एक त्योहार मनाते हैं जिसे वे 'पितृ

१ *Chalukyas of Gujarat*, p. 308.

२ *AI.*, Vol. II, p. 181 ; *Gardizi*, MSS., p. 218 A.

३ श्री आयंगर ने 'कृत्यकल्पतरु' के तीसरे खंड की भूमिका पृ० ४७ पर श्रावण मास लिखा है, जो ठीक नहीं प्राप्त होता।

४ *AI.*, Vol. II, p. 177.

५ **कृत्यकल्पतरु, नियत०** पृ० ३९५-९६, **कृत्यरत्नाकर,** पृ० २५७।

६ **कालविवेक,** पृ० २९७।

७ **कृत्यकल्पतरु, नियत०,** पृ० ३९५–९६

८ *AI.*, Vol. II, p. 181.

पक्ष' कहते हैं अर्थात् पित्रों का आधा महीना, क्योंकि चन्द्रमा का इस स्थान में प्रवेश करना नये चंद्रमा के समय के निकट गिरना है। वे पन्द्रह दिनों तक पित्रों के नाम पर भिक्षा वितरित करते हैं।[1]

अमावस्या के दिन तो विशेषकर उन आदमियों के लिए पावन होता है जो वास्तविक श्राद्ध करते थे। वैसे ये संपूर्ण दिन पवित्र थे।[2] हेमचन्द्र के अनुसार इस पर्व का नाम 'महालवक्खो' है, जिसे 'महालय-पक्ष' का बिगड़ा रूप कहा जा सकता है। अभयतिलकगणि[3] ने इसे 'श्राद्धपक्ष' कहा है, जिसमें व्यक्ति को ब्रह्मचारी के रूप में रहने का निर्देश किया है, तथा पान, दंतकाष्ठ, शरीर में तेल लगाना, भोजन बनाना, स्त्री, औषधि और दूसरे द्वारा आमंत्रित भोजन को वर्जित बताया है। इस अवसर पर कश्मीर में वर्ष के भीतर मरे हुए व्यक्ति की हड्डियाँ पवित्र गंगा झील में छोड़ी जाती थीं।[4]

अर्द्धभाद्र के शुक्लपक्ष में भी अनेक त्योहार संपन्न किये जाते थे।

३ भाद्र—अलबीरूनी लिखता है कि ३ री भाद्रपदा 'हर्बाली' का त्योहार औरतों के लिए है। यह उनकी रीति है कि कुछ दिनों पहले वे सभी प्रकार के बीज टोकरियों में बो देती हैं और जब वे बढ़ना आरंभ कर देते हैं तब इस दिन वे टोकरियों को सम्मुख लाती हैं। वे उन पर गुलाब के फूल और सुगंध फेंकती हैं तथा एक दूसरे से रात भर खेलती हैं। दूसरे दिन सुबह वे उन्हें तालाब पर लाती हैं, उन्हें साफ करती हैं, स्वयं स्वच्छ होती हैं और दान देती हैं।[5]

जीमूतवाहन[6] के अनुसार शुक्लपक्ष के भाद्र पद को चौथा दिन औरतों के लिए व्रत और पूजन का दिन है। औरतें उपवास करती हैं तथा शिव या पार्वती का पूजन करती हैं। वे सास और श्वसुर को गुड़, नमक और पूप देती हैं। यह दिन 'हरितालिका' के नाम से प्रसिद्ध है। भोज[7] के अनुसार पार्वती के नाम से यह दिन पवित्र है।

५–६ भाद्र—अलबीरूनी के अनुसार 'भाद्रपक्ष' का 'षट्' कहलाने वाला पाँचवाँ दिन, व्रत का दिन है, सूर्य के लिए पवित्र। वे सौर किरणों का, विशेषत: उन किरणों को, जो वातायनों से प्रवेश करती हैं, अनेक प्रकार की औषधियुक्त विलेपन से उन पर सुगंधयुक्त पौधे और फूल रखते हैं।[8]

लक्ष्मीधर[9] और चंडेश्वर[10] ने ६ठें और सातवें भाद्रपद को पवित्र उल्लिखित किया है,

---

१ *Ibid.*, Vol. II, p. 180 ; *Gardizi* MSS. 217 B.

२ **कृत्यकल्पतरु, नियत०**, पृ० ३९६; **कृत्यरत्नाकर**, पृ० २५७।

३ **देशीनाममाला**, ६.१२७।

४ **द्वयाश्रय०** ३.५.१७।

५ *AI.*, Vol. II, p. 180.

६ **कालविवेक**, पृ० ४११।

७ **राजमार्तण्ड** ABORI., Vol. 36, p. 323.

८ *AI.*, Vol. II, p. 177.

९ **कृत्यकल्पतरु, नियत०** पृ० ३९७।

१० **कृत्यरत्नाकर**, पृ० २७७।

जब कृष्ण को प्रसिद्धि मिली थी। चंडेश्वर का कहना है कि जब इस अवसर पर लोग नौकरों, मित्रों और पत्नियों को भेंट प्रदान करते हैं। वह आगे निर्देश करता है कि ६ठें दिन तेल का प्रयोग नहीं करना चाहिए। इस दिन सूर्य की पूजा होती है और 'पायस' और 'गुड़' दिया जाता है।[१] अलबीरूनी[२] ने छठें भाद्रपद को 'गाइहत' कहा है तथा इस अवसर पर 'कारावास' में रहने वाले लोगों को भोजन देने की बात कही है। लक्ष्मीधर और जीमूतवाहन ने इस पर्व को सूर्य के लिए पवित्र नहीं बताया है। अतः प्रकट होता है कि सूर्य-पूजा पूर्वी उत्तर प्रदेश और बंगाल में नहीं प्रचलित थी। लेकिन अलबीरूनी ने जब लिखा है तब यह भारत में अवश्य प्रचलित रहा होगा। वैसे मुल्तान में भारत प्रसिद्ध सूर्य मंदिर और सूर्यकुंड था, जहाँ सूर्य की पूजा होती थी तथा दूर-दूर के यात्री भी दर्शनार्थ आते थे।[३]

८ भाद्र—शुक्ल भाद्रपद का ८वां दिन अनेक त्योहारों के लिए विख्यात है। अलबीरूनी लिखता है कि ८वीं तिथि जब चाँदनी विकास के आवे पर पहुँची रहती है, वे एक पर्व करती हैं जो 'ध्रुवगृह' कहलाती हैं। वे अपने को स्वच्छ करती हैं और उगने वाला फल खाती हैं कि उनके बच्चे स्वस्थ हों। औरतें इस त्योहार को इसलिए मानती हैं या वे गर्भयुक्त होती हैं या संतान की इच्छा रखती हैं।[४] लेकिन अलबीरूनी द्वारा विवृत्ति हिंदू त्योहारों को फारसी में अनुदित करते हुए गरदीजी[५] का कथन है कि पूजा करने वाला ही फल खाता है, उसकी संतान नहीं। चंडेश्वर[६] के अनुसार इस पर्व पर अगर व्यक्ति, विशेषकर स्त्री व्रत रहकर अनेक फलों से शंकर और गणेश का पूजन करती हैं तो वे विद्या, संतान और धन से पुरस्कृत होती हैं। पर्व 'दूर्वाष्टमी' के नाम से जाना जाता था। इस 'दूर्वाष्टमी' से अलबीरूनी के 'ध्रुवगृह' का समर्थन होता है।

११ भाद्र—अलबीरूनी के अनुसार '११वां भाद्रपद' 'पर्वती' कहलाता है। यह एक धागे का नाम है जिसे पुरोहित उन सामग्रियों से बनाता है जो उसे इस प्रयोजन से दी गई रहती है। इसका एक भाग वह केसर के साथ रंग देता है, दूसरा उसी तरह छोड़ देता है। वह धागे को, जितनी ऊँची वासुदेव की मूर्ति होती है, बनाता है। तब वह उसे अपनी गर्दनपर फेंकता है, जिससे वह उसके पैर तक लटकता है। यह बहुत ही पूजनीय त्योहार है।[७]

समयुगीन भारतीय ग्रंथों में इसका उल्लेख नहीं मिलता। संभवतः अलबीरूनी के समय इसका प्रचलन रहा हो। हेमचन्द्र ने देशीनाममाला में १०वें दिन होनेवाला 'णेड्डरिया' त्योहार का उल्लेख किया है।[८]

---

१ वही, पृ० २७८–७९।
२ *AI.*, Vol. II, p. 180.
३ *Ibid.*, Vol. I, p. 116.
४ *AI.*, Vol. II, p. 180-81.
५ *Gardizi*, MSS., p. 217 B.
६ कृत्यरत्नाकर, पृ० २८३–८५।
७ *AI.*, Vol. II, p. 181.
८ देशीनाममाला, ४.४५।

२६, २७ भाद्र—इन तिथियों के अंतर्गत अलबीरूनी ने कश्मीर में होनेवाले त्योहार का वर्णन किया है। इस त्योहार का पता उसे जीवशर्मा नामक व्यक्ति से लगा था, जिसे सखाउ[1] ने अलबीरूनी का समकालीन माना है। अलबीरूनी लिखता है कि 'जीवशर्मा' बताता है कि इस मास के २६वें और २७वें दिन लकड़ी के विशेष टुकड़ों के कारण कश्मीर के लोग एक त्योहार मनाते हैं, जो 'गण' कहा जाता है, जिन्हें वितस्ता (झेलम) नदी का पानी उन दो दिनों में राजधानी अधिष्ठान में ले आता है। लोग मानते हैं कि महादेव इन्हें भेजता है। इन लकड़ी के टुकड़ों की यह विशेषता है कि जैसा वे कहते हैं, कोई भी इन्हें नहीं रोक पाता। इस प्रकार वह ऐसा प्रकट करते हैं कि वे (लकड़ी के टुकड़े) हमेशा उसकी पकड़ से निकल कर आगे बढ़ जाते हैं।[2]

वह आगे कहता है कि अतः इस विषय पर जिन कश्मीर वालों से मैंने वार्ता की, वे स्थान और समय पर भिन्न विवरण देते हैं और जिस नदी (वितस्ता झेलम) का अभी उल्लेख हुआ है वह उसके उद्गम स्थान की बाँई ओर कूदे शहर नामक तालाब में, वैशाख मास के मध्य में होता है। बाद का कथन अधिक संभाव्य है, इसलिए कि इस समय से पानी बढ़ने लगता है। यह बात जुर्जान नदी में लकड़ी की याद दिला देती है जब इसके उद्गम स्थल से जल बढ़ने लगता है।[3]

आश्वयुज या आश्विन या कुआर मास (सितम्बर-अक्टूबर)

८ आश्वयुज—अलबीरूनी के अनुसार 'आश्वयुज' के आठवें दिन जब चंद्रमा उन्नीसवें नक्षत्र 'मूल' में होता है, ईख का चूसना प्रारम्भ होता है। यह त्योहार महादेव की बहन महानवमी पर पवित्र है, जब वे चीनी के पहले फल और अन्य चीजों को उसकी प्रतिमा के लिए, जो भगवती कही जाती है, देता है। वे इसके सामने बहुत भेंट रखते हैं और बकरी के बच्चों की बलि देते हैं। वह, जब कुछ भी भेंट नहीं चढ़ा पाता तो मूर्ति की बगल में बिना कभी बैठे सीधा खड़ा रहता है और कुछ समय में किसी के भी मिलने पर उस पर प्रहार कर बलि कर डालता है।[4] अलबीरूनी द्वारा जीव बलि के स्पष्ट उल्लेख के विपरीत उपर्युक्त कथन पर डॉ० ए० के० मजूमदार की यह टिप्पणी कि 'इस उद्धरण का यह महत्व है कि अलबीरूनी यह नहीं कहता कि कोई पशु-बलि की जाती थी'[5] आश्चर्य ही है।

दुर्गापूजा त्योहार को हेमचन्द्र[6] ने 'नवाह' नाम से सम्बोधित किया है और उसके भाष्यकार अभयतिलकगणि ने 'महानवमी'। प्रथम दिवस से नौ दिन यह पूजा चलती थी और 'नवरात्र' कहा जाता था। मार्कण्डेयपुराण[7] के देवीमाहात्म्य को उद्धृत करते हुए अभय

---

[1] Sachau : *op. cit.*, Vol. II, p. 309.
[2] *AI.*, Vol. II, p. 181.
[3] *Ibid.*
[4] *AI.*, Vol. II, p. 179-80.
[5] "But the importance of this passage is that Al-Biruni does not say that any animal was sacrificed."—Chalukyas of Gujarat, p. 483.
[6] द्वयाश्रय ३.६।
[7] मारकण्डेयपुराण ११, अ० ९२।

तिलकगणि ने 'चंडी' के पूजन को अत्यन्त लाभप्रद बताया है। हेमचन्द्र ने देशीनाममाला में अलबीरूनी के कथन से साम्य रखते हुए ईख का चूसना त्योहार का मुख्य नैवेद्य निर्दिष्ट किया है।[१]

दुर्गापूजा में बलि की प्रथा थी। असंख्य जानवरों की बलि दी जाती थी। जयसिंह सूरि[२], राजशेखर[३] और जिनमंडन[४] ने चालुक्य कुमारपाल बलि बंद कर दिये जाने का निर्देश किया है। इस पर मंदिर के पुरोहितों ने राजा से दैवी की पूजा के पर्व को साधारण ढंग से मनाने के लिए प्रार्थना की। बंगाल और उसके बाहर बलि अधिक संख्या में होती थी। स्वामी दुर्गा चैतन्य[५] भारती के अनुसार बंगाल और उसके बाहर, काठमाण्डू आदि में असंख्य पशुओं की बलि दी जाती रही हैं।

१५ आश्वयुज—अलबीरूनी लिखता है कि "१५वें दिन जब चंद्रमा अपने अंतिम नक्षत्र रेवती में रहता है तब 'पुहाई' त्योहार होता है, वे एक दूसरे के साथ शास्त्रार्थ करते हैं तथा जानवरों के साथ खेलते हैं। यह वासुदेव के लिए प्रसिद्ध है क्योंकि उसके मामा कंस ने शास्त्रार्थ के लिए उसे अपने सम्मुख उपस्थित होने का आदेश दिया था।"[६] अलबीरूनी द्वारा दी गई यह तिथि भोज[७] के 'युक्तिकल्पतरु' में दी गई तिथि से मिलती है। लेकिन अलबीरूनी ने त्योहार की प्रसिद्धि की जो कथा दी है वह किसी भी समकालीन लेखक से अनुमोदित नहीं होती।

गुजरात में इस मास में एक त्योहार मनाया जाता था, जिसमें पत्नी के साथ से पति मालपुआ खाता था।[८]

१६ आश्वयुज—अलबीरूनी के अनुसार "१६वीं (तिथि) को एक पर्व होता है क्योंकि वे ब्राह्मणों को दान देते हैं।"[९]

इस दिन के त्योहार का अलबीरूनी युगीन किसी भारतीय लेखक ने कोई जिक्र नहीं किया है।

२३ आश्वयुज—अलबीरूनी कहता है कि "२३ को जब चंद्रमा ७वें नक्षत्र पुनर्वसु पर होता है तब 'अशोक' त्योहार होता है, 'आहोई' भी कहा जाता है। यह आनंद और शास्त्रार्थ का दिन है।"[१०]

उत्तरी भारत में आज भी 'अशोक' वृक्ष की पूजा की जाती है, आनंदोत्सव मनाया जाता है। हो सकता है, यह वही पर्व हो।

---

१ देशीनाममाला १.३२।
२ कुमारपालभूपालचरित् ७.१०९–१०।
३ राजशेखर : प्रबंधकोश 'हेमसूरि प्रबंध' ४७।
४ जिनमंडन : कुमारपालप्रबंध ६१।
५ **समाधान,** पृ० ९९।
६ *AI.*, Vol. II, p. 180.
७ **युक्तिकल्पतरु,** पृ० १७७।
८ **देशीनाममाला** ६.८१।
९ *AI.*, Vol. II, p. 180.
१० *AI.*, Vol. II, p. 180.

कार्तिक मास (अक्टूबर-नवम्बर)

१ कार्तिक--अलबीरूनी के अनुसार "प्रथम कार्तिक या नवीन चंद्रमा का दिन, जब सूर्य तुला राशि में रहता है 'दीपावली' कहा जाता है।" लोग सबसे पहले स्नान करते हैं, वस्त्र धारण करते हैं, एक दूसरे को पान और सुपाड़ी का उपहार देते हैं। वे सवार होकर दान देने के लिए मंदिर जाते हैं और दोपहर तक प्रफुल्लतापूर्वक एक दूसरे के साथ क्रीड़ा करते हैं। रात में वे प्रत्येक स्थान पर अनेक संख्याओं में दीप जलाते हैं जिससे वायु पूर्णत: स्वच्छ हो जाती है। इस त्योहार का कारण यह है कि वासुदेव की पत्नी, लक्ष्मी, साल में एक बार इस दिन विरोचन के पुत्र बलि को जो सातवीं पृथ्वी (पाताल) पर बंदी है, बंधनमुक्त करती हैं और उसे संसार में बाहर जाने देती हैं। इस प्रकार यह त्योहार 'बलिराज्य' अर्थात् 'बलि का राज्य' कहा जाता है। हिंदू मानते हैं कि कृतयुग में यह समय भाग्य का दिन था और वे प्रसन्न होते हैं क्योंकि इस त्योहार का समय कृतयुग के उस समय के बराबर है।"[१]

मेरुतुंग[२] ने सिद्धराज संबंधी कथा का निरूपण करते हुए 'दीवाली' उत्सव का वर्णन किया है। इस अवसर पर 'महालक्ष्मी' की पूजा होती थी। यह पूजा दीवाली के दिन के पहले होती थी। कोल्हापुर में 'महालक्ष्मी' की पूजा दीवाली के दिन से पहले हुई थी यह सिल्हारों के एक विरुद्ध 'श्रीमहालक्ष्मीदेवी-लब्ध-वर-प्रसाद' से विदित होता है।[३] अत: लक्ष्मी से संबंधित अलबीरूनी का कथन सही है। यद्यपि अलबीरूनी ने भ्रमवश अपने विवरण में लक्ष्मीपूजा, दीवाली और बलिपूजा तीनों को एक साथ वर्णित किया है। हेमचन्द्र ने द्वयाश्रय में 'बलिपूजा' के लिए 'बलिमह' कहा है, जिसे भाष्यकार अभयतिलकगणि ने स्पष्ट करते हुए 'बलिराज्यदिन' संबोधित किया है। भविष्यपुराण के आधार पर अभयतिलकगणि का कथन है कि 'बलिमह' उत्सव दीवाली की रात से प्रारम्भ होता था। असल में दूसरा दिन ही 'बलिमह' उत्सव का था जिसमें औरतें एक दूसरे की अभ्यर्थना करती थीं।[४]

दीवाली हिंदुओं का बहुत पुराना त्योहार है। नीलमत[५], स्कंद[६], पद्म[७], वाराह और भविष्यपुराणों को उद्धृत करते हुए हेमाद्रि[८], नागानंद[९] और वात्स्यायन[१०] इसकी प्राचीनता

---

१ *AI.*, Vol. II, p. 182 ; *Gardizi*. MSS. 219 A.

२ **प्रबंधचिंतामणि** (Tr. Tawny.) III. **प्रबंधचिंतामणि** (संपादक जिनविजय मुनि) ७२।

३ Gode, P. K.: *Some Notes on the History of Diwali Festival*, ABORI, XXVI, 237.

४ द्वयाश्रय ३.३२।

५ **नीलमतपुराण** (लाहौर संस्करण), ४२ श्लो० ४०५–१५ Ed. D. Verse श्लो० 398—406.

६ **स्कंदपुराण,** वैष्णवखंड, अ० ९।

७ **पद्मपुराण,** उत्तरखंड अ० १२२।

८ **चतुर्वर्गचिंतामणि,** कालनिर्णयखंड, पृ० ९१४–१५।

९ **वागानंद** अ० ४।

१० वात्स्यायन : **कामसूत्र** १.४.४३।

की पुष्टि करते हैं। कार्त्तिक अमावस्या की गहन रात्रि में इस त्योहार का आयोजन किया जाता था। 'ब्रह्मपुराण' का उद्धरण देते हुए लक्ष्मीधर[1] और चंडेश्वर[2] ने इस त्योहार को 'सुख सप्तिका' के नाम से अभिहित किया है। भोज[3] ने इसे 'सुखरात्रि' नाम से संबोधित किया है। इस अवसर पर भूखों को भोजन और दान दिया जाता था। रात में सर्वत्र दीप जलाये जाते थे तथा लक्ष्मी की पूजा की जाती थी। इसीलिए जीमूतवाहन[4] ने भी इसे 'सुखरात्रि' कहा है। सोमदेव[5] के अनुसार इस पर्व पर सब स्थान दीपमालिकाओं से सुसज्जित लोग आनंदविभोर हो जाते थे।

जीमूतवाहन[6], लक्ष्मीधर[7] और चंडेश्वर[8] स्पष्ट करते हैं कि दीवाली कार्त्तिक अमावस्या के बाद प्रतिपदा को मनायी जाती थी। कार्त्तिक अमावस्या बलिराज प्रवर्त्तिनी थी।[9] इस दिन को सुबह लोग जुआ खेलते थे। जूए का हारना और जीतना व्यक्ति के अभाग्य और भाग्य का द्योतक था।[10] 'कृत्यतत्वार्णव' में इस त्योहार को 'द्यूत प्रतिपदा' कहा गया है।[11]

हेमचन्द्र ने इस त्योहार को 'दीपोत्सव पक्ष' कहा है, जिसे अभयतिलकगणि ने अपनी व्याख्या से 'दीपमालिका'[12], 'देशीनाममाला' में हेमचंद्र[13] ने इस त्योहार के संस्कृत शब्द 'दीवाली' और 'दीपमालिका' को देशी 'जक्खरत्ती' से स्पष्ट किया है। 'जक्खरती' वात्स्यायन[14] के 'यक्षरात्रि' का बिगड़ा रूप लगता है।

११ कार्त्तिक : देवोत्थनी एकादशी—अलबीरूनी का कथन है कि 'कार्त्तिक के महीने में जब चंद्रमा अपने अंतिम नक्षत्र रेवती में रहता है तो वह वासुदेव के जागने के उपलक्ष में व्रत का दिन होता है। यह 'देवोत्थनी' कहा जाता है, अर्थात् देव का उत्थान। इसके अतिरिक्त, दूसरी स्थिति जोड़ते हैं कि यह शुक्ल पक्ष का ग्यारहवाँ दिन होना चाहिए। उस दिन गौओं के गोबर से अपने को पोतते और गाय के दूध, मूत्र और गोबर की संपृक्ति लेकर व्रत तोड़ते हैं। यह दिन उन पाँच दिनों का पहला है जो 'भीष्म पांचरात्रि' कहे जाते हैं। वे वासुदेव के सम्मान में

---

१ **कृत्यकल्पतरु, नियत०** ४२१–२३।
२ **कृत्यरत्नाकर,** पृ० ४१०–११।
३ **राजमार्तण्ड,** ABORI, Vol. 36, p. 329.
४ **कालविवेक,** पृ० ४०३–४०४
५ **यशस्तिलकचंपू** (निर्णयसागर प्रेस, पृ० ५९७–९८) बुक ३, श्लोक ४६२–६६।
६ **कालविवेक,** पृ० ४०६–७।
७ **कृत्यकल्पतरु,** नियत० पृ० ४२१–२२।
८ **कृत्यरत्नाकर,** पृ० ४१०–११।
९ **कृत्यतत्वार्णव,** *HB.*, Vol. I, p. 607.
१० **कृत्यकल्पतरु, नियत०,** पृ० ४२२, *HB.*, **कृत्यरत्नाकर,** पृ० ४११।
११ **कृत्यतत्वार्णव,** HB., Vol. I, p. 607.
१२ **द्वयाश्रय** २.१०६।
१३ **देशीनाममाला** ३.४३।
१४ **कामसूत्र** १.४.४३।

उस बीच उपवास करते हैं। उनमें से दूसरे दिन ब्राह्मण उपवास तोड़ते हैं, जिनके बाद अन्य लोग।[१]

भोज[२], लक्ष्मीधर[३] और चंडेश्वर[४] ने देवोत्थनी एकादशी पर विस्तार से लिखा है। यह त्योहार अत्यन्त महत्वपूर्ण था। रात में वेद और पुराण का पाठ किया जाता था। देव के स्वागतार्थ गाने-बजाने का आयोजन निष्पन्न होता था। वैष्णव लोग वासुदेव की कीर्त्ति और जीवन पर व्याख्यान देते थे। बारहवें दिन वासुदेव को घी, तेल और शहद में स्नान कराया जाता था।[५] द्वयाश्रय पर भाष्य करते हुए अभयतिलकगणि[६] ने भी इस त्योहार को 'विष्णु के जागने का दिन' निर्देशित किया है। चालुक्य आश्रित शासक वेजल्लदेव के ११७३ ई० के एक अभिलेख से विदित होता है कि इस अवसर पर उसने उपवास किया था।[७] 'हरिभक्तिविलास' से पता लगता है कि इस त्योहार का दूसरा नाम 'प्रबोधिनी एकादशी' था तथा कृष्ण का जुलूस निकलता था[८]। आज भी काशी में कुछ वैष्णवोपासक इस दिन स्थान-स्थान पर श्रीकृष्ण को जुलूस में लेकर निकलते हैं।

कार्त्तिक पूर्णिमा—अलबीरूनी लिखता है कि 'उसी महीने में जब पूर्ण रूप से चंद्रमा रहता है, वे कृष्णपक्ष के सभी दिनों तक ज्योनार करते हैं तथा अपनी स्त्रियों को सज्जित करते हैं।[९]

कार्त्तिक की चतुर्दशी या पूर्णिमा का दिन अत्यन्त पावन समझा जाता है। लक्ष्मीधर[१०] और चंडेश्वर[११] ने पूर्णिमा की पावनता का विशद वर्णन किया है। स्नान के बाद स्त्रियाँ फल वाले वृक्ष का पूजन करती थीं। यह व्यवहार था कि सबसे पहले भेंट संतानवाली औरतों को जाता था। उत्सव में मित्रों, सेवक, संबंधी, सभी लोगों को भोजन कराया जाता था। अभयतिलकगणि[१२] ने कार्त्तिक पूर्णिमा की पवित्रता और पावनता का उल्लेख किया है।

आज भी वाराणसी में 'कार्त्तिक मास' को 'पुरुषोत्तम मास' कहा जाता है तथा पूरे कार्त्तिक मास तक अधिकांश हिंदुओं द्वारा गंगास्नान और देवपूजन होता है। कार्त्तिक पूर्णिमा के दिन सभी प्रफुल्ल होकर व्रत रहते हैं, दान देते हैं और पुरुषोत्तम का पूजन-अर्चन करते हैं।

---

१ *AI.*, Vol. II, p. 177.

२ **राजमार्तण्ड**, ABORI, Vol. 36, p. 315.

३ **कृत्यकल्पतरु, नियत०** पृ० ४२७।

४ **कृत्यरत्नाकर,** पृ० ४२० और ४२७।

५ **कृत्यकल्पतरु, नियत०** पृ० ४२६-२९; **कृत्यरत्नाकर,** पृ० ४२०-२२ और ४२६-२७।

६ **अभयतिलकगणि का द्वयाश्रय पर भाष्य,** ३.२५।

७ *IA.*, XVIII, p. 83.

८ **हरिभक्तिविलास** अ० १६, श्लोक १७६—१९८।

९ *IA.*, Vol. II, p. 182.

१० **कृत्यकल्पतरु, नियत०** पृ० ३२५—२६।

११ **कृत्यरत्नाकर,** पृ० ४१३—१४।

१२ अभयतिलकगणि का द्वयाश्रय पर भाष्य—७.६९, भा० २, पृ० ३०७।

मार्गशीर्ष या अगहन मास (नवम्बर-दिसम्बर)

३ मार्गशीर्ष—अलबीरूनी लिखता है कि तीसरी मार्गशीर्ष, 'गुवान-बात्रीज' (तृतीया) कहलाती है, जो औरतों का त्योहार है, गौरी को पवित्र है। वे अपने में से अमीरों के घर इकट्ठा होती हैं, वे देवी की अनेक रजतमूर्तियाँ सिंहासन पर रहती हैं, धूप देती हैं और पूरे दिन एक दूसरे के साथ क्रीड़ा करती हैं। दूसरे दिन सुबह दान देती हैं।[१]

चंडेश्वर[२] और हेमाद्रि ने[३] इसका उल्लेख किया है कि इस दिन गौरी का पूजन होता था, और यह दिन शुक्ल पक्ष का था। किन्तु अलबीरूनी ने शुक्लपक्ष अथवा कृष्ण पक्ष का उल्लेख नहीं किया है।

१५ मार्गशीर्ष—अलबीरूनी के अनुसार "उसी महीने का पूर्ण चंद्रमा का दिन औरतों के दूसरे त्योहार का दिन है।"[४]

चतुर्दशी या पूर्णिमा के दिन लक्ष्मीधर[५] और चंडेश्वर[६] ने हिमपूजा का निदश किया है, जो विशेषकर स्त्रियों का त्योहार था। इस संबंध में अलबीरूनी का कथन सही है।

पौष मास (दिसम्बर-जनवरी)

अलबीरूनी लिखता है कि पौष महीने के अधिकांश दिनों में, वे काफी मात्रा में 'पूहबल' तैयार करते हैं, अर्थात् मिठाई, जिसे वे खाते हैं।[७]

लक्ष्मीधर[८] और चंडेश्वर[९] के अनुसार इन पर्वों का, पवित्रता के विचार से, अधिक महत्त्व था।

८ पौष—पौष कृष्ण-पक्ष में मुख्यतः दो पर्व के दिन रहे हैं। किन्तु अलबीरूनी ने कृष्ण-पक्ष के एक ही पर्व का दिग्दर्शन कराया है। वह लिखता है कि 'कृष्णपक्ष के आठवें दिन को 'साकार्तम' कहा जाता है। वे शलजम खाते हैं।[१०] लक्ष्मीधर[११] और चडेश्वर[१२] के अनुसार इस दिन लोग वनस्पति खाते हैं।

---

१ *IA*., Vol. II, p. 182.
२ **कृत्यरत्नाकर**, पृ० ४५२–५३।
३ **चतुर्वर्गचिंतामणि**, भा० २, पार्ट १, पृ० ४०२–३।
४ *AI*., Vol. II, p. 183.
५ **कृत्यकल्पतरु**, नियत० ४३३–३४।
६ **कृत्यरत्नाकर**, पृ० ४७८–७९।
७ *AI*., Vol. II, p. 182.
८ **कृत्यकल्पतरु**, नियत० पृ० ४३४।
९ **कृत्यरत्नाकर**, पृ० ४७८–७९।
१० *AI*., Vol. II, p. 183.
११ **कृत्यकल्पतरु, नियत०** पृ० ४३४।
१२ **कृत्यरत्नाकर**, पृ० ४७८–७९।

६ पौष—अलबीरूनी के अनुसार शुक्ल पक्ष के छठे पौष को सूर्य के सम्मान में व्रत रहता है।[१]

अलबीरूनी के समसामयिक भारतीय ग्रंथों में इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता है लेकिन अलबीरूनी के विवरण से यह स्पष्ट है कि उस समय इसका कुछ न कुछ अस्तित्व अवश्य रहा होगा।

८ पौष—अलबीरूनी लिखता है कि पौष शुक्ल पक्ष के अष्टमी के दिन जिसे 'अष्टक' कहा जाता है, वे ब्राह्मणों को जुटाते हैं, उन्हें बथुए–अर्थात् अरबी में सरमक–के पौधे से तैयार हुई थालियाँ उपहार में देते हैं और उन पर अपना ध्यान प्रदर्शित करते हैं।[२]

भविष्यपुराण को उद्धृत करते हुए चंडेश्वर[३] कहता है कि यह दिन महादेव के लिए पवित्र था। इस अवसर पर विशेष रूप से ब्राह्मण भोजन करते थे। यह शैव त्योहार था।

माघ मास (जनवरी-फरवरी)

३ माघ—अलबीरूनी लिखता है कि "तीसरा माघ, औरतों का त्योहार है और गौरी को पवित्र है, 'महात्रीज' (माह–तृतीया) कहलाता है। वे अपने में से अत्यधिक प्रमुख घरों में गौरी की प्रतिमा के सामने जुटती हैं, इसके पहले वे अनेक बहुमूल्य वस्त्र, मनभावन गंध और उत्तम भोजन रखती हैं। प्रत्येक मिलन स्थान में वे १०८ पानी से भरा पात्र रखती हैं और पानी के ठंढे हो जाने के बाद वे उस रात की चार पहर को चार बार स्नान करती हैं, दूसरे दिन वे दान देती हैं, भोजन कराती हैं, और अतिथि सत्कार करती हैं। औरतों का ठंढे पानी से नहाना इस महीने के लिए सामान्य है।"[४]

इस त्योहार के बारे में एक दूसरे स्थान पर वह और कहता है कि माघ का तीसरा दिन औरतों के लिए उपवास का है, मर्दों के लिए नहीं। यह 'गौर–त–र' (गौरी–तृतीया) कहा जाता है और सारे दिन-रात रहता है। दूसरे दिन सुबह वे अपने पति के निकटतम संबंधियों को उपहार देती हैं।[५]

चंडेश्वर[६] के विवरण से अलबीरूनी का कथन अनुमोदित होता है। इस त्योहार को चंडेश्वर ने 'रसकल्याणीव्रतम्' नाम से अभिहित किया है। लेकिन अलबीरूनी की तरह वह यह नहीं कहता कि १०८ पात्रों में रखे गये ठंढे पानी से उस रात की चारपहर में चार बार औरतें स्नान करती हैं। लक्ष्मीधर[७] इस त्योहार का उल्लेख औरतों के विशेष संदर्भ में अवश्य करता है लेकिन वह त्योहार का दिन शुक्लपक्ष के माघ की चौथी रात्रि निर्देशित करता है।

---

१ *AI.*, Vol. II, p. 177.
२ *Ibid.*, p. 183.
३ **कृत्यरत्नाकर**, पृ० ४८०–८२।
४ *AI.*, Vol. II, p. 183, *Gardizi*, MSS., p. 219 B.
५ *Ibid.*, p. 177.
६ **कृत्यरत्नाकर**, पृ० ४९८–५००।
७ **कृत्यकल्पतरु, नियत०**, पृ० ४३७–३८।

चंडेश्वर[१] ने भी यही तिथि उल्लिखित की है। उसके अनुसार इस महीने के चौथे और पाँचवे दिन क्रमशः 'वर चतुर्थी' और 'श्रीपंचमी' के नाम से प्रसिद्ध थे, जो 'विनायक' के लिए पवित्र थे।[२] जीमूतवाहन[३] ने इस त्योहार पर गणेश की पूजा का विधान किया है और पौष के केवल चौथे दिन सम्पन्न करने का निर्देश किया है। वह आगे कहता है कि यह व्रत का दिन था और औरतें गुरु की पूजा करती थीं। भोज[४] के अनुसार ये दिन 'श्री' के लिए भी विख्यात थे।

२३ माघ—अलवीरूनी कहता है कि "२३वीं (तिथि) को, जिसे 'मांसर्तक' कहा जाता है, और 'महातन' भी, वे अतिथियों को आदरित करते हैं और उन्हें मांस तथा बड़ी काली मटर खिलाते हैं।"[५]

इस अंश को फारसी में अनूदित करते वक्त 'गरदीजी'[६] ने २३वें दिन को २७वां कर दिया है और 'मांसर्तक' को 'मंसडतक' तथा 'माहातन' को 'हमातान'।

इस त्योहार का भारतीय ग्रंथों में कोई उल्लेख नहीं मिलता।

२९ माघ—अलवीरूनी के अनुसार 'इस मास के अंतिम दिन अर्थात् २९वीं को, जब केवल ३ दिन–मिनट अर्थात् डेढ़ घंटे बचे होते हैं, सभी हिन्दू पानी में घुसते हैं और उसमें सात डुबकियाँ लगाते हैं।"[७]

अलवीरूनी द्वारा उल्लिखित इस त्योहार का भी भारतीय ग्रंथों द्वारा कोई पुष्टि नहीं होती।

१५ माघ—अलवीरूनी लिखता है कि "इस महीने का पूर्ण चंद्रमा का दिन 'चामाह' कहा जाता है। वे ऊँचे स्थानों पर दीप जलाते हैं।"[८]

मध्ययुगीन भारतीय लेखकों ने इस महीने की पूर्णिमा के किसी पर्व का वर्णन नहीं किया है। अलवीरूनी के भारतीय त्योहारों को अनुवाद करनेवाले लेखक गरदीजी ने भी इस अंश को छोड़ दिया है। लक्ष्मीधर[९] और चंडेश्वर[१०] ने इस दिन पितरों को तिल देने के लिए निर्देशित किया है।

---

१ कृत्यरत्नाकर, पृ० ५०३।

२ वही, पृ० ५०४।

३ कालविवेक, पृ० ४११, ABORI, Vol. 36, p. 331.

४ राजमार्तण्ड

५ *AI.*, Vol. II, p. 183.

६ *Gardizi*, MSS., p. 220. A.

७ *AI.*, Vol. II, p. 183.

८ *AI.*, Vol. II, p. 183.

९ कृत्यकल्पतरु, नियत० पृ० ४३८–३९।

१० कृत्यरत्नाकर, पृ० ५१२–१३।

फाल्गुन मास (फरवरी-मार्च)

८ फाल्गुन—अलबीरूनी कहता है कि "८ फाल्गुन को 'पूरार्टाकु' कहा जाता है, वे ब्राह्मणों के लिए आटे और मक्खन (घी) के अनेकानेक भोजन बनाते हैं।"[१]

अलबीरूनी ने अपने इस कथन में यह निर्देश नहीं किया है कि यह त्योहार कृष्णपक्ष के आठवें दिन मनाया जाता था। लक्ष्मीधर[२] और चंडेश्वर[३] ने फाल्गुन के कृष्णपक्ष के दिन सीता के जन्म दिन का उत्सव नियोजित करने का विधान किया है। इस अवसर पर ब्राह्मण, मित्र और संबंधियों को भोजन कराया जाता था।

१६ फाल्गुन—अलबीरूनी के अनुसार "दूसरे दिन अर्थात् १६ को 'शिवरात्रि' कहा जाता है, वे रात भर महादेव की पूजा करते हैं, जागते रहते हैं, सोने के लिए लेटते नहीं और उस पर धूप और फूल चढाते हैं।"[४]

अलबीरूनी ने शिवरात्रि के लिए फाल्गुन का जो '१६वां' दिन बताया है, वह गलत है। फारसी में इसी का अनुवाद गरदीजी ने भी किया है।[५] वस्तुतः इस त्योहार का दिन फाल्गुन के कृष्णपक्ष का १४वां होना चाहिए।

लक्ष्मीधर[६] और चंडेश्वर[७] ने फाल्गुन कृष्ण के १४वें दिन ही शंकर की पूजा करने की व्यवस्था दी है। लोग सारी रात जागते थे, नृत्य तथा गायन में निमग्न रहते थे तथा शिव संबंधी कथाओं को सुनते थे।

उत्तरी और मध्यभारत में शिवरात्रि विख्यात और जनस्वीकृत पर्व था। कश्मीर में यह त्योहार राजा और प्रजा दोनों में समान रूप से प्रचलित था। वहाँ के शासक इस पर्व के दिन दान दिया करते थे।[८] राजपूताना और मध्यप्रदेश के कुछ अभिलेखों से विदित होता है कि शिवरात्रि पर्व मनाया जाता था, किंतु इन्हे माघ में आयोजित होने का निर्देश किया गया गया है।[९] आज के पंचांगों के अनुसार माघ कृष्ण त्रयोदशी के दिन शिवरात्रि का व्रत किया जाता है। यह व्रत फाल्गुन कृष्ण महाशिवरात्रि उत्सव से ठीक एक महीने पहले किया जाता है। इन अभिलेखों में संभवतः इसी व्रत का उल्लेख है।

२३ फाल्गुन—अलबीरूनी लिखता है कि "तेइसवें दिन, जो 'पूयत्तान' कहा जाता है, वे मक्खन (घी) और चीनी के साथ चावल खाते हैं।"[१०]

---

[१] *AI.*, Vol. II, p. 183.

[२] **कृत्यकल्पतरु**, नियत०, पृ० ४३९।

[३] **कृत्यरत्नाकर**, पृ० ५१८।

[४] *AI.*, Vol. II, p. 184.

[५] *Gardizi* MSS., p. 220. A.

[६] **कृत्यकल्पतरु**, नियत० पृ० ४४०।

[७] **कृत्यकल्पतरु**, पृ० ५२०–२९।

[८] राजतरंगिणी १.१६६, ८.७० और १११।

[९] *EI.*, XI, 31—32 (Inscription 1115 A.D.); *Ibid*, 45 (Inscription 1153 A.D.); *Ibid.*, XXI, p. 150 (Inscription 972 A.D.).

[१०] *AI.*, Vol. II, p. 183.

यह शुक्ल पक्ष का आठवां दिन था। मध्ययुगीन ग्रंथों में इसका उल्लेख नहीं मिलता।

१५ फाल्गुन––अलबीरूनी लिखता है कि फाल्गुन के पूर्ण चंद्र (पूर्णिमा) का दिन 'औदाद' या 'धोल' (अर्थात् दोल) औरतों के त्योहार का है, जब वे उन स्थानों में आग जलाते हैं जो उन स्थानों से नीचे हैं जहाँ वे 'चामाह' पर्व में जलाते हैं और वे आग को गाँव के बाहर फेंक देते हैं।"[१]

यह हिन्दुओं का प्रमुख त्योहार होली है, जिसे स्त्री-पुरुष सभी सोत्साह मनाते हैं। परम्परा से इस त्योहार में 'होलिका' जलने और रंग-गुलाल खेलने की व्यवस्था रही है। अलबीरूनी का 'धोल' या 'दोल', 'होली'––'होलिका' या 'दोलयात्रा' से मिलता हैं। गरदीजी[२] ने इसे 'होली' नाम से फारसी में अनूदित किया है तथा इस त्योहार को केवल औरतों के लिए ही व्यवहृत बताया है।[३] फाल्गुन की पूर्णिमा को होनेवाले 'दोल' नामक दूसरे त्योहार का उल्लेख हेमचन्द्र ने भी किया है।[४] भाष्यकार अभयतिलकगणि[५] के अनुसार इस अवसर पर बच्चे एक कमरे में ले जाये जाते थे, जहाँ उन्हें अच्छा भोजन (पकवान) करवाया जाता था तथा इस दिन सभी लोग सो नाथ मंदिर में जाकर पूजा करते थें। भोज[६] के अनुसार इस त्योहार पर रंग और गुलाल फेंके जाते थे।

ऊपर के विश्लेषण से स्पष्ट है कि पूर्वमध्ययुगीन भारतीय समाज में पूरे वर्ष भर विभिन्न तिथियों पर अनेक त्योहार और व्रत सोल्लास मनाये जाते थे, जो आज भी किसी न किसी रूप में हिन्दू समाज में प्रचलित है।

---

१ *Ibid.*, p. 183.

२ Sachau, *op. cit.*, Vol. II, p. 377.

३ *Gardizi*, MSS., p. 220 A.

४ द्वयाश्रय, ५.१४१।

५ अभयतिलकगणि—द्वयाश्रय, ५.१४१।

६ राजमार्तण्ड, ABORI, Vol. 36, p. 332, Verses, 227—8.

अग्नि—एक वैदिक विश्लेषण

राधाकान्त ओझा,

प्राच्य विद्या एवं धर्म विज्ञान संकाय, का० हि० वि० वि०

विश्व की रचना में सर्वप्रथम अग्नि की उत्पत्ति बतलाई गई है। भाषा विज्ञान के अनुसार अग्रि शब्द ही अग्नि शब्द के रूप में परिवर्तित हो चुका है। परमात्मा ने सबसे पहले अग्नि को पैदा किया, अतएव उसे अग्रि कहा गया। देवताओं ने उसे ही अग्नि कह कर पुकारा।[१] देवों के अग्रज होने के कारण, प्रेय के लिए पूर्व आविर्भूत अग्नि की अग्रिता को उस विराट् पुरुष ने भी स्वीकार किया।[२] अग्नि ही विश्व की प्रथम ज्योति है,[३] जिससे सारा जगत् प्रकाशित हुआ। पंच महातत्त्वों में सर्वप्रथम अग्नि का प्रादुर्भाव जगत् कल्याणार्थ हुआ। "प्रजापति ने देवताओं की सृष्टि करते समय प्रथम अग्नि को ही उत्पन्न किया।"[४] प्रजापति ने अग्नि से कहा कि पुत्रों में तुम ही ज्येष्ठ पुत्र हो।[५] उसी अग्नि ने पस्त्यों में प्रथम जन्म लिया।[६] देवताओं और असुरों के युद्ध में अग्नि का सेनानी होना निरुक्त में कहा गया है।[७] अग्नि वरुण और ऋत का नेता और राजाओं का मित्र तथा जल को उत्पन्न करने वाला है।[८] अग्नि और ऋत का आविर्भाव तपस्या से हुआ है। अतः अग्नि ऋत का मित्र बतलाया गया है।

अग्नि शब्द की व्युत्पत्ति का विचार भी उचित है। 'इन्' धातु जाने के अर्थ में प्रयुक्त होता है "एत्येग्रे एतीति अग्निः" अर्थात् जो आगे की ओर बढ़े उसे अग्नि कहते हैं। 'अंग' धातु चमकने के अर्थ में प्रयुक्त होता है, उससे भी अग्नि शब्द की व्युत्पत्ति हुई है। "अंगयन्तीति अग्रयं जन्म प्रापयन्ति इति अग्निः"। आशय यह है कि जो देवतोद्देश्य से हवनीय पदार्थों का अग्नि में प्रक्षेप होता है, वह उन-उन देवताओं को पहुँचाता है। इस तरह के अग्नि की संख्या ६ है—जैसे गार्हपत्य, आह्वनीय, दक्षिणः, सभ्य, अवसथ्य और उपासना। ऊपर की ओर ही जलने वाला, अग्नि अपने में डाले गये हवनीय वस्तुओं को जला डालता है, जली हुई वस्तुओं का सारांश वायु के सहयोग से अन्तरिक्ष की ओर बढ़ता है उसका परिणाम वर्षा है। वर्षा से अन्नादिक की उत्पत्ति सर्वविदित ही है। उन फलादिकों पर चन्द्रमा की किरणों का सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है। अन्नफलादिकों पर गिरे ओस कण उन आकाशीय पिण्डों के तत्त्व हैं जिनके पुण्य क्षीण हो

---

[१] शतपथ ब्रा० ६,१,१,११—स यदस्याग्रमसृजत तस्मादग्रिरग्रिर्ह वैतमग्निरित्याचक्षते परोक्षं परोक्षकामा हि देवाः।

[२] शतपथ ब्रा०, २,२,४,२,।

[३] शतपथ ब्रा०—अग्निर्वा प्रथमा विश्व ज्योति ७,४,२; श० ब्रा० २,३,२,९।

[४] तैत्तरीय ब्रा० २,१,६,४।

[५] वही १,५,५,६।

[६] ऋग्वेद—स जायत प्रथमः पस्त्यासु—४, १,१३,।

[७] अग्निर्वै देवानां सेनानी—निरुक्त ६।१८।

[८] ऋ० वेद—६,४०,४।

चुके हैं (आध्यात्म रामायण)। वे ही तत्त्व अग्नि और फल के रूप में आकर प्राणियों के धातु रूप में परिणत हो जाते हैं और पुनः जन्म लेते हैं। अतः पारम्परिक रीति से अग्नि जीवों के जन्मादि का भी कारण है। अग्नि संहिता के ४९वें अध्याय के द्वारा अग्नि की उत्पत्ति की प्रक्रिया इससे कुछ भिन्न ही है, जिसे हम पौराणिक कल्पना कह सकते हैं। धर्म की वसु नाम की भार्या के प्रथम गर्भ से अग्नि का जन्म हुआ और उसका विवाह स्वाहा नाम की कन्या से हुआ। फिर अग्नि के पावक, पवमान और शुचि नाम के पुत्र पैदा हुए।

पौराणिक आख्यान

प्राचीन विद्वानों ने अग्नि के स्वरूप का वर्णन भी पुराणों में किया है। आदित्य पुराण में अग्नि का स्वरूप निम्न प्रकार से है। स्थूल शरीर, पीली भौंहे, सर पर केश और दाढ़ी, रोम सहित आँखें, रुद्राक्ष और उपवीत धारण करने वाला है तथा सप्तज्योति वाला अग्नि विश्व का पालन करता है। इसका वाहन बकरा है।

रूद्र कल्प में भी अग्नि का आकार प्रकार बतलाया गया है। रूद्र के तेज से उत्पन्न हुए अग्नि के दो मस्तक, दो नासिका, ४ कान, ३ पैर, ६ हाथ हैं। दक्षिण भाग में ४ हाथ और वाम भाग में ३ हाथ है। दक्षिण भाग वाले हाथों में स्रुव, स्रुच, शक्ति और माला धारित है। बायें हाथों में तोमर, व्यजन और पात्र सुशोभित हैं।

'गोभिलपुत्र कृत संग्रह' में कर्मानसार अग्नि के अनेक नाम कहे गये हैं। नये गृह प्रवेश में काम आने वाले अग्नि का नाम पावक है। गर्भाधान में मारुत, पुंसवन में चन्द्र, शुंगाकर्म में शोभन, सीमंत में मंगल, जातकर्म में प्रगल्भ, नाम कर्म में पार्थिव, अन्नप्राशन में शुचि, चूड़ाकरण में सत्य, यज्ञोपवीत में समुद्भव, गोदान में सूर्य, केशान्त में अग्नि, साग्निकर्तव्य में वैश्वानर, विवाह में योजक, चतुर्थीकर्म में शिखी, होमादि में घृति, प्रायश्चित्त में विधु, वाक् यज्ञ में साहस, लक्ष हवन में हुताशन, पूर्णाहुति में मृड, शान्तिकर्म में वरद, पौष्टिक कर्म में बलद, अभिचार में क्रोधाग्नि, वशीकरण में शमन, वरदान में अभिदूषक, कोष्ठ में जठर और अमृत भक्षण में क्रव्याद है।

आचार्य राज वल्लभ ने अग्नि के चार गुण माने हैं—वायुकफस्तम्भ, शीतकफनाशन, आमाशयजनन और रक्तपित्तकोपन। अग्नि के अन्य गुण भी निम्नलिखित हैं :—

अग्नेर्दुर्धर्षता ज्योतिस्तापः पाकः प्रकाशनम्।
शोको रोगो, लघुस्तैक्ष्णं सततं चोर्ध्वमासिता ॥[१]

दुर्धर्षता, ज्योति, ताप, पाक, प्रकाशन, शोक, रोग, लघु, तीक्ष्ण और हमेशा उर्ध्वज्वलन य अग्नि के गुण हैं। इस तरह दोनों मिलाकर अग्नि के १४ गुण हुए।

जठराग्नि के अन्य भी दशविध कर्मों का संकेत मिलता है :

भ्राजको रंजकश्चैव क्लेदकः स्नेहकस्तथा।
धारको बन्धकश्चैव द्रावकाख्यश्च सप्तमः ॥
व्यापकः पाचकश्चैव श्लेष्मको दशधा मतः।[२]

---

१ मोक्षधर्म।
२ पदार्थादर्श।

भ्राजक, रंजक, क्लेदक, स्नेहक, बन्धक, द्रावक, व्यापक, पाचक और श्लेष्मक—ये दश कर्म अग्नि के निर्दिष्ट हैं।

आयुर्वेद में अग्नि तीन प्रकार का बतलाया गया है—'भौम, दिव्य और उदर्य'।[१] भौम, नामक अग्नि काष्ठ से उत्पन्न होता है। ऊपर की ओर जलना इसका स्वभाव है। यह पाचन तथा पसीना इत्यादि को उत्पन्न करने में समर्थ है। द्वितीय प्रकार का अग्नि जल से उत्पन्न होता है। इसका आधार से पृथक् जलना ही स्वभाव है। उसे 'बाडव' कहते हैं। तृतीय प्रकार का अग्नि काष्ठ और जल से उत्पन्न होता है। यह भी आधाधार से पृथक् ही ज्वलनशील है। खाई गई वस्तुओं को रसादि के रूप में परिणत करना और विद्युत् पैदा करना इसका कार्य है। अन्नादि जठराग्नि से पकाये जाने पर खून पैदा होता है। खून अपने अग्नि से पचकर मांस के रूप में बदल जाता है। मांस स्वकोशस्थ अग्नि से मेद बनता ह। मेद से हड्डी, हड्डी से मज्जा और मज्जा से धातु बनता है।[२]

जठरानल के चार भेद हैं—सम, विषम, मंद और तीक्ष्ण।[३] इसमें मंद और तीक्ष्ण अग्नि के द्वारा अनेकानेक रोग उत्पन्न होते हैं। मन्दाग्नि से संग्रहणी आदि रोग होते हैं। तीक्ष्णाग्नि से शोणित का शोषण तथा धातुओं की न्यूनता हो जाती है, जिससे मनुष्य मरणासन्न हो जाता है। सम और विषम नामक अग्नि का फल नामानुसार है।

देहजन्य अग्नि से नाद की उत्पत्ति बतलाई गई है।[४] आत्मा से प्रेरित हुआ चित्त जब देहज अग्नि पर आघात करता है, तब वह पावक ब्रह्म ग्रन्थि में स्थित प्राण को प्रेरित करता है। पावक से प्रेरित प्राण वायु क्रमशः ऊपर की ओर चल पड़ती है। जब वह प्राण वायु नाभि में आती है तब अति सूक्ष्म ध्वनि होती है। वह हृदय में आने पर सूक्ष्म रूप हो जाती है फिर गले में आने पर पुष्ट हो जाती है। वही प्राण वायु यदि मस्तक के छिद्रों में चला जाता है तब ध्वनि अपुष्ट ही रहती है। जब ध्वनि मुख से बाहर निकलती है तब अकारादि रूप में परिणत होकर कृत्रिम हो जाती है। इस तरह सारे संसार का शब्द व्यवहार होता है। विद्वानों ने नाद शब्द में नकार को प्राण का प्रतीक और दकार को अग्नि का प्रतीक माना है। प्राण और अग्नि के संयोग से नाद की उत्पत्ति हुई है जो संगीत शास्त्र में प्रसिद्ध है।[५]

अग्नि को कर्मों का साक्षी भी कहा गया है जिसका प्रमाण वाल्मीकी रामायण में है।[६]

---

[१] विजयरक्षितोपरिसंदेहमंजिका।

[२] मिताक्षरा में याज्ञवल्क्य के वचनों का सारांश।

[३] माधवकर।

[४] संगीत दर्पण।

[५] नकारं प्राणनामानं दकारमललं विदुः।
जातः प्राणाग्नि संयोगस्तेन नादोऽभिधधीयते॥

[६] त्वमग्ने सर्वदेवानां शरीरान्तरगोचरः।
त्वं साक्षी मम देहस्थस्त्राहि मां देव उत्तम॥

महाभारत में भी मनुष्य के कर्मों के साक्षी १२ देवताओं को बतलाया गया है, जिनमें अग्नि भी है।

आदित्य चन्द्रावानिलोऽनलश्च, द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च।
अदृश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम् ॥

सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, आकाश, भूमि, जल, हृदय, यम, दिन, रात और दोनों संध्याएँ—ये जीवों के कर्मों के साक्षी हैं।

भारतीय वाङ्मय में अग्नि का वर्णन बहुत अधिक है जिसकी एक झलक प्रस्तुत लेख में उपस्थित की गई है।

गुरु नानक के उपदेशों में धर्म और समाज का स्वरूप

नरेन्द्र 'नीरव'

कला संकाय, का० हि० वि० वि०

किसी भी सैद्धान्तिक या धार्मिक क्रान्ति का जनमत पर प्रभाव तत्कालीन परिस्थितियों में निम्न तथ्यों द्वारा निर्धारित होता है :

(१) व्यक्तिगत समस्याओं से अनुरूपता, और

(२) समाजगत समस्याओं से अनुरूपता (या इतिहासगत परिवर्तन)।

डॉ० राधाकृष्णन् ने किसी भी धार्मिक विचारक की सफलता के लिए उपयुक्त तथ्यों का निरूपण और पालन धर्म के प्रसार और समाज हित के लिए आवश्यक बताया है।

गुरु नानक के पूर्व (पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध और सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में) भारत की सामाजिक स्थिति कई विचारों और धर्मों के प्रचार का शिकार थी। स्थिति की दयनीयता पिछले उपद्रवों तथा उत्पीड़नों से उत्तरोत्तर भयानक होती जा रही थी। सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हिन्दू मस्तिष्क यद्यपि पूर्णतः प्रगतिहीन और निष्क्रिय नहीं था, फिर भी उसका आवेश उचित दिशा नहीं पा रहा था। मुसलमानों के संसर्ग से वह उद्वेलित होकर परिवर्तित हो उठा। वह किसी नये विकास और आशा के लिए व्यग्र था। उसी समय रामानन्द और गोरखनाथ ने अपनी अलग-अलग पद्धतियों से धार्मिक एकता का उपदेश दिया। चैतन्य महाप्रभु ने उस धर्म का संदेश दिया, जिससे जातियाँ सामान्य स्तर पर आईं। सन्त कबीर ने मूर्ति-पूजा का विरोध किया और लोकभाषा में अपना संदेश दिया। वल्लभाचार्य ने अपने धर्म का संदेश और सामंजस्य भक्ति में स्थापित करना चाहा।

विभिन्न सद्प्रयासों के बावजूद भी तत्कालीन भारत में कोई भी धार्मिक विचार समाज हित के लिए सार्थक नहीं हो सका क्योंकि वैचारिक मतभेद, साम्प्रदायिक कटुता, पंथ कट्टरता, क्लिष्टता तथा अलौकिकता के कारण तत्कालीन नेता जनता से हिल-मिल नहीं पाये। यह तथ्य प्रसिद्ध विद्वान् इब्नेबतूता के विवरण से परिलक्षित है।

गुरु नानक ने उपरोक्त सभी बुराइयों को विनष्ट किया और अपने उपदेशों द्वारा पन्द्रहवीं शताब्दी से लेकर बीसवीं शताब्दी तक के विभिन्न भारतीय धर्मों की एकता तथा जनहित का समीकरण प्रदान किया। इन उपदेशों ने तत्कालीन परिवेश में भारतीय मन में 'कौन-सा धर्म.. ?' जैसे विकट प्रश्न को समाप्त करके एक दिशा दिया। उन्होंने हर विचार के आधार पर सच्चे मानवतावादी दृष्टिकोण का सूक्ष्मता से प्रस्तुतीकरण किया और सच्चाई से साक्षात्कार किया। उन्होंने ऐसे धार्मिक और समाजिक सुधार अपने उपदेशों द्वारा किये, जिनका प्रभाव अल्पकाल में तथा आगे चलकर दीर्घकाल में भी पड़ा। इस प्रकार गुरु नानक ने अपने उपदेशों का धार्मिक-सामाजिक स्वरूप निम्नलिखित सुधारों के उपरान्त निर्धारित किया :

(१) वैराग्य और भक्ति,

(२) विवेक और ज्ञान, तथा

(३) दूरदर्शिता तथा समता।

धर्मों की विभिन्नताओं और नफरत भरी कट्टरताओं को समाप्त करने के लिए गुरु नानक ने एक तरफ समाजवादी त्याग का मन भारतीय मानस को सौंपा तो दूसरी तरफ आडम्बरों और विकृतियों से परे परमात्मा की भक्ति का मार्ग। प्रत्येक कार्य के आदि और अंत की पवित्रता को आवश्यक बताते हुए उन्होंने विवेक तथा ज्ञान से, साधन एवं साध्य दोनों के सुधारवाद का रास्ता ग्रहण किया। उनके दूरदर्शी विचारों का ही परिणाम था कि अनेक मतावलम्बियों ने आगे चलकर गुरु गोविन्द सिंह के माध्यम से अपना मन नवीन राष्ट्रीयता से उत्तेजित किया और उन सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप दिया कि छोटी और बड़ी जातियाँ तथा धर्म बराबर हैं। गुरु नानक के उपदेशों का भारतीय समाज पर धर्मों के माध्यम से पड़ने वाला असर, दो पक्षों को लेकर आगे बढ़ता है। इन पक्षों में निहित कटुता का विकल्प तथा सामाजिक परिवर्तन का स्वरूप गुरु नानक ने निर्धारित किया।

व्यावहारिक पक्ष—व्यवहार की सरलता ही गुरु नानक के उपदेशों की विशेषता है। उनके संदेश समाज की सभी समस्याओं को हल करते हुए समय के साथ आगे बढ़ते हैं। वे कहते हैं :

"खुरासान खसमाना कीआ, हिन्दुस्तान डराइआ।
एती मार पई कर लाषौं, तैं की दरदु न आइआ।"

गुरु नानक के उपदेशों में धार्मिक एकता का अध्ययन निम्न शीर्षकों में किया जा सकता है :—

प्रवृत्तिमूलक धर्म :—गुरु नानक ने निवृत्तिमूलक विचारों का खंडन किया। वे प्रवृत्ति मूलक धार्मिक थे। उन्होंने कहा कि समाज में रह कर ही मनुष्य की गतिविधियों का शोधन सम्भव है। उनके इस उपदेश का असर तत्कालीन अक्खड़, पैशाचिकों और कापालिकों पर पड़ा। उन्होंने पाखण्डों तथा आडम्बरों का विरोध करते हुए सरलता और सादगी का पक्ष लिया।

कुरीतियों का खंडन :—गुरु नानक कुरीतियों, दिखावटों और ढकोसलों के प्रबल विरोधी थे। वे व्यक्ति से व्यक्ति के प्रेम में विश्वास करते थे। धर्म कभी किसी का अहित नहीं कर सकता। वे कहते हैं :

"जाणहु जोति—न पूछहु जाती।"

× ×

"आगे आगे जाति गहे।"

नर-नारी समता—भारतीय नारी को समाज में उचित स्थान दिलाने का सर्वप्रथम प्रयास गुरु नानक ने किया। आपने नारी को सम्मान देने के लिए 'आसा की वार' में अनुकरणीय विचार प्रकट किये हैं। वे नर-नारी समता की आवश्यकता को समाजहित के लिए धर्म-सिद्ध बताते हैं।

विकासोन्मुख प्रवृत्ति :—गुरु नानक ने अपने उपदेशों में समयानुसार परिवर्तन की व्यवस्था दी है। सम्भवतः अन्य समस्त धर्म इसे स्वीकार नहीं करते, जिसका कारण उनकी

अकल्याणकारी कट्टरता है। समाज हित के लिए बदलती परिस्थितियों में सैद्धान्तिक लोच ही सबसे उत्तम है।

भक्तिमार्ग :—गुरु नानक कालीन संतों और धर्मों की समाजगत बुराइयों में किसी व्यक्ति की सत्ता का हाथ होता था। गुरु नानक ने धर्म को व्यक्ति की सत्ता से अलग रखा तथा ईश्वर पर निर्भर रहने के कारण उत्पन्न अकर्मण्यता को समाप्त करने का उपदेश दिया। गुरु नानक अंधविश्वास तथा निकम्मेपन को साधना के मार्ग में अवरोध मानते हैं, और इस प्रकार वे

(१) नाम या व्यक्ति की सत्ता से अलग,

(२) आलस्य, निकम्मेपन से अलग तथा

(३) अंधविश्वास से अलग अपने उपदेशों को समाज में रखते हैं।

निराशा की समाप्ति :—गुरु नानक ने समाज में व्याप्त निराशा को समाप्त किया। ये निराशाएँ धर्म के कारण ही उत्पन्न हुआ करती थीं। हिन्दुओं ने अपने मन्दिर टूटते देखा था और मुसलमानों ने अपने ही मालिकारों द्वारा इस्लाम का अपमान। यह निराशा एक लम्बे कालान्तर में उत्पन्न हुई थी। गुरु नानक मानवतावादी दृष्टिकोण से धर्म को विश्वास प्रदान किया।

विभिन्न जातियों में समन्वय :—गुरु नानक में समन्वय की विराट चेष्टा है। वे हिन्दू और मुसलमान के बीच एकता का संदेश देते हैं। एक तरफ वे सही मुसलमान बनने की विधि बताते हैं तो दूसरी ओर सही ब्राह्मण की परिभाषा। उनके निर्माणकारी मूल्यों से ध्वंसात्मक प्रवृत्तियों को समाप्त किया जा सकता है। संक्षेप में, उनके उपदेशों में सभी धर्मों का प्रबल व्यावहारिक पक्ष उदारता से संगृहीत है।

सैद्धान्तिक पक्ष

गुरु नानक के उपदेश समाज सुधार और धार्मिक एकता के लिए सिद्धान्ततः जिन स्तरों को संतुष्ट करते हैं, उन्हें हम संक्षेप में निम्न रीति से जान सकते हैं :

परमात्मा का स्वरूप :—गुरु नानक ने परमात्मा के निरंकार स्वरूप को स्वीकार किया था। उनका ईश्वर आकार में नहीं बँधा था। यद्यपि कि गुरु नानक का साक्षात्कार ईश्वर से हुआ था (वे लिखते हैं) किन्तु उनके निरंकारवाद ने धर्म को सहिष्णुता तथा समाज को एकता के रूप में बाँधा है। वे प्रेम को ही ईश्वर मानते हैं। वे प्रवृत्तिमार्गी हैं तथा समयानुसार आचरण में विश्वास करते हैं। बाह्य आडंबरों का खंडन करके गुरु नानक ने प्रत्येक धर्म को ईश्वर की एकता का संदेश दिया है।

रहस्यवाद की समानता :—विभिन्न पंथों तथा धर्मों के रहस्यवाद का मिला-जुला स्वरूप गुरु नानक का दर्शन है। वे कहीं-कहीं प्रेम और ईश्वर का सम्बन्ध स्थापित करते हैं तो कहीं-कहीं ब्रह्म और शरीर का। इस प्रकार उनका रहस्यवाद हर धर्म को सिद्धान्ततः संतुष्ट करते हुए सही दिशा देता है। वे अनेकता में एकता और विषमता में समता का संदेश देते हैं। संसार में ईश्वर ही अंतिम सत्य है तथा वह जनमानस में ही निवास करता है, गुरु नानक

का यही दृष्टिकोण था। कोई भी व्यक्ति ईश्वर से अलग नहीं रह सकता तथा दुर्गुणों से बचे बिना उसे प्राप्त करने का कोई पंथ नहीं है।

मानव धर्म और समाज :—गुरु नानक ईश्वर को अव्यक्त मानते हैं अर्थात् वह किसी के अनुसार स्वरूप नहीं ग्रहण करता है। वह सर्वग्राह्य है, इसीलिए गुरु नानक का किसी भी धर्म से विरोध नहीं है। वे अवतारवाद की आलोचना करते हैं तथा एकेश्वरवाद में विश्वास करते हैं। गुरु नानक ने अहंकार को विष तथा मनुष्य के ईश्वर-मार्ग का सबसे बड़ा रोड़ा माना है।

गुरु नानक जी मानवता के लिए चार अनिवार्यताएँ मानते हैं—(१) योग, (२) धर्म (३) ज्ञान, और (४) भक्ति। इनके बिना मनुष्य धार्मिक और सामाजिक बन ही नहीं सकता। गुरु नानक ने जीव और परमात्मा में मित्रता को स्वीकार किया है और बताया है कि पाखंडों से अलग, जीव का अस्तित्व धर्म के समाजहितकारी कर्तव्यों में पलता है।

इस प्रकार भक्ति-मार्ग की दिशा देते हुए गुरु नानक के उपदेशों का हर धर्म में विशेष स्थान है। इनके द्वारा वे एक सर्ववर्गीय सामाजिक सामंजस्य उपस्थित करते हैं। वे एक धार्मिक नेता, समाज सुधारक, क्रान्तदर्शी, देशभक्त तथा युग पुरुष थे।

———

माया स्वरूप विमर्शः

रामेश्वर प्रसाद त्रिपाठी,

कला संकाय, का० हि० वि० वि०

माया हि दर्शनशास्त्राणां मुख्य प्रतिपाद्येष्वन्यतमो विषयः। सा हि येन केनापि रूपेण सर्वेषु दर्शनेषु वर्णिता। मायावादो यद्यप्यद्वैतवेदान्त सिद्धान्ततया दार्शनिक जगति सुप्रसिद्धः, तथापि मायायाः सर्वथा स्वीकारः क्वापि दर्शने नास्ति।

मीयते (निर्मीयते) जगद् यया सा माया। यद्वा मीयते (ज्ञायते) आत्मन्यध्यस्तं जगत् यया स माया। माङ्धातोर्ज्ञानसामान्यमर्थः। माया, अविद्या, अज्ञानम्, अजा, तमः, शक्तिः, प्रधानम्, अव्यक्तम्, प्रकृतिरिति चार्थान्तरम्। "माया तु प्रकृतिं विद्यात् मम माया दुरत्यया, माययाऽपहृतज्ञानाः, योगी मायामयेयाय, मायामेतां तरन्ति ते, अज्ञानेनाऽऽवृतं ज्ञानम्, तस्मादज्ञान सम्भूतम्, प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः, प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः, प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय, मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्, प्रकृतिं पुरुषश्चैव विद्ध्यनादी उभावपि पुरुषः प्रकृतिस्थो हि, प्रकृतिं च गुणैः सह, प्रकृत्यैव च कर्माणिक्रियमणानि सर्वशः, गुणाः प्रकृति सम्भवाः, इन्द्रो मायाभिः पुरुरूपईयते, भूयश्चान्ते, विश्व मायानिवृत्तिः, अविद्यामन्तरे वर्तमानाः, क्षरंत्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या, अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्, जय जय जह्यजामजित दोषगृभीत गुणाम्, अन्धं तमः प्रविशन्ति, तमसो मा ज्योतिर्गमय, देवाऽत्मशक्ति स्वगुणैनिगूढाम्, पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः, प्रधानजैः स्वभावतोदेव एकः, प्रधान क्षेत्रज्ञ-पतिगुणेशः, महतोऽव्यक्तमुत्तमम्, अव्यक्तान्तु परः पुरुषः इत्यादि श्रुति स्मृति पुराणादि वाक्यै मायाऽपरपर्यायाणामविद्यादीनां प्रतिपादनात्।

यतो मायामद्वैतवादिनो विश्वप्रकृतित्वेनाभ्युपगच्छन्ति, अतएव जगतोऽपि तस्याः कार्यस्य मायामयत्वं मिथ्यात्वञ्च वदन्ति। शून्यवादिनो बौद्धा अपि जगतः सर्वात्मनाऽसत्वरूपत्वं शून्यत्वञ्च ब्रुवते। तत्र मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् इति श्रुतौ मायामित्येक-वचन दर्शनेन मायाया एकत्वं निश्चीयते। यद्यपि "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" इत्यादि श्रुतिषु बहुबचन निर्देशाद् मायाया बहुत्वमपि प्रतीयते, तथापि लाघवात् तस्या एकत्वमेव। बहुवचनं तु मायाशक्ति बहुत्वा नुरोधेन तद्गुण बहुत्वानुरोधेन वाऽभ्युपेयम्। माया चात्म-नोऽव्यक्त शक्तिः सत्वरजस्तमोगुणात्मिका सत्वासत्वाभ्यामात्मनो भिन्नत्वाभिन्नत्वाभ्यां चानि-र्वाच्या उक्तञ्च--

अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका या।
कार्यानुमेया सुधियैव माया यथा जगत् सर्वमिदं प्रसूयते॥
सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिकानो।
साङ्गाप्यनङ्गाप्युभयात्मिका नो महाद्भुताऽनिर्वचनीय रूपा॥

सा चैषा तुच्छा, अनिर्वचनीया, वास्तवी चेति दृष्टिभेदेन त्रिधाऽपि भिद्यते। तदुक्तम्—

तुच्छाऽनिर्वचनीया च वास्तवी चेत्यसौ त्रिधा।
ज्ञेया माया त्रिभिर्बोधैः श्रौतयौक्तिक लौकिकैः॥ इति।

मायास्त्रिगुत्वञ्च श्रुतावपि श्रुतम—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां स्वरूपाः ।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहत्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥

अत्र 'अजाम्' इत्यनेनास्य अनादित्वं सूच्यते, एकामित्यनेन बहुत्वनिरासः, लोहित शुक्लकृष्णामित्यनेन रजः सत्त्वतमो गुणात्मकत्वं च व्यज्यते। 'स्वरूपा' इत्यनेन मायाकार्याणामपि त्रिगुणात्मकत्वं बोध्यते। मायाया आत्मशक्तिरूपत्वं दुर्गा सप्तशत्यामप्युक्तम्—

"देव्या यया ततमिदं जगदात्मशक्त्या" इति

यथा देव्या स्वप्रकाशचित्संम्बधेन चित्स्वभावया कारणभूतया इदं जगत् ततम्—व्याप्तम्, अनुगतमितियावत्। एतच्चोक्तं तत्रैव ब्रह्मस्तुतौ—

यच्च किञ्चित् क्वचिद्वापि सदसद् वाऽखिलात्मिके।
तस्य सर्वस्यया शक्तिः सात्वं किं स्तूयसे मया॥ इति।

अस्तिहि भारतीय समस्ताऽऽस्तिक दर्शनशिरोमणिभूता द्वैत वेदान्तसिद्धान्त सम्मता माया नाम काचित्। सा च शुद्ध चैतन्यमेव विषयीकृत्य तदाश्रयते, यथा रज्ज्वच्छिन्नचैतन्या ज्ञानं रज्ज्वच्छिन्न चैतन्यं विषयीकुर्वद् रज्ज्वच्छिन्नचैतन्यमेवाश्रयते। माया हि ब्रह्मचैतन्याद् न वस्तुतो भेदवती, ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य मिथ्यात्व प्रतिपादनात्, "नेह नानाऽस्ति किञ्चन" इत्यादि श्रुति विरोधेन वस्तुतो मायाया ब्रह्मचैतन्याद् भेदासम्भवात्। नाप्यभिन्ना, चैतन्यजड्योरैक्यायोगात्; नापिचैतन्याद् भिन्नाभिन्ना, एकत्र भिन्नत्वाभिन्नत्वयोर्विरोधेनासम्भवात् एवं तावद् माया न सती, अद्वैत श्रुतिविरोधात्; नाप्यसती, भूतप्रकृतित्वानुपयन्तेः; नापि सदसती, सत्वासत्वयोरेकत्र विरोधात्। एवं तावद् माया नावयववती, एवं सति मायायाः सादित्वप्रसङ्गेन मायाप्रतिविम्बभूतेश्वर स्मापि सादित्वप्रसङ्गात्। मायायाः सादित्वे माया प्रकृतित्वेन मायान्तरापेक्षायामनवस्थाप्रसङ्गाच्च। नापि निरवयवा तथा सति भूतप्रकृतित्वाभाव प्रसङ्गात्। सावयव पदार्थानामेवलोके प्रकृतित्वदर्शनात्। नाप्युभयरूप सावयवत्वनिरवयवत्वयोरेकत्र विरोधात्। तस्मात् सर्वप्रकारेण मायाया निर्वक्तुमशक्यतया माया अनिर्वाच्या स्वीकरणीया।

एषा चावरण विक्षेपशक्तिद्वयवती, तत्रावरण शक्त्याऽऽत्मानमावृणोति, विक्षेपशक्त्या च जगत् सृजति; एवं शक्तिद्वयस्य दृग्दृश्यविवेके निर्देशः कृतः —

शक्तिद्वयं हि मायाया विक्षेपावृत्ति रूपकम्।
विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादि ब्रह्माण्डान्तं जगत् सृजेत्॥
अन्तर्दृग्दृश्ययोर्भेदं बहिश्च ब्रह्मसर्गयोः।
आवृत्यपरा शक्तिः सा संसारस्य कारणम्॥ इति।

इयं च मायाऽऽत्मविद्या विरोधित्वादविद्यापदेनापिशास्त्रेषूदीर्यते। क्वचिन्तु मायाविद्ययोर्भेदोऽपिदृश्यते, तदुक्तं पञ्चदश्याम्—

"सत्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च द्वे मते" इति।

शुद्ध सत्व प्रधाना माया ईश्वरोपाधिः, मलिन सत्वप्रधाना अविद्या जीवोपाधिरिति तदभिप्रायः। केचिन्तु मायाऽविद्ययो भेदमभ्युपगच्छन्ति। तथाहि—"आश्रयमव्यामोहयन्ती

कर्तुरिच्छा मनुसरन्ती माया, तद्विपरीता त्वविद्या" इति। लोकेऽपि माया निर्मितहस्त्यश्वरथादौ माया शब्द एवं प्रसिद्ध इति लक्षण प्रसिद्धिभ्यां मायाऽविद्ययोर्मेदोऽप्युपपद्यत इति तदसत्; यतोऽनिर्वचनीयत्वे सति तत्त्वावभासप्रतिबन्ध विपर्ययावभास हेतुत्वं लक्षणम्, एतच्च मायाऽविद्ययोरुभयोरपि समानम्। लोकेऽपि द्रष्टारो दृष्टमिन्द्रियजालमेव मायां वदन्ति, न त्वदृष्टं मंत्रादिकम्। न चायमपि नियमो मन्माया स्वाश्रयं न व्यामोहयति, यतो रामावतारे भगवतो विष्णोः स्वाश्रित माययैव विमोहितत्वात्। उक्तं च—"असम्भवं हेम मृगस्य जन्म तथापि रामो लुलुभे मृगाय" इति।

अविद्यापि स्वाश्रयं व्यामोहयति एवेत्यपि न नियमः, यतो-यतो जलमध्येऽधोमुखत्वेनाध्यस्यमानेश्ववपि वृक्षादिषु तदूर्ध्व मुखतायां द्रष्टुरव्यामोहात्। भगवती श्रुतिरपिमायाऽविद्ययोरेकत्वमेव द्योतयति। तथाहि "भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः" इत्यत्र सम्यग्ज्ञान निवर्त्य अविद्यायामेव माया शब्दप्रयोगात्। तथा च—

तरत्यविद्यां विततां हृदि यस्मिन्निवेशिते।
योगीमायामयेयाय तस्मै विद्यात्मने नमः॥ इति।

स्मृतिरपि माया ऽविद्ययोरभेदमेवगमयति। लोके तयोर्भेद प्रसिद्धस्त्वेकस्मिन्नपि वस्तुन्युपाधिभेदादप्युपपद्यते। तदुक्तं विवरणे—विरूप जनकत्वाकारेण इच्छाधीनत्वाकारेण माया इति व्यवहारः। आवरणा कारेण स्वातन्त्र्याकारेण वा 'अविद्या' इति व्यवहारः क्रियते। केनचित् कथञ्चिदपि माया ज्ञातुमशकुया। उक्तञ्च वेदान्तसिद्धान्त मुक्तावल्याम्—

अज्ञानं ज्ञातुमिच्छेद् यो मानेनात्यन्त मूढधीः।
स तु नूनं तमः पश्येद् दीपेनोत्तम तेजसा॥

ननु यदीयं माया सर्वथा ज्ञातुमशक्या चेत् तर्ह्य स्या सत्तैव न स्वीक्रियताम्, अत आह—त्रिगुणात्मिकामिति। माया चानादित्वे सति भावरूपा, यत्किञ्चित् प्रतीतेः। उक्तं च तल्लक्षणं चित्सुखाचार्यैस्तत्वप्रदीपिकायाम्—

अनादिभावरूपं यद् विज्ञानेन विलीयते।
तदज्ञानमिति प्राज्ञा लक्षणं सम्प्रचक्षते॥

इत्यनया कारिकयाज्ञानस्यैवलक्षणंकृतम्। अद्वैतसिद्धिकारास्तु—"अथ केयमविद्या" इत्युपक्रम्य अनादित्वे सति भावत्वे सति ज्ञान निवर्त्यत्वम्, भ्रमोपादानत्व वा इत्येवं प्रकारेणाविद्याया लक्षणं कृतम्। एवं श्री मद्भागवेत्पुराणेऽपि मायाया हेतुत्वं वर्णितम्—

एको नारायण देवः पूर्वं सृष्टं स्वमायया।
संहृत्य कालकलया कल्पान्त इदमीश्वरः॥
केवलात्मानुभावेन स्व मायां त्रिगुणात्मिकाम्।
संमोहयन् सृजत्यादौ तया सूत्रमरिन्दम॥
तामाहु स्त्रिगुणा व्यक्ति सृजन्तीं विश्वतोमुखम्।
यस्मिन् प्रोतमिदं विश्वं येन संसरते पुमान्॥
यथोर्ण नाभि हृदया दूर्णां संतत्य वक्त्रतः।
तथा विहृत्य भूयस्तां ग्रसत्येवं महेश्वरः॥

धातुसमीक्षायां ब्रह्मवित्प्रकाण्डैर्भर्तृहरिभिरभिहितम्—

शुद्धतत्व प्रपञ्चस्य हेतुरनिवृत्तितः
ज्ञानज्ञेयादि रूपस्य मायैव जननी ततः। इति।

एतदभिप्रायेणैव सुरेश्वराचार्यैरपि मानसोल्लासेऽभिहितम्--

सर्वोऽपि व्यवहारोऽयं मायायाः परिजृम्भणम्।
सुषुप्ति सदृशी माया स्वप्रबोधेन शाम्यति।

एवं विवरणाचार्याणां मतेऽस्या मायाया आश्रयस्तु शुद्धं ह्मैव, न तु जीवः। उक्तं च संक्षेपशारीरके—

आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला।
पूर्वसिद्ध तमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापिगोचरः॥

समष्ट्युपहितं चैतन्यमीश्वरः, व्यष्ट्युपहितं चैतन्यं प्राज्ञो जीव इति चोच्यते। उक्तं च—

कार्यो पाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः।

मायापि प्रतिबिम्बभूतेजीवे एवं संसारं जनयति, न तु बिम्बभूते ब्रह्मणि, उपाधेः प्रतिबिम्ब पक्षपातित्वात्। उक्तं च लघुचन्द्रिकायाम्—यथा मलिन दर्पणो मालिन्यं स्वान्तर्गतं प्रतिबिम्बे एव जनयति, न तु बिम्बे; तथाऽविद्यापि जीवं प्रत्येवावृणोति, आवरण प्रयुक्तं मनआदिकार्यं च जीव एव जनयतीति भावः। इयं च माया स्वभासकचैतन्यं स्वप्रकाशरूपमन्तरेण न प्रकाशते, अतः परतंत्रा। असङ्गं नित्यं शुद्धं चिदात्मानमन्यथा करोति, अतः स्वतंत्रापि। उक्तं च पञ्चदश्याम्—

अस्वतन्त्रा हि माया सा अप्रतीतेर्विना चितिम्।
स्वतन्त्रापि तथैव स्यादसङ्गस्यान्यथा कृतेः॥

एवं माया-स्वरूपं सुरेश्वराचार्यैरपि मानसोल्लासे वर्णितम्, तथाहि—

युक्तिहीन प्रकाशस्य संज्ञा मायेति कथ्यते।
नासती दृश्यमाना सा बाध्यमाना न वासती।
न प्रकाशादियं भिन्ना छायेवार्कस्य तामसी।
न चाभिन्ना जडत्वेन विरोधान्नोभयात्मिका॥
स्वहेत्वयवाभावाद् नेयं सावयवोच्यते।
न चावयवहीना सा कार्येस्वयवान्विता॥
अविचारितसिद्धेयं माया वेश्या विलासिनी।
पुरुषं वञ्चयत्येव मिथाभूतैः स्वविभ्रमैः॥

बौद्ध दर्शनेऽविद्यामायाशक्ति वासनाशब्दैर्विज्ञानस्य विविधाकार प्रकाशन शक्तेर्वर्णनमायाति, तच्च वर्णितं वस्त्वनादिभावरूपञ्च। कुत्रचिद् वैष्णवदर्शने मायाशब्देनेश्वरेच्छाऽपि व्यवहृता, सा च नित्या भावरूपा चेति स्फुटमेव। तयाचेच्छया मिथ्यावस्तुनोऽपि सर्जनमायात्येव, किन्तु माया मुक्तौ नानुवर्तते, भगवदिच्छा तु सर्वं मायाकार्यं सम्पादयन्ती सनातनीति विशेषः। प्रत्यभिज्ञादर्शनस्यापि माया इत्थं वर्ण्यते—"कलादीनां तत्वा नामविवेको माया" इति शिवसूत्राभिमतम्। सांख्यदर्शने मायाया विक्षेपशक्ति प्रयुक्तं कार्यं स्वतन्त्रं प्रधानं

निर्वर्तयति, विवेकख्यातौ तत्वसाक्षात्कारे माया निवर्तते । प्रधानस्य त्वौदासीन्यमात्रम्, आवरणशक्तिस्तु तमोगुण एव । वेदान्त विरोधमनीहमानोऽपि श्री नागोजिभट्टमहोदयो वैयाकरण सिद्धान्त लघुमञ्जूषायां बौद्धार्थ निरूपणेऽनादि परम्परायाा प्रचलन्ती मिथ्याज्ञान तद्वासनारूपा माया अविद्या वेति सिद्धान्तीचकार ।

श्वेताश्वतरोपनिषदि "ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्म शक्ति स्वगुणैर्निरूढाम्" इत्यत्र व्याख्यान भेदेन शक्तिपदेन गुणपदेन चैषा माया निर्दिश्यते । माया विशिष्टे विश्वसृष्टि कर्तृत्वं जीवानां मायावशगत्वम् । प्रकृति शब्देन सृष्टिक्रियाया मायाद्वारेण ब्रह्मण्यध्यस्तत्वम् मायाया अवयवा मायिनि अध्यस्ताः । अतः सर्वं जगद् मायिनो ऽवयवभूतम्, तेन च महेश्वरस्या न्तर्यामित्वं वर्णितम् ।

एषा मायैव विद्याविरोधित्वेनाविद्याशब्देन काठकोपनिषदि वर्णिता—

दूरमेते विपरीते विसूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता ।
विद्याऽभीप्सिनं नचिकेतसं मन्येनत्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त ॥
अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयंधीराः पण्डितं मन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥

"महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः" इत्यत्रापि अव्यक्त शब्देन निर्दिष्टा । लिंगपुराणेऽज्ञानशब्देनोल्लेखः—

तस्मादक्षानमूलो हि संसारः सर्वदेहिनाम् ।
परतन्त्रे स्वतन्त्रे च भिदामावाद्विचारतः ॥

"मायामात्रं तु कात्स्न्र्येनानभिव्यक्त स्वरूपत्वात्" इति ब्रह्मसूत्रे पूर्णतयाऽभिव्यक्ति-विरोधित्वमस्याः । गौऽपादकारिकायां भूयसाऽस्याः कीर्तनम्—"संघाताः स्वप्नवत्सर्वे आत्मा-मायाविसर्जिताः" अत्र आत्मनो मायाऽविद्या, ततश्च नानासृष्टिरित्यर्थः । "कल्पयत्यात्मना त्मान मात्मादेवः स्वमायया" अत्रैकस्मिन्नधिष्ठानेऽनेक कल्पनाया माया करणमुक्तम् । "स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा" अत्र मिथ्यावस्तु मायाऽर्थः । "जन्ममायोपमं तेषां सा च माया न विद्यते ।" अत्र मायायाः सद्भिन्नत्वं वर्णितम् । अन्या चैतच्चर्चाऽद्वैतसिद्धित-ट्टीकादिषु प्रपञ्चितेत्यवसीयते—

महामाये मातः सकल गुणकाये चितिरते,
निकाये ब्रह्माख्ये गतिविविधदाये परिगते ।
गतच्छाये जीवे वितर दययेशे सुनयने,
नयेनासीना त्वं सरसविटपे दर्शनवने ॥

———

GEORGE HERBERT AND POETIC LANGUAGE

VISHNUDEO PRASAD

Department of English, B. N. College,
Patna University

The language of poetry, in order to have great or genuine poetic beauty, must be rooted in the speech of the time ; it must also be rooted in the stuff of a fine sensibility. The sap of living speech, on entering into poetic language, rescues it from its stage of deadness and decadence. A poet's fidelity to his emotional and intellectual experience is also an absolute necessity, if the poet does not want to reduce his language to a mere fine maze of poetic words. A unified sensibility, rather than a dissociated sensibility, gives poetic language its nervous and muscular strength ; whereas a crude sensibility seeking to express a crude thought or a crude feeling in a fine poetic language degrades both poetry and poetic idiom. Then, again, an immature imagination that does not know how to concretize or objectify an experience and to unify and integrate the varied strands of experience leads only to the disintegration of poetic language. Also, only such language as is impregnated with the emotional meaning of some permanent human impulse, never becomes merely self-regarding, self-conscious or self-exulting. George Herbert as a poet is such as has used English language in none of its bad or impoverished form, but in that fine tradition that belongs to the most mature variety of English poetry.

Such a poetic idiom as does not draw its sustenance from the living speech of the time becomes rootless and shrivelled ; so often it hardens into a mere heap of poetical artificialities. Words used in such a conventional and poetical language are generally sapless and colourless, they are without 'body' and deindividualized ; because the stream of sensations flowing through the emotional and sensory texture of actual living ceases to pour itself into the body of those words, Therefore,

a poet of genius in every age forges his language on the anvil of the changed speech and sensibility of his time. In this lies his originality. He never makes the mistake of fitting a changed sensibility to an out-dated poetic idiom. Only mediocre or second-rate poets of a generation do this thing, because they have not the sensitiveness and consciousness to perceive that their feelings have altered and so they must use words differently. This is why they cannot grasp the full significance of the rhythms of living speech for the purpose of writing their poetry.

Shakespeare, in his own time, had the clairvoyance and genius to grasp the tremendous significance of the rhythms of living speech. By using the rhythms of living speech in his poetry, he, in fact, revolutionized the entire pattern of English blank verse, and turned it into a powerful instrument of poetic and dramatic expression. He discarded the Spenserian language of poetry and the language of the conventional sonneteers. The poetry of 'To be or not to be' passage in *Hamlet* or the monumental poetry of *Macbeth* or of other great and mature tragedies of his would have been impossible of achievement, if he had not used that great power of the language which resides in the rhythms of living speech. The language of Donne's poetry also derives its strength from the rhythms of living speech. The infusion by him of 'a tone of direct informal address' or of 'a learned but colloquial dialogue speech' in his poetry fills his poetry with that vitality and buoyancy that belong to life itself. Similarly, the muscular strength of the language of Hopkins and his originality in using it arise from the fact that the poet brings his poetry close to living speech. We must not fail to recognize the fact that current idiom, in his case, as in the case of Shakespeare, is the presiding spirit of his poetic language, even thought, like Shakespeare, he too departs so widely from current idiom. Even the strength of the poetic idiom of Dryden and Pope is derived from the fact that both Dryden and Pope made use of the stuff of speech current in their own times—Dryden used the

speech of the political oratory of his time, whereas Pope used 'the speech of 'the most polished drawing-room manner' of his own time. But poets like Spenser and Milton uprooted the language of poetry from the soil of living speech and put it on the high pedestal of a set or consciously-patterned poetic diction. And the result was disastrous for the language of poetry. Spenser's language, inspite of all its colour and artistry turns into a mere exercise in verbal paintings ; the use of imagery in him becomes predominantly visual and decorative, and no object is sharply forced upon our consciousness ; and his words do not pulsate with the life of sensations ; whereas Milton's language, inspite of its massive music, turns into an exercise in magniloquence and poetic stylization. Unlike these poets, Herbert who was, like Shakespeare and Donne, deeply conscious of the supreme a need of keeping poetic idiom close to the rhythms of living speech, made use of plain words taken from ordinary speech, and imparted to them remarkable dignity and elegance. That is why his lines from

Conscience :

Peace pratler, do not lower :
Not a fair look, but thou dost call it foul :
Not a sweet dish, but thou dost call it sowre :
Musick to thee doth howl.
By listning to thy chatting fears
I have both lost mine eyes and eares.

or, his lines from *The Discharge* :

Busie enquiring heart, what wouldst thou know ?
Why dost thou prie,
And turn, and leer, and with a licorous eye
Look high and low
And in thy lookings stretch and grow ?

have such a colloquial ring, such a muscular force and such a disturbing immediacy. In this magnificant use of the power of living speech in his poetry, George Herbert is close to such poets as Shakespeare, Donne, and their like.

George Herbert has, moreover, informed the language of his poetry with that force which is born out of a poet's fidelity to his thought and feeling. An immature poet or a Romantic poet, or a Pre-Raphaelite poet may get so enamoured of the enchantment of his feelings or words, that he may ignore, in terms of language, the supreme need of remaining faithfully close to his thought and feeling. An immature and Romantic Shelley might simply soar on the dazzling wings of vague words and vague images, without caring to fill them with an equivalent content of clear thought or concrete feeling; or, even an immature Keats might release a spate of lovely words and sensuous images (prior to the stage of his mature Odes or the second *Hyperion*) and leave those words and images unfilled by an equivalent emotional experience. Or, again a D. G. Rossetti or a Swinburne might create a hazy world of colourful but empty images, or merely a world of empty music of vaporous words. But the Shakespeare of mature tragedies, or the metaphysical poets like Donne and Marvell or poets like Hopkins and Eliot never allow their language to run ahead of their thoughts and feelings. On the contrary, they bend or force the language of poetry to the complex pattern of their thoughts and feelings. The result is that the entire sinuous movement of their states of mind and feeling gets reflected in the complex structure of their words. The complex pattern of words and images in Shakespeare's mature poetry only reflects so faithfully the complex pattern of his feelings. Similarly, Donne's infusion of metaphysical subtelty and wit in his Love Poems or Divine Poems, or Marvell's infusion of levity and seriousness in a poem like *To His Coy Mistress* is nothing but an honest attempt on their part to weave faithfully into the texture of their language all the threads of their varied feelings and attitudes. There is a critical inspection by them of their own emotional experience. George Herbert also, as a poet, does the same thing. Inspite of all the simplicity and purity of Herbert's languge, the structure of his sentences is not simple. That is so, because he uses his poetic language as

a faithful instrument for disentangling all the sinvolved threads of his complex personality. Such an absolute sincerity and such an unflinching honesty in trying to unravel oneself that we get in Herbert is something quite unique in a poet.

This rare quality of terrifying honesty is to be found, on deeper creative levels, in all great poets. It is to be found, at certain points. in Aeschylus ; it is to be found in Dante ; and, as already pointed, out, it is to be found in Shakespeare. We get it in Blake as well. It is this which supplies the backbone of rare strength to their poetic style, as it does, in its own way, to that of Herbert's. And since this terrifying honesty exists in the midst of George Herbert's great technical accomplishment, it blossoms into fine poetry. And thus it is this absolute fidelity of the poet to his emotional and intellectual experience which gives to his poetic idiom such a unique strength.

His unified sensibility gives to his poetic idiom another major source of strength. Even when he is in the thores of conflicting thoughts, he does not abandon himself to mere dry thinkings. He feels his thoughts 'as immediagely as the odour of a rose.' In other words, his intellect is 'immediately at the tips of the senses.' 'Sensation' becomes 'word' for him and 'word' is 'sensation' to him. That is, in him thought and feeling get fused in a new mode of apprehension. His words, therefore, possess a high potency, and release and control a complex pattern of response. His words show great subtlety in particular presentment ; they never contemplate a general emotion, but they always objectify a particular experience. In this, once again, he is like Donne, Marvell or Bishop King, or like Chapman, Middleton and Webster. Lines like the following in his monumental poem *Affliction* :

Now I am here, what thou wilt do with me
None of my books will show :
I read, and sigh, and wish I were a tree ;
For sure then I should grow
To fruit or shade ; at least some bird would trust
Her household to me and I should be just.

or, lines like the following in *The Collar* :

I struck the board, and cry'd, No more.
I will abroad.
What ? shall I ever sigh and pine ?
My lines and life are free ; free as the rode, ——
Loose as the winde, as large as store............
But as I rav'd and grew more fierce and wilde
At every word,
Me thoughts I heard one calling, Child ;
And I reply'd, My Lord.

are amply illustrative of his capacity for feeling his thought with disturbing immediacy. A thought would turn for him either into an emotional experience, or it would get soaked into a world of senses. But when a major poet like Milton dwells merely in a world of words, and not in a world of senses, or when a poet like Browning uses merely the dry bones of thoughts, and cannot inform his thoughts with feelings, or when a poet like Tennyson simply embroiders his smug thoughts with the veneer of lovely-looking words, the damage both to poetry and poetic idiom is very serious indeed. The sensuous poverty of thepoetry of Milton turns his language either into a grand edifice of poetic stylization, or into a grand musical reverberation of words, a point which has already been noted ; the emotional poverty of the poetic thinkings of Browning reduces his poetic style to a sapless and clogged affair ; whereas in the case of Tennyson, the poetic style turns into a fine exercise in verbal ornamentation and verbal orchestration ; there is no pressure of experience behind his style. Unlike these, George Herbert's poetic style which has been forged in the workshop of a unified sensibility is engaged in an important poetic function, namely, the function of creating 'new ways of thinking and feeling.' It is a function that the language of all great or significant poets performs. It is not like the poetic language of Massinger, which, inspite of its being 'choice and correct', seems to be leading us away from the world of feeling. It is not like the

poetic language of Ford, Beaumont, Fletcher or Shirley, which, in the absence of any emotional pattern behind it, appears to be getting bogged in a quagmire of superficies and purposelessness. The poetic language of Herbert, on the other hand, has behind it the pressure of an intense personal emotional struggle. So his poetic language gets charged with a vital significance, because only such poetic language can be said to have achieved a vital significance or a vital development as has resulted from 'a development of feeling.'

A great advantage accured to Herbert's poetic style also on account of the fact that he was a product of the first half of the seventeenth century civilization. By reason of his being such a product, he did not belong to one social class alone. In other words, he was 'an aristocrat by birth' and was 'related to some of the more prominent figures at court', but, at the same time, he had 'an ingrained senseof common English life.' So, there is a fine blend of aristroacatic and courtly culture and of a rooted traditional English culture in the web of his poetic style. His metaphysical subtlety and his capacity for making intellectual analysis further enrich this web. All this means that his was not a crude sensibility, which, while creating poetry, loves to allow in a crude thought or a crude feeling. Much of the badness or sentimentality in poetry results from a poet's attempt to dress up a crude thought or a crude feeling in the clothes of a refined language. The poetry of Gray and Collins betrays such an attempt to clothe a crude sensibility in a refined language. The crudeness of Browning's sensibility leads only to endless involutions and contortions of his language, whereas all the polish and glaze of Tennyson's style cannot hide his crude sensibility. A crude matter can never fit into a fine language. Poetic sensibility and poetic idiom must cohere and fuse. Poetic language must never outstrip the matter sought to be expressed, nor must an out-moded poetic idiom be fitted to a changed sensibility, nor, again, must the refinement in language alone continue, without

the poet's using that refinement in language as an instrument for exploring the tangled world of human soul and psychology. Racine and Baudelaire in French literature put their refined language to the use of such an exploring of human a soul and psychology, not so did Dryden or Milton in English poetry. George Herbert also, inspite of the limited range of his experience, was using his language for exploring his tangled soul and his tangled psychology. In other words, there is perfect equivalence between the stuff of his expression and the stuff of his experience. The bad poets of the eighteenth century in trying to cover their poor or crude matter with the borrowed plumes of Milton's or Pope's language are guilty of failing to find such an equivalence or of failing to make the form of language match the matter. So they write an ugly variety of sentimental poetry, and, the degradation of their poetic idiom is irreparable. But as regards Herbert, he, even while he is writing his most intimate poetry born out of his personal life, never falls into any kind of sentimentality or into any kind of over-insistence. He maintains perfect rightness of tone in his expression, and puts the curb of a fine restraint upon the storm of his turbulent feelings. All these could be possible because he had a refined sensibility.

He has further imparted the strength of maturity to his language by injecting into it a mature imagination. The use, in his poetic language, of homely images, of concerete and clear images, of images that fuse with the ideas, of images that are not over-developed or that do not distract, or that are not ridiculous, is but one indication of his mature poetic style. As a poet who is deeply aware of all the resources of English language, he can realize an allegory also completely in terms of the actual, as is found in *The Pilgrimage*, or, he can impart to natural objects a rich symbolic meaning, as is found in poems like *Vertue* and *Life*. The rose in *Vertue* is a real rose as well as a symbol of life rooted in death. But more than these, there are other more powerful signs in him of a a mature imagi-

nation operating through a mature mind upon a mature poetic style. Being an integrated personality, his imagination can both resolve and integrate his conflicting attitudes towards life. That is why his attitude of graceful acceptance of the Will of God wins over his attitude of rebelliousness and frustration. There, again, his sense of a blossoming life is as intensely realized by him, as is his sense of suffering in life realized. Lines like the following in *The Flower* so eloquently illustrate this point :

And now in age I bud again,
After so many deaths I live and write :
I once more smell the dew and rain,
And relish versing : O my onely light,
It cannot be
That I am be
On whom thy tempests fell all night.

Thus, the positive movement of his inner life towards the world of light balances its negative movement into a world of tempestuous darkness. There is such a fine reconcilement of opposites in his poetry. His 'personal and private agonies' have, moreover, crystallized through his imagination into 'something universal and impersonal' ; because we find that his poems, like a mirror, reflect the soul-shaking conflict of all such sensitive human beings as seek to overcome the dazzling attractions of the great world, in order to reach towards or achieve the bliss of spiritual poise. And, then, on the top of it all, Herbert keeps his 'judgement ever awake' and maintains 'steady self-possession' in the midst of his most turbulent feelings. His critical faculty is never switched off, nor, is his feeling for art ever eclipsed. His conspicuous craftsmanship, in the midst of his 'profound or vehement' feeling only testifies to his rigorous emotional and artistic discipline. His technique never functions in vaccum ; it is always 'the servant of an inner impulse.' All these elements of his mature imagination impart to his poetic style the strength of an organic unity. That is why there is such a perfect orchestration of music, of emotional meaning, and

of rhythms of living speech in his poetry. In the poetic style of Swinburne, the music of verse evaporates because of the absence of any clear intellectual meaning or any clear object behind it. In the poetic style of Shelley, the vapour of wordy emotionality or of emotional generality keeps conticually spreading, because there is not, behind it, the sharp particularity of any clear object or any well-realized feeling ; whereas in the case of Milton's poetic style, words appear to be sitting on a high perch and are afraid of slipping to the level of living speech. Consequently, in none of them, there is this kind of orchestration of music, meaning and living speech. Only the mature poetic style of a Shakespeare or of a Donne can be capable of such an orchestration, and not the poetic style of a Swinburne or of a Shelley or of a Milton. Such a poet alone who is capable of objectifying an emotional or an intellectual experience, and of realizing it in terms of controlled emotion and concrete imagination, and who, at the same time, is capable of nourishing the roots of his languge in the sub soil of living speech, can give us a mature poetic style. Such a poet was George Herbert.

So, we find that the kind of poetic language that Herbert has used and the way or ways in which he has used it, and the kind of sensibility and the kind of imagination which have gone into its making, put him in line with some of the most mature creators of poetic style. In fact, all these take him beyond the world of his narrow Christian beliefs, and place him in the main current of that great tradition of English poets, who, like Shakespeare, Donne, Hopkins, the later Yeats, and Eliot, have used English language in a pregnant way, and have, in their own way or ways, enlarged and strengthened the texture of genuine and mature poetic style.

SOCIAL ENVIRONMENT AND MENTAL DISEASES

SURYA NATH PRASAD

Human society is basically organised in terms of the functions necessary to satisfy the needs of men and women. Humanity must build upon its past in order to meet present demands and at the same time prepare the way for future generations to come. Hence all major social institutions tend to group about the major functions which serve to gratify the fundamental human needs to express and channelize the dominant drives of human nature. But "the certain states of social structure and normative conditions of society induce certain types of mental aberrations. There is growing awareness in sociological theories about the stresses and strains inherent in the social structures causing deviant-behaviours."[1] A man who harms others by doing anti-social behaviours and punished by the society is called criminal. A man who harms himself after doing immoral acts and punished by himself is called mental patient. Really one has introverted personality and other has extroverted personality. Both personalities are made in the socio-cultural environment, it means that personalities (normal and abnormal) are the product of environment.

When we see the aetiology of mental illness, we find the main four factors which are caused the mental ailments. They are

Hereditory
↓
Constitutional
↓
Environmental or Sociogenic influences of a chronic type (influencing alrady longer than 6 months).
↓
Environmental or Sociogenic influences of an actuate type (influencing shorter than 6 months)
↓
Organic

---
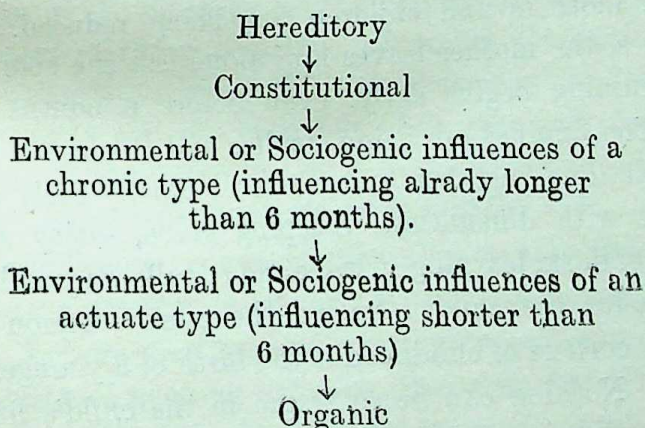
[1] Prasad, Surya Nath, "Social conditioning of Mental Illness", Sachitra Ayurveda, Sri Baidyanath Ayurveda Bhavan Private Ltd., 1. Gupta Lane, Calcutta—6, Jan. 1969, page 401—402.

However, all men are the product of environment. It is true that hereditary factor has also importance in the producing of mental illness but if the individual having hereditary factors gets better environment he can never be a mental patient and if he without having any hereditary factors does not get better environment he may become mental patient due to continuous stresses and strains and sudden shock. After all mental ailments have the predisposing factors which produce the complexes and precipitating factors which produce actual breakdown. In this way we can say boldly no mental ailment (disease) is an accident. The case histories of men and women who suffer from mental illness indicate that almost every mental disease has some antecedent history of premonitory anxieties and failures.

The life of the some individuals becomes critical since very first day of existence of child is born with organic defects that immediately unfit it for the world. Some times the critical situation lies in the mistaken emotional attitudes of illegitimate parents. An unwanted child is actually born into a critical situation. An almost universal critical situation develops when child is weaned from its mother's breast and compelled to eat independently. The infants are being placed on a chronological schedule violating bodily rythms, bodily contacts between mothers and children are being reduced. When a child cries, the mother leaves him alone lest she spoil him and bowel training begins early, even before 6 nonths in some cases. The families are being smaller and chance for play with siblings at home are being decreased. Really early childhood is replete with difficulties. Sleeping alone, eating alone, the conquest of dark, learning to walk and to talk, may all be critical situations for the child. Among the more common of these dangerous corners of childhood is the birth of a younger brother or sister. Nothing can be so tragic in the child's life as the experience of being dethroned by a weak and unwelcome little usurper of its mother's love. This is one of the reasons we find so many mental illnesses in eldest children. Severe illness

or death of a parent, is also frequently the signal for the appearance of a childhood mental illness.

We do not call the behaviour of a child who has temper tantrums when she has been weaved a true mental disease, but, psychologically, it is equivalent to this same child's fit of hysterics twenty or twenty-five years later when the problems of marriage threaten her secutity in the immediate future. A mental disease rarely an isolated phenomenon. It is the product of a long process of unconscious training than has usually began before the child's sixth years of age. Arnold Green has named this 'personality absorption'.

The commonest critical situation of childhood is the experience of going to School. During the school period the critical situations of puberty are often superimposed on the social and occupational adjustments of earlier school days. For many girls, the beginning of mensuration, for many boys, the changing of the voice, the first growth of the beard, and the appearance of secondary sexual characteristics, mark the end of a happily childhood and the beginning of the first frustrations of mature life.

After passing the school period, critical situations come thick and fast. For many young men the transition from the protective atmosphere of school or university to the harsher competition of the business, service and social world is in itself a critical test of the personality. Entrance into the world of economic competition is one of the commonest critical situations. Sexual maturity and the necessity of an adequate adjustment to members of the opposite sex is marriage, pregnancy, child-birth, fatherhood—all these are critical situations.

In middle-age economic insecurity or the prospect of a lost of sexual, virility, is frequently the occasion for a mental ailment. Leisure may become a critical problem at this time. The necessity of meeting old difficulties with lessened physical vigour and ability may signalise the onset of mental illness.

In this period the recognition of the hopelessness of childhood ambitions is also likely to occur. Children who go

wrong or fail to come up to their parents' expectations may be the occasion of a personality dissaster in their parents.The prospect depenence, the fear of growing old, and ever present fear of death are other critical declaration of bankruptcy. At all times, the loss of a mate or child or a long-held position, economic reverses, social tragedies, scandal, or severe disease may produce mental ailments.

Now we shall see how Indian culture effects mental ailments. Indian culture is in transition and another more modernized culture is entering in our traditional culture. Here, individual is socialized in the traditional culture but he has to act according to the expectation of modern culture otherwise he is seemed to be uncivilized and uncultured by modern men, on the other hand he is condemned by traditional men for his acts. This is the state of conflict for an Indian man and he blames for his acts comparing to traditional socio-cultural morals. This tendency of self-blame creates mental or psychosomatic illness. Thus, society forces the individuals to be a mental patient. If a society is unhealthy then how we can expect to the individuals about their healthiness ; it means our culture is being sick. According to the estimates of an expert committee appointed by Union Government of India under the chairmanship of Dr. A. Laxman Swami Mudaliar the ratio of mental patients in India is not less than 2 : 1000 of population. It means that about a million persons require hospitalization. However, this number does not include mental defectives and epileptics who are average about 1 in 200 population.[1] These are only recorded patients but we know more are unrecorded who are suffering from mental illness. No country has a really complete record of mental disorders among its population. Census of mental patients in mental hospitals or out-patient clinics are worthless.

Not only our Indian culture but whole cultures of all the societies of the world have now become sick. The mental

[1] 'Leader' Allahabad, Dec. 5, 1965 ; Vol. CCXXVI No. 20172.

hygiene expert Lawrence K. Frank, in his book "Society as the Patient", refers to the American culture as being "sick", mentally disordered and in need of treatment.[1] Read Bain, a Sociologist, speaks of 'Our Schizoid Culture'.[2] He regards the irrational and contradictory norms of Americans as "neurotic and psychotic societal behaviour". Emile Durkheim's analysis of suicide statistics shows that there is support for a theory that social cohesion can provide psychic support to individuals who undergo severe personal trauma and that suicide rates are a function of anomie—the absence of such social support.[3] R. K. Merton has proposed a more general theoretical formulation to explain how the social structure of a group experts pressure upon individuals to become conformists or innovators if they accept the normative cultural goals, or to show their rejection of these goals through ritualistic, retreatists, or rebellions behaviour.[4] The theoretical approaches which all claim that culture and social relationships are dynamic (or causal) factors in producing socially deviant or mentally disordered individuals.

Really, illness is a state of disturbance in normal functioning of the total human individual, including both the state of the organism as a biological system and of his personal and social adjustments. Many psychosomatic diseases which are influenced by social and cultural environment. For example, mental impotancy in men or frigidity in women from which the men or women suffer after failure in sexual contact with women or men. It is due to conflict between morality and immorality at the time of incest attempt. The impotent man and the frigid

---

2 Frank Lawrence K, Society as the Patient, New Brunswick, Rutgers University Press, 1949, p. 2.

2 Bain Read, "Our Schizoid Culture", Sociology and Social Research, Jan-. Feb. 1935, 19 : p. 266.

3 Durkheim Emile, Suicide—A Study in Sociology (translated from the French by John A. Spaulding and George Simpson), Free Press, Glencoe, 1961.

4 Merton Robert K., Social Theory and Social Structure, Free Press, Glencoe, 1949. See specially Chapter IV, "Social Structure and Anomie."

woman have one essential thing in common. They are both afraid. Indeed, it is usually fear which underlies their failure, and inhibits erection in the male, and a relaxed pelvic floor and patulous vagina in the female, while in every instance failure increases their guilt, despair, and further anxiety. This disease is caused fully due to condemnation for his immoral acts or failure in sexual contact due to some physical weakness. Another example mysophobia (fear of dirty things, washing hands) with obsessive-compulsive neurosis from which men and women suffer due to excessive masterbation and excessive condemnation for his acts judging it immoral. Obessional neurosis is due to too much control on sex. Not all but the man who is brought up in the religious family condemns for his acts and develops this type of disease. Here condemnation due to religious environment of family which has mae this type of personality of the individual. This religious environment of the family interferes in natural sexual development of the individual and due to this, most of our young men are being misguided and at last they become mental patient. So, our present attitude toward sex must be a realist one. The importance of sex enlightenment a necessary step toward successfully changing the increasing incidence of sexual maladjustment is aptly expressed by a Sociologist Robert Mac Iver.

"We should not be afraid on the truth about human behaviour. Knowledge of the facts would not cause immorality but it will remove false fears and unwise expectations. It will show what are true danger and what are imaginary one. We all agree that unenlightened guidance is bad where physical health is concerned. We must learn that it is no less bad when mental health is the issue. Only through knowledge of the facts we can deal intelligently with the serious problems of personality that arise in the area of sexual relations.

Our public assumptions are a morass of misdirections. We treat homo-sexuality as a crime, though itself it is no more criminal than an endocrine imbalance. We attach the ideas of abnormality or wickedness to manifestations of the sex drive

in the young that are profoundly natural. We associate their interests in sex with notions of unwholesomeness or 'uncleanness' that totally misrepresent the situation. We cannot give the direction here until we first acquire knowledge."[1]

It is inevitable that science of a sane sex life will be accepted by society as a major factor in achievement of better living. Like atomic energy, sex is a force which can be used to destroy soceity or to improve it. Really, most of the psycho-neurotic and psychosomatic ailments are due to sexual deviation and condemnation by individuals for their acts comparing with the morals of the sciety.

Here, abnormality (mental ailment) means deviation from a norm or standard, whereas ailment signifies a lack of vital ease. The deviant is defined by what it deviates from. Professor Parsons (1951)[2] subsumes emotional ailment as a special subtype under social deviance, interpreting it as one channel of expression for social discontent and alienation. In this view, motivated illness is functionally equivalent with crime, political rebellion, religious sectarianism. All of these are expressions of stresses and strains within the social system, and constitute a challenge to its dominant values. But there is this difference : deviance of the neurotic and psychotic is abetted by society as long as remains with in the confines of the (socially defined) "sick role". The psychiatric patient is that interesting curiosity, an officially sanctioned dissenter, but one whose challenge is attenuated by surrounding him as irresponsible, that is, as being in the grip of a 'condition' for which he needs help. By these means his sickness is largely divested of its element of social protest.

One can go with Parsons' premise that motivated illness is a suborder of social deviance without accepting his corrollary

---

[1] Mac Iver Robert M. Ph.D.—"Sex and the Social Attitudes" New American Library, N.Y. 1948—"About the Kinsey Report."

[2] Parsons Talcott. The Social System from Stern Paul J. The Abnormal Person and His World, D. Van Nostrand Company, INC. Princeton, New Jersey New York, London.

that "the apparent increase in chronic and mental illness in our society may constitute a diversion of tendencies to a deviation from other channels of expression into the role of illness, with consequences less dangerous to society than other alternatives might be." (This corrolary itself is based on an unproven premise, namely, that the incidence of mental illness has in fact increased in recent times in our society.).

In the end we can say boldly that the rates of mental illness can be reduced by modifying the social and cultural environment through fhe application of socioloical knowledge in the society. In the other words, if we want to change the individual or to cure the patient, at first, we should change the environment. Here, Parsons thesis can be extended to psychotherapy means that the therapists are primarily an agent of social control whose job is to reintegrate the patient into society. In order to do so, he has to be granted certain previleges and immunities. He must be allowed to enter temporarily alliances with his patients and to suspend for a whole some of basic tenets of his society.

References :

1 Herbert Goldhamer and Andrew W. Marshall, Psychosis and Civilization (Glencoe, I 11., Free Press, 1953).

2 Carney Landis and James D. Page, Modern Society and Mental Disease (New York : Farrar and Rinehart, Inc., 1939), p. 25.

3 For a recent review and evaluation of this approach see : Ernest M. Gruenberg, "The Epidemiology of Mental Disease", Scientific American Vol. 190, No. 3 (March, 1954) p. 38-42.

4 Lawrence K. Frank, Society as the Patient (New Brunswick : Rutgers University Press, 1949), p. 1.

5 Read Bain, "Our Schizoid Culture", Sociology and Social Research, Vol. 19 (Jan.—Feb., 1935), 266.

6 Emile Durkheim, Suicide : A Study in Sociology, translated from the French by John A. Spaulding and George Simpson (Glencoe, I 11. : Free Press, 1951).

7 Robert K. Merton, Social Theory and Social Structure (Glencoe, I 11. : Free Press, 1949). See especially Chapter IV, "Social Structure and Anomie."

8 Ralph Linton, The Cultural Background of Personality (New York Appleton Century Co., 1945) ; S. Stansfeld Sargent and Marion W. Smith, eds., Culture and Personality (New York : Viking Fund, 1949).

9 S. Kirson Weinberg, Society and Personality Disorders (New York, Prentice Hall, 1952), pp. 228—232, 255—258.

10 Joseph W. Eton and Robert J. Weil, "Psychotherapeutic Principles in Social Research—an interdisciplinary study of the Hutterites," Psychiatry, Vol. 14, No. 4 (Nov., 1951), Josph W. Eaton, "Social Processes of Professional Teamwork, " American Sociological Review, Vol., 16 No. 5 (October, 1951).

11 Surya Nath Prasad, "Social Conditioning of Mental Illness", Sachitra Ayurveda, Calcutta—16, January, 1969, pp. 401—402.

कबीर-पंथ की भगताही शाखा

विनोदकुमार सिंह

कबीर की मृत्यु के पश्चात् उनके नाम पर जो पंथ कायम हुआ, उसकी प्रमुख चार-पाँच शाखाओं में भगताही शाखा का प्रचार-प्रसार सर्वाधिक है। भगताही शाखा की स्थापना संत कबीर के शिष्य कहे जाने वाले संत भगवान् गोस्वामी ने की थी।

सिद्धांत

सैद्धान्तिक दृष्टि से कबीर-पंथ और भगताही शाखा में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। ब्रह्म, जीव, जगत्, माया, मोक्ष आदि के संबंध में कबीर जैसे विचार ही इस शाखा के भी हैं।[१] केवल रीति-रस्म तथा पूजा-विधि में अन्य कबीरपंथी मतों से इस शाखा का ईषत् भेद है।

साधना

अन्य कबीरपंथी संत जहाँ परम तत्त्व की उपलब्धि के तीनों शास्त्र सम्मत साधनों– योग[२], ज्ञान और भक्ति पर समान बल देते हैं, वहाँ भगताही संत ज्ञान और भक्ति इन्हीं दो साधनों और इनमें भी भक्ति पर विशेष बल देते हैं। साधु हरिशरण गोस्वामी ने अपने ग्रंथ 'भक्ति पुष्पाञ्जलि' में इसी तथ्य को बड़े सुस्पष्ट रूप में अभिव्यक्त किया है :

अस्त्येतद्विदितं हि वेद विदुषां सद्धर्मनिष्ठावताम्।
मुक्तिर्नैव भवेच्छतो पकरणैर्ज्ञानं विना स्वात्मनः ॥
तज्ज्ञानं मनसो जयेन यमिनां निष्काम भक्त्या यतः।
तस्मात् बन्ध मुमुक्षवो विदधते भक्ति कलौ केवलाम् ॥[३]

---

१ संक्षेप में इस शाखा की सैद्धान्तिक मान्यताएँ ये हैं :

(क) परमात्म-तत्त्व और आत्म-तत्त्व पूर्णतः अभिन्न एवं अद्वैत हैं।

(ख) त्रिगुणात्मक प्रकृति से विकसित भौतिक जगत् भी परमात्म-तत्त्व से अभिन्न है।

(ग) ब्रह्म, जीव और जगत् के त्रिधाभेद का आभास माया किंवा अविद्या के कारण है।

(घ) परमात्मा त्रिगुणातीत अथवा निर्गुण ह।

(ङ) अद्वैत में द्वैत के अध्यास को समाप्त किये बिना परम गति संभव नहीं।

(च) जीव का चरम लक्ष्य 'पीव' में मिल जाना है।

२ नारायण गोस्वामी ने अपने 'भक्ति रत्नावली' नामक ग्रंथ में भक्ति को 'सुयोग' और हठयोगादि को 'कुयोग' की संज्ञा दी है :—

खेचरी भोचरी उनमुनी मुद्रा साध प्रवीन।
भक्ति सुयोग न साध किये भये कुयोगाधीन॥

३ भक्ति पुष्पाञ्जलि, पृ० ५ श्लोक १।

संत नारायण गोस्वामी ने भक्ति की साधना के बिना मुक्ति की कामना करने वाले को चन्द्र-सूर्य को उनकी किरणों को पकड़कर खींचने की मूर्खता करने वाला कहा है :

भक्ति विहीन विमुक्ति पद आस होत डर जाहिं ।
रवि ससि किरण समेट कर खैंचन चाहत ताहि ॥[१]

भक्ति के बिना परम सुख की प्राप्ति असंभव है ।[२] भक्त को संसार में किसी साधना की आवश्यकता नहीं ।[३] हरि से विमुख करने वाले लोभ, मोह, मद, क्रोध, शोक, संदेह आदि माया के दूतों का भक्ति सहज ही निवारण कर देती है ।[४] भक्ति का यत्न न करने वाला अंततः जीवन की संध्या में पछताता है । समय बीतने पर पछताने से बेहतर है समय पर चेत जाना ।[५]

भक्ति का मर्म है प्रेम[६] । प्रेम विहीन भक्ति मिथ्याडम्बर मात्र है[७] । प्रेम भक्ति को निष्काम बनाता है । सकाम भक्ति की भगताही संतों ने निंदा की है ।[८]

---

[१] भक्ति रत्नावली, पृ० ३१ छंद २ ।

[२] चहहि मूढ सुख भजन बिनु अधम अजान अबोध ।
युक्ति करत शठ मुकुर तिय होत न पूत प्रबोध ॥
—भक्ति रत्नावली, ३२।३

[३] भक्ति निपुणता जिन्ह लही तिन्हे अपर का जान ।
मलय परस मनि प्रीत गति पलटि न निज अस्थान ॥
—वही ३३।१७

[४] जिन्ह हरि पद चित बित करी कर्षत लोभ पयोधि ।
घटज सरिस तिन्ह तन धरी सकल अंग लइ सोधि ॥
—वही ३३।१९

सोक मोह संदेह भ्रम अमित ग्रसित भव रोग ।
संत पुकार न करत सठ भक्ति चिकित्सा योग ॥
—वही ३३।२२

[५] भक्ति यत्न बिनु सुनहु सठ पुनि पछितैहहु अंत ।
सौरभ पल्लव को करै होइहै बिगत बसंत ॥
—वही ६६।११०

[६] ज्ञान भक्ति वैराग्य को साधि प्रेम अनुकूल ।
—भक्ति रत्नावली, ६८।१३१

[७] करत भक्ति बिनु प्रीत को रस विशेष नहिं जानि ।
कमठ उरग जल जीव बहु झषन जियत बहु पानि ॥
—वही ३३।१३

[८] राग रहित बिनु भक्ति को खर शूकर धृग जन्म ।
वंचक वेष बनाइ जग छलत रहत अघ कर्म ॥
—वही ३४।२६

ज्ञान और भक्ति में अन्योन्याश्रय संबंध है। यही कारण है कि भगताही संतों ने विमल वैराग्य के लिए ज्ञान और भक्ति दोनों की साधना का उपदेश दिया है। ज्ञान और भक्ति मन के घनान्धकार को वैसे ही मिटा देते हैं जैसे सूर्य रात के अंधेरेपन को।[१]

इन्द्रिय निग्रह के बिना कोई भी साधना संभव नहीं। भगताही पंथ में निग्रह के लिए कुछ विधि निषेधों का विधान है। पंथ के अनुसार साधक को काम, क्रोध, लोभ, कपट, छल, दंभ, मद, मोह, तृष्णा, हिंसा, निद्रा, भय, मैथुन, आलस्य आदि का हर हालत में त्याग[२] तथा सत्य, शील, नम्रता, परोपकार, स्वल्प भोजन, मृदु भाषण, क्षमा, धीरज, अद्वेष, संतोष, अहिंसा और करुणा आदि का अपने में समावेश करना चाहिए।[३] धनौती मठ के साधु मुनीश्वरानन्द ने अपनी छोटी-सी पुस्तक 'मुमुक्षुओं के कर्तव्य' में इस पर अच्छी तरह विचार किया है। उनके अनुसार मन को मारने के लिए रजोगुण और तमोगुण पर सत्वगुण द्वारा और सत्वगुण पर उपरति द्वारा विजय पानी चाहिए। हरि-गुरु की कृपा और संतों के समागम से ही ऐसा संभव है।

रीति-रस्म

भगताही शाखा के प्रवर्तक भगवान् गोस्वामी कबीर मत को ग्रहण करने के पूर्व वैष्णव मत के हरिव्यासी सम्प्रदाय में दीक्षित थे। कबीर के मत को ग्रहण करने के बाद भी उन्होंने

---

१ जहाँ दिनेस प्रवेस तहँ रहत न तम लवलेस।
ज्ञान भक्ति बिनु यतन बहु मिटहिं न जीव कलेस।।

—वही ३४।२५

२ काम मद गयंद जिन मृगपति को स्वभाव कीन्हीं,
काम क्रोध बाढ़े वैन सीतल जल बुझावई।
लोभ बन्दरी को गहि सुवस नट रूप होई,
ताड़ना विशेष दे नचाइ के थकावई।
मोह कूकरी को द्वार भीतर न ठौर होवे,
ज्ञान के लबेदन मार तुरत खसावई।
अहं है चमारिन सो देह कौन परस राखे,
पीछे प्रभु चरन गहे स्थित दृढ़ सुबसावई।।

—वही ७८।१९

३ ज्ञान को कृपान क्षमा चर्म गहि ओट धारे,
शील की जमूर साजि उत्तम सवारि के।
नवनि को धनुष तीर तीक्षण विराग होवे।
पर की भलाई भाल जिनकर दृढ़ धारि के।
कठिन व्रत धर्म ताको कटि मो कटार बाँधे,
सुर की सुराई सांज सकलो विचारि के।
ऐसा अस्त्र हीन भक्त समर सो न यश पावे,
ताते भले पहिल ही जे बैठे घर हारि के।।

—वही ७९–२०

बहुत दूर तक वैष्णवाचार को अपनाये रखा। भगताही संतों के कथनानुसार उन्होंने ऐसा अपने हरिव्यासी गुरु के आग्रह पर किया। यही कारण है कि उपाधि, कंठी-माला, वेश, जनेऊ, तिलक आदि भगताहियों और हरिव्यासियों के समान हैं।

भगताही पंथ को मानने वाले मुख्यतः दो प्रकार के लोग हैं—साधु और गृहस्थ। साधु वे हैं जिन्होंने घर-बार छोड़ दिया है तथा सिर मुड़ाकर सफेद कौपीन धारण कर निस्पृह भाव से किसी मठ में या घूमते-फिरते ईश्वर के भजन भाव में लीन रहते हैं। सभी जाति और श्रेणी के लोग इस मत में दीक्षित हो सकते हैं, किंतु दीक्षित होने के पूर्व उन्हें कठिन परीक्षा देनी होती है। बिना परिवार के बुजुर्गों की अनुमति के किसी गृहस्थ को साधु नहीं बनाया जाता। अनुमति के बाद दीक्षित होने के अभिलाषी को गुरु सभी मतों की सामान्य जानकारी देकर पूछता है कि क्या वह अब भी भगताही भक्त बनना चाहता है? स्वीकारात्मक उत्तर के बाद वह समारोहपूर्वक चौका की तैयारी करवाता है—धरती लीप कर उस पर मिट्टी का कलश पल्लव सहित रख दिया जाता है। उसके आस-पास अगरवत्ती और धूप-दीप जला देते हैं। एक थाली में हल्दी, दूब, अरवा चावल आदि को मिला कर अक्षत बनाकर रखते हैं। दही और घिसा हुआ चंदन भी रखते हैं। सभी संतों के सामने दीक्षाकांक्षी को एक बार फिर दीक्षा की प्रार्थना करनी होती है। तब गुरु उसके हाथ में कंठी और जनेऊ देकर ललाट पर साम्प्रदायिक चंदन लगा देता है। इसके बाद चरणोदक पिलाकर शिष्य को गुरुमंत्र प्रदान किया जाता है। दीक्षोपरान्त गुरु की शिष्य तीन बार वंदना करता है, तदुपरांत अन्य संतों की वंदना करता है।

यहाँ तक की विधि साधु और गृहस्थ के लिए एक-सी होती है। किंतु कंठी लेने के बाद साधु बनने के आकांक्षी को कठिन परीक्षा देनी होती है। उसके आचार-विचार की सूक्ष्मता से जाँच की जाती है और मठ के सभी संत जब उसके शील स्वभाव से संतुष्ट हो जाते हैं और साधक दीक्षा की पुनः-पुनः याचना करता है तब उपर्युक्त विधि से ही उसे फिर दीक्षित किया जाता है।

दीक्षा के बाद यदि शिष्य निरक्षर है तो गुरु उसे साक्षर बनाता है और कबीर साहब के बीजक को धीरे-धीरे कंठाग्र कराता है।

दीक्षित गृहस्थ या साधु दोनों 'भक्त' कहे जाते हैं। हर भक्त के लिए कबीर साहब के बीजक का नियमित पाठ करना आवश्यक है। ख्याति प्राप्त साधु या महंथ गोस्वामी की उपाधि से विभूषित होते हैं।

अक्सर व्यवहार निपुण और निष्ठावान साधु ही महंथ बनाया जाता है। मठ के महंथ की मृत्यु के पश्चात् या इच्छा व्यक्त करने पर उसके जीवन काल में ही महंथ का निर्वाचन होता है। निर्वाचन भंडारे में उपस्थित सभी साधु और महंथ शाखा के प्रधान आचार्य धनौती सरकार के परामर्श से करते हैं। चादर प्रधान आचार्य प्रदान करते हैं। प्रधान आचार्य को अयोग्य, शिथिल और दुराचारी महंथ को महंथी से हटा देने का भी अधिकार है।

भगताही पंथ के सभी नियम-उपनियम 'अमल दस्तूरनामा उर्फ हिदायत नामा' नामक पोथी में विधिवत दर्ज हैं। बड़हड़वा मठ के कनिष्ठ महंथ रामरूप गोस्वामी के अनुसार इन

नियमों की सन् १९२० में ही धनौती के प्रधानाचार्य द्वारा अदालत में विधिवत् रजिस्ट्री हो चुकी है। उपर्युक्त पुस्तक के अनुसार सभी मठ और साधु नियमित होते हैं।

पूजा के रूप में गृहस्थ और भगताही संत केवल कबीर साहब के बीजक का नियमित पाठ करते हैं। पाठ के पूर्व और बाद में गुरु वन्दना की जाती है। गुरु के अतिरिक्त और किसी देवी-देवता या ग्रंथादि के पूजन का विधान नहीं है।

भगताही तथा कबीर मत की अन्य शाखाओं में अन्तर

(क) पूजा-विधि

भगताही और कबीर मत की अन्य शाखाओं के बीजक-पाठ में तनिक भेद है। जहाँ भगताही शाखा वाले बीजक का आरंभ 'अन्तर जोति शब्द एक नारी, हरि ब्रह्मा ताके त्रिपुरारी' से मानते हैं, वहाँ अन्य शाखाओं वाले 'जीव रूप एकअन्तर वासा, अन्तर जोति कीन्ह परगासा' से। भगताही शाखा में बीजक का अत्यधिक महत्व है। बीजक का पाठ संतों के लिए अपरिहार्य है। बीजक के अतिरिक्त न किसी ग्रंथ या देवी-देवता और उनके मंदिरों आदि के प्रति इस शाखा में आसक्ति और महत्त्व है न आरती, चौका, तिनकार्पण, जोत प्रसाद आदि उपचारों का विधान ही। हाँ, अपने आचार्यों और गुरुओं के प्रति भक्तिभाव और पूजा की प्रथा है। अन्य कबीरपंथी शाखाओं के मठों के समान इस शाखा में ध्वजा पताका आदि नहीं होते।

(ख) उपाधि

भगताही शाखा में दीक्षित साधक जहाँ भक्त कहलाता है वहाँ अन्य कबीर मतावलम्बी दास। प्रसिद्ध भगताही संत या महंथ 'गोस्वामी' शब्द से अभिहित होते हैं, अन्य शाखावलम्बी संत या महंथ 'साहब' कहे जाते हैं।

(ग) भेष और टीका

भगताही शाखा का साम्प्रदायिक चंदन कबीर पंथ की अन्य शाखाओं से भिन्न और हरिव्यासी वैष्णवों के अनुरूप होता है—फर्क केवल बेंदी का है। हरिव्यासी चंदन के घेरे के भीतर काली बेंदी करते हैं, भगताही सफेद। अन्य कबीरपंथियों का चंदन सीधा होता है।

भगताही संत सदा माथ मुड़ाये रहते हैं—दाढ़ी मूँछ सफाचट। अन्य शाखाओं के साथ ऐसा प्रतिबंध नहीं।

मठ

भारत में भगताही पंथ का सर्वाधिक प्रचार-प्रसार है। बड़हड़वा के कनिष्ठ महंथ श्री रामरूप गोस्वामी के अनुसार इस शाखा में लगभग ५५०० मठ हैं। भारत के अतिरिक्त मारीशस द्वीप में भी इस मत का प्रचार है। समग्र देश में इस मत के मानने वालों की संख्या लाखों में है। पंथ का संक्षिप्त इतिहास और सम्पूर्ण वंश वृक्ष 'चेतन पुराण' नामक ग्रंथ में—जो धनौती मठ में सुरक्षित है और जिसे किसी को देखने नहीं दिया जाता —संकलित है।

भगताही शाखा के मठों का आचार्य स्थान धनौती (सारन) है। धनौती में महंथ ही सभी मठाधीशों एवं संतों के प्रधान हैं। नये महंथों को चादर प्रधानाचार्य धनौती सरकार ही देते हैं। कहते हैं भगवान् गोस्वामी ने पिठौराबाद से आकर बिहार के चम्पारन जिला में

नारायणी नदी के किनारे चटिया बड़हड़वा (थाना गोविन्द गंज) में अपना मुकाम कायम किया। यहीं से इस मत का प्रचार-प्रसार प्रारंभ हुआ। पहले यह माना जाता था कि बड़हड़वा में ही इस मत की प्रधान गद्दी है। भगवान् गोस्वामी से लेकर बनवारी गोस्वामी तक पंथ के प्रधानाचार्य का निवास होने का सौभाग्य बड़हड़वा को ही प्राप्त था। श्री बनवारी गोस्वामी अपने ज्येष्ठ गुरुभाई श्री नयन गोस्वामी को, जो बड़हड़वा के महंथ न बन पाने के कारण रूठकर धनौती चले गये थे और नया स्थान बनाया था, मनाकर पुनः बड़हड़वा लाये और उन्होंने स्वयं बड़हड़वा के महंथ पद एवं पंथ के प्रधानाचार्य का सम्माननीय पद त्यागकर उस पर नयन गोस्वामी को अधिष्ठित किया था। किंतु नयन गोस्वामी बड़हड़वा में न रहकर धनौती में ही मुख्यतः रहते रहे और इस प्रकार धनौती एवं बड़हड़वा मठों का एक साथ संचालन धनौती से ही होने लगा। तभी से धनौती को ही प्रधानाचार्य की निवास भूमि होने के कारण पंथ की प्रधान गद्दी का स्थान माना गया। परमेश्वर गोस्वामी ने प्रबंध विषयक कठिनाइयों को देख कर बड़हड़वा मठ को पुनः स्वतंत्र कर दिया और अपने शिष्य रामप्रसाद गोस्वामी को वहाँ का महंथ बना दिया। आज-कल पंथ के प्रधानाचार्य धनौती की फांडी लहेजी (सीवान, सारन) में रहते हैं।

धनौती, लहेजी और बड़हड़वा के अतिरिक्त बिहार में इस शाखा के प्रसिद्ध मठ हैं मधुवनी, चनावे (थावे, सारन), बिद्दूपुर (मुजफ्फरपुर), दर्पा (चम्पारन), बैरगनिया (मुजफ्फरपुर), औराही (पूर्णिया), बुचुआ (पूर्णिया), तथवा नन्दपुर (चम्पारन), मानसर कुमना (सारन), सुखलहिया (चम्पारन), तुर्की (मुजफ्फरपुर), खोदाई बाग (सारन) आदि।

वंशावली

भगताही शाखा का सम्पूर्ण वंश-वृक्ष देना संभव नहीं है। इसलिए प्रधानाचार्यों का नामोल्लेख ही हो सकता है जो इस प्रकार है :

१—भगवान् गोस्वामी
|
२—घनश्याम गोस्वामी
|
३—उद्धोरण गोस्वामी
|
४—दमन गोस्वामी
|
५—गुणाकर गोस्वामी
|
६—गणेश गोस्वामी
|
७—कोकिल गोस्वामी
|
८—बनवारी गोस्वामी
|
९—नयन गोस्वामी
|

१०—भीष्म गोस्वामी
|
११—भूपाल गोस्वामी
|
१३—परमेश्वर गोस्वामी
|
१३—गुणपाल गोस्वामी
|
१४—शेषमणि गोस्वामी
|
१५—जयमन गोस्वामी
|
१६—हरिनाम गोस्वामी
|
१७—स्वरूप गोस्वामी
|
१८—रामरूप गोस्वामी
|
१९—रघुनन्दन गोस्वामी
|
२०—रामधारी गोस्वामी (वर्तमान)
|
२१—नरसिंह गोस्वामी (प्रधान शिष्य)।

बड़हड़वा मठ की वंशावली

ऊपर कहा जा चुका है कि भगवान् गोस्वामी से लेकर बनवारी गोस्वामी तक भगताही के प्रधानाचार्य का निवास बड़हड़वा था। नयन गोस्वामी से लेकर परमेश्वर गोस्वामी के काल तक बड़हड़वा मठ धनौती मठ द्वारा अनुशासित रहा। परमेश्वर गोस्वामी ने बड़हड़वा को स्वतंत्र कर दिया और अपने शिष्य रामप्रसाद को वहाँ का महंथ बनाया। रामप्रसाद गोस्वामी से लेकर आज तक की बड़हड़वा की वंशावली इस प्रकार है :

१—रामप्रसाद गोस्वामी
|
२—तुला गोस्वामी
|
३—गोपाल गोस्वामी
|
४—राम लगन गोस्वामी
|
५—राम खिलावन गोस्वामी (वर्तमान)
|
६—रामरूप गोस्वामी (प्रधान शिष्य)।

मानसर (कुमना, सारन) मठ की वंशावली

१—नारायण गोस्वामी
|
२—अजगैब गोस्वामी
|
३—गोपी गोस्वामी
|
४—द्वारका गोस्वामी
|
५—बालमुकुन्द गोस्वामी
|
६—जगदेव गोस्वामी
|
७—मेथी गोस्वामी
|
८—विश्वनाथ गोस्वामी } उच्च न्यायालय में महंथी के लिए मुक़दमा चल
नरसिंह गोस्वामी } रहा है, जिसमें अभी फैसला नहीं हुआ है।

साहित्य में असाम्प्रदायिकता

डॉ० विजयपाल सिंह

आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, का० हि० वि० वि०

आज-कल साहित्य शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ में होता है, जैसे वैज्ञानिक साहित्य, चिकित्सा साहित्य, कृषि साहित्य। अंग्रेजी का 'लिटरेचर' शब्द भी इतना ही व्यापक है या यह माना जाय कि लिटरेचर की व्याप्ति अधुना हिन्दी के साहित्य शब्द को मिल गई। पर यहाँ इस शब्द का प्रयोग हम जिस अर्थ में कर रहे हैं वह गद्य या पद्य रूप काव्य साहित्य है। काव्य और साहित्य पर्याय हैं। संस्कृत धातु 'धा' के स्थान पर 'हि' आदेश कर हित बनाते हैं जिसका अर्थ कल्याण है उसमें सम् उपसर्ग लगाते हैं। इस प्रकार साहित्य शब्द व्युत्पन्न होता है। अंग्रेजी का 'लिटरेचर' मूल शब्द 'लिटरा' से बना है जिसका अर्थ है लिखना। पर साहित्य की कोई ऐसी संकल्पना नहीं की जा सकती जिसमें मौखिक साहित्य नहीं शामिल किया जा सकता। वैदिक साहित्य बहुत काल तक मौखिक परम्परा में जीवित रहा। साहित्य का जर्मन पर्याय वोर्टकुन्स्ट और रूसी 'स्लोवेस्तोस्त' है। अर्थ की दृष्टि से ये शब्द लिटरेचर से अधिक उपयुक्त हैं। सबसे अच्छा यह है कि उन रचनाओं को या उनके इस अंश को साहित्य माना जाय, जिनका प्रयोजन रस होता है।

मनुष्य की रसात्मक क्रिया का अनूदन साहित्य है। इस क्रिया को रसानुभूति कहते हैं। रस आनन्द का पर्याय है। इससे प्रतीत होता है कि साहित्य का चरम लक्ष्य आनन्द है। इसी अर्थ में साहित्य मोक्ष का साधन है। सत्, चित् और आनन्द को ब्रह्म कहते हैं। इस सूत्र का अंतिम प्रत्यय आनन्द है अर्थात् आनन्द ब्रह्म या भगवत रूप है। चूँकि साहित्य इस लक्ष्य तक हमें पहुँचाता है इसीलिए वह मोक्ष का साधन है। आनन्द का क्या प्रयोजन है? चरम लक्ष्य होने के कारण यह प्रश्न निरर्थक है। यह सत्य है कि काव्य का उपयोग सम्प्रदाय या प्रचार के लिए किया जाता है। जैसे किसी सुन्दर कलाकृति का उपयोग विज्ञापन के लिए किया जाता है। विज्ञापन में सुन्दर कृति आनन्द का विषय है। उसमें मन को खींचने की शक्ति होती है। इस शक्ति का दूषित प्रयोग विज्ञापन के साथ जनमन खींचने के लिए करने पर उसका सौंदर्य कुछ मलीन होता है। क्योंकि उसे किसी स्वार्थ सिद्धि के प्रचार का साधन बना दिया जाता है। शुद्ध साहित्य सत्य का निश्छल अनन्त रूप होता है। उसमें प्रवंचना का उक्त भाव नहीं होता। इसलिए यह नहीं माना जा सकता कि कलाकृति विज्ञापन है और साहित्य सम्प्रदाय है। यह मात्र उसका दूषित प्रयोग है। जैसा मैंने पहले कहा—काव्य रसात्मक क्रीड़ा है। रसात्मक क्रीड़ा में संयम और नियंत्रण की आवश्यकता होती है। मनुष्य की रसात्मक अभिरुचि कल्पना द्वारा प्रतिमासृष्टि के सतत् प्रवाह का नियमन करती है। इसी में काल्पनिक क्रीड़ा निहित होती है। काव्य से जो रस प्राप्त होता है वह काल्पनिक होता है इसलिए वह भौतिक वस्तु से प्राप्त रस से भिन्न होता है। क्रीड़ा-संवलित कल्पनाप्रसूत क्रिया का आस्वाद-मंडित रूप काव्य है। इसीलिए काव्य को अनुभूति या संवेदना कहते हैं। क्रीड़ा के सभी उन्नत रूपों में आवेग और विधि का संश्लेषण होता है। मानव प्रकृति का युक्ति

प्रधान अंश काल्पनिक और भावात्मक अंश से समरस मिला रहता है। इसलिए शिलर कहता है कि मानव तभी क्रीड़ा करता है जब वह सच्चे अर्थ में मनुष्य होता है और तभी वह पूर्ण रूप से मनुष्य होता है, जब वह खेलता है। क्रीड़ा बाल अवस्था की कला है और काव्य क्रीड़ा का प्रौढ़ रूप है। ये दोनों अतिशय मानसिक शक्ति और मानव आवेगों तथा योग्यताओं के पूर्णतर अभ्यास की आवश्यकता से उत्पन्न होते हैं।

किसी दर्शन या विचार का संगठित रूप सम्प्रदाय होता है। कुछ लोग भ्रमवश समझते हैं कि साहित्य विचारों का परिधान या जामा है। इसलिए वे साहित्य से रसदोहन न कर उसमें किसी दर्शन या सम्प्रदाय का अन्वेषण करते हैं। सामान्यतया धर्म या सम्प्रदाय शब्द सुनने के साथ हमारी पहली प्रतिक्रिया क्या होती है? यही कि हम उससे ईश्वर या दूसरे दैव में निहित शक्ति और उस शक्ति के साथ मानव के संबंध का विचार करते हैं। इसके अन्तर्गत वह ज्ञान भी आता है जिससे मनुष्य ईश्वर, देवता या किसी दूसरी दैवी शक्ति की अनुकूलता प्राप्ति के कृत्य या प्रतिकूलता निवारण के कृत्य का सम्पादन करना आवश्यक समझता है। धर्म का सार्वत्रिक कृत्य मानव के भौतिक और सामाजिक वातावरण की शक्तियों के साथ उसके संबंध का अनुशासन और निर्वचन है। इन शक्तियों को किसी दैवी शक्ति के नियंत्रण के अधीन माना जाता है। इनके साथ मनुष्य का संबंध निरूपित करने के लिए उनकी प्रकृति के विषय में किसी तरह का ज्ञान आवश्यक होता है। मानव के विकास की प्रधान शक्ति उसकी बौद्धिकता में निहित होती है। यह शक्ति उसकी सहज प्रवृति में नहीं पायी जाती। इसलिए धार्मिक भावनाओं के प्रवल संवेगात्मक रागों की व्याख्या करने के लिए यह कहना यथार्थ नहीं है कि सम्प्रदाय सहज भावनाओं और संवेगों पर आधृत होता है। सम्प्रदाय के संवेगात्मक बंधन उन प्रमुख जीवन प्रक्रियाओं से निष्पन्न होते हैं जिनके अधीन रोटी, बेटी और रक्षा का प्रश्न होता है। धार्मिक भावनाएँ इसे सफल बनाने का प्रयास करती हैं अर्थात् इनका समाधान उपस्थित करती हैं। जिस सीमा तक व्यक्ति यह विश्वास करता है कि धार्मिक उपदेश और आचरण निरपेक्ष तथा अतर्क्य सत्य हैं और इसलिए मान्य हैं उसी सीमा तक उसका वैयक्तिक और सामाजिक आचरण धार्मिक सम्प्रदायों द्वारा शासित होता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो गया कि साहित्य और सम्प्रदाय के क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं और शुद्ध साहित्य में साम्प्रदायिकता का कोई स्थान नहीं है। यदि सम्प्रदाय का दर्शन जानना हमारा लक्ष्य हो तो हम सूरसागर, रामचरित मानस या पद्मावत न पढ़कर शुद्धाद्वैत, विशिष्टाद्वैत या सूफी दर्शन पढ़ने की प्रवृति रखें। चूँकि साहित्य जीवन के निमित्त जीवन और प्रकृति को लेकर रचा जाता है इसलिए उसमें जीवन क्षेत्र के अनेक विषय आ जाते हैं। पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि साहित्य सम्प्रदाय है, धर्म है, नैतिकता है, विज्ञान है या वाणिज्य है।

जब इस भूमि का अन्वेषण हम हिन्दी साहित्य में करते हैं तो देखते हैं कि कबीर, सूर, तुलसी आदि कवि अपनी जातीय स्थिति के कारण किसी न किसी सम्प्रदाय से संबद्ध थे। केशवदास ने काव्य का शुद्ध अर्थ ग्रहण किया। उन्होंने काव्य में कलात्मकता को महत्वपूर्ण स्थान दिया। रीतिकाल के आलम, रहीम, रसखान आदि कवि भी जाति के विचार से मुसल-

मान थे, पर उन्होंने हिन्दी में अच्छे साहित्य की रचना की। इसका अर्थ यह नहीं होगा कि उन्होंने किसी प्रकार की जातीयता का प्रचार किया।

मानव मात्र की सामान्य भूमि या सहज वृत्ति आनन्द प्राप्ति है। आनन्द लाभ करते समय व्यक्ति अपनी जातीय विशेषता से या साम्प्रदायिक विशिष्टता से मुक्त होता है। उसका साधारणीकरण हो जाता है। वह शुद्ध मनुष्यता की भूमि पर खड़ा होता है। इसलिए साहित्य असाम्प्रदायिकता का राज्य है। यदि ऐसा न होता तो नीति और ज्ञान के दोहे साहित्य माने जाते, सारा साम्प्रदायिक साहित्य काव्य माना जाता। काव्य का उपयोग सम्प्रदाय या प्रचार में होने से यह सिद्ध नहीं होता कि साहित्य कोई सम्प्रदाय है या उसमें किसी प्रकार की साम्प्रदायिकता है। काव्य की प्रकृति का विश्लेषण करने से जो निष्पन्न होता है वह यह है कि काव्य आनन्द का साधन होने के कारण मानवता की सामान्य थाती है, उसका प्रयोजन शुद्ध रूप से असाम्प्रदायिक होता है।

आइए, एक दूसरी परिस्थिति का विचार करें। हम अंग्रेजी साहित्य पढ़ते हैं, उर्दू साहित्य पढ़ते हैं, फ्रेंच साहित्य पढ़ते हैं, ग्रीक साहित्य पढ़ते हैं। हो सकता है इन साहित्यों के उत्तम ग्रंथों के रचयिता ईसाई हों, मुसलमान हों, यहूदी हों। इनका पाठक कोई अन्य मतावलंबी हो। क्या मत के आग्रह के कारण किसी हिन्दू पाठक को 'गालिब' की कृति आनन्ददायक नहीं प्रतीत होती, या मुसलमान पाठक को सेक्सपियर की कृति नीरस लगती है। हम कालिदास की जयन्ती मनाते हैं, सेक्सपियर की चतुश्शती मनाते हैं, गालिब की शती मनाते हैं, तुलसीदास की चतुश्शती मनाते हैं। इनके पीछे यदि किसी प्रकार का साम्प्रदायिक मताग्रह छिपा हो तो हम ऐसे आयोजन कैसे करें। वस्तुतः विज्ञान और साहित्य का सार्वत्रिक आचरण होता है। जैसे कोई वैज्ञानिक उपलब्धि किसी देश, जाति या सम्प्रदाय की निजी सम्पत्ति नहीं होती, उसी तरह कोई महान् काव्यकृति देश, काल और सम्प्रदाय की सीमा के परे होती है। जैसे विज्ञान को कोई साम्प्रदायिक तत्व नहीं कहता, उसी प्रकार साहित्य का आचरण भी साम्प्रदायिक नहीं होता। विज्ञान में तथ्यों का संयोजन होता है। उसमें तथ्य का शुद्ध अर्थ ग्रहण किया जाता है। उनकी यथार्थ परीक्षा से लब्ध परिणाम को वैज्ञानिक सत्य कहा जाता है। तथ्यों से रहित मूल्य एकदम काल्पनिक होते हैं। जैसे विज्ञान में तथ्यों का वर्णन होता है, वैसे ही साहित्य में मूल्यों की अभिव्यक्ति। मूल्यों की प्रवृत्ति परिवर्तनशील होती है। वह प्रत्येक पाठक की अपनी योग्यता पर निर्भर होती है। साहित्य इस परिवर्तनशीलता का नियमन करता है जिससे मूल्यों को सामाजिक वस्तुनिष्ठता प्राप्त हो जाती है। पर वह वस्तुनिष्ठता विज्ञान की वस्तुनिष्ठता से भिन्न होती है। वैज्ञानिक सत्य परिप्रश्नों द्वारा खोजा जाता है। उसमें न्यूनतम परिग्रह और अधिकतम सहभोग होता है। साहित्यिक अभिव्यंजना भी इसी तरह अन्तर्वैयक्तिक होती है। संचार की प्रक्रिया से सौंदर्य की सृष्टि होती है। कवि की मौलिकता का परिणाम मनुष्यता की सामान्य सम्पत्ति होती है जिसे भावराशि का संचित भण्डार कहते हैं। इस पर्यालोचन से सिद्ध होता है कि शुद्ध साहित्य में साम्प्रदायिक तत्व नगण्य होता है।

ASSESSMENT OF NEUROTICISM AND INTROVERSION TRAIT AS COVARIABLE IN ADOLESCENTS— PILOT STUDY

Km. PURNIMA

Department of Psychology, B.H.U.

The problem of personality is the most important area of research in psychology. An important contribution to the problem of human personality has been made by different psychologists in postulating different theories of personality. Prominent psychologists like Sheldon, Freud, Lewin, Jung, Allport, Cattell, Eysenck, Murphy etc. presented their own conceptual framework and discussed the related problems in scientific light. The approaches are manifold constitutional, dynamic, biosocial, organisimic and experimental. In the present work trait approach to personality has been made. It is somewhat judicious that in the contemporary period type theory has been replaced by trait theory. The technique used herein is that of questionnaire for the assessment of two traits— Neuraticism and Introversion. Herein they are taken as the most prominent components of human personality. It has been hypothesised that these two traits are controlling factors and are found in profuse simultaneously in adolescent period. As a matter of fact adolescence is the most critical period of human life, a period of transition between childhood and adulthood. This period is concerned as one wherein rapid physiological and psychological changes take place in the interests, aspiration, ideologies and value systems as such. A new birth in personality in individual takes place.

The tool adopted for the study of present problem is that of Inventory. A questionnaire containing 70 items, 35 for Neuroticism and 35 for Introversion was constructed in Hindi for the study of Neuroticism and Introversion trait present as such particularly in the adolescents. Some of the items for the questionnaire have been borrowed from different existing

inventories. The construction of sentences in Hindi has been made in such a form that the items may be adequately understood by a particular age group.

It was kept in view that the questionnaire is administered in a group of 35 to 45. Instructions printed on the test form were read aloud and also explained to the subjects. No time limit was imposed. Accuracy of result depends on the truthfulness of responses and thorough cooperation of the subjects. There are three alternative responses 'Yes', '?' and 'No'. Value assigned for 'yes responses' is two. Yes responses are taken as correct answers and indicate the neurotic and introverted tendencies as such. High scores indicate the dominance of the trait. Some items in questionnaire are of such nature for which the value is in reverse order.

It has been kept in view that the sample may represent the Meerut region and hence the subjects were drawn from each district in proportion to the total population of the students of that particular district.

SAMPLE

N,300

Boys——————————Girls

150 — 150

Place : Meerut region of Western U.P. (All the five districts).

Area : Urban

Age : Ranging from 14 to 18 years.

Education : Intermediate.

Developmental Phase : Adolescence.

After collecting the data, the scoring was done. The 'R' (right) and 'W' (wrong) responses were counted. For item analysis significance of each item was worked out. To find out the significance of each item the discrimination value has been worked out. The discrimination value concerns the degree to which performance on an item correctly differentiates between

individuals who differ in the criterion. The value of the test may be viewed in terms of the comparative validity of items. Guilford has suggested four coefficients of correlation. They are Biserial r, Point-biserial r, Tetrachoric r and the Phi-coefficient. It is seen that in item analysis the Phi-coefficient is mostly applied. The item discrimination has been calculated by Phi-coefficient because Phi-coefficient may be applied also when the score distribution is arbitrarily dischotomised after cutting some scores.

Booklets were arranged in order of merit on the basis of scores obtained for item discrimination. We used the extreme groups, i.e. top and bottom of 25%. By retaining 25%, we used extreme groups because 50% of middle scores were arranged in normal distribution. It was pointed out that the discrimination value would be high as extreme groups would be used for item discrimination.

The arranged booklets in order of merit were then divided into four equal parts of 75 each that is 25%. The two middle groups were then discarded. The upper and the lowermost group i.e. Q 3 and Q 1 were retained. The number of correct responses for each item in the test were calculated by the formula :

$$\phi = \frac{Pu - Pl}{\sqrt{Pq}} .$$

Pu—Proportion of passing the subjects in upper group.
Pl—Proportion of passing the subjects in lower group.
P—The Arithmatic mean of Pu and Pl.
q—1—P

The minimum and maximum value of Phi-coefficient is given below :

Traits	*High Group (Pu)*		*Lower Group (Pl)*		*Phi Value*	
	Mini.	*Maxi.*	*Mini.*	*Maxi.*	*Mini.*	*Maxi.*
Neuroticism	.16	.89	.00	.69	.03	.62
Introversion	.06	.93	.00	.88	.03	.86

In selecting the items which will be retained in final form, it is necessary to retain only those items for which the Phi-coefficients were statistically significant. Guilford has given the following formula for significance of Phi-coefficient at .05 and .01 level.

$$\phi = .05 = \frac{1.96}{\sqrt{N}}$$

$$\phi - .05 = \frac{1.96}{\sqrt{150}} = \frac{1.46}{12.25} = .16$$

$$\phi = .01 = \frac{2.58}{\sqrt{N}}$$

$$\phi = .01 = \frac{2.58}{\sqrt{150}} = \frac{2.58}{12.25} = .21$$

Thus all the values of ϕ which are equal to and above at .21 are significant at .01 level and those equal to and above at .16 are significant at .05 level.

The results of item analysis show that out of 70 items only 8 items were found insignificant. Some items were also cancelled which were not highly significant. Except few only those items for the final study were taken which were significant at .01 level.

Thus, total 50 items were kept for the final form of questionnaire—25 for Neuroticism trait and 25 for Introversion trait to try on a large sample. The purpose of the study is to attain a reliable measure of neurotic and introverted tendencies operative in adolescents. In the younger age persons are mostly emotionally unstable than in the old-age, and particularly girls have been found to have higher scores on Neuroticism and Introversion as compared to boys.

———

सौन्दर्य मीमांसा

भगवतीप्रसाद राय

किसी प्रसिद्ध विद्वान् के मत के आधार पर हम कहते हैं कि सौंदर्य सत्य है, सत्य आदर्श की अभिव्यक्ति है जो नैसर्गिक पूर्णता का प्रतीक है और शिव की भावात्मक अभिव्यंजना है। ऐसी उक्तियाँ चिंतन को आवेशित करती हैं और हमें क्षणिक आनन्द प्रदान करती हैं परन्तु इनसे कोई स्थायी प्रबोध नहीं मिलता। इसलिए सौंदर्य की किसी परिभाषा में, जिसमें वास्तव में उसे परिभाषित करने का प्रयास हो, मानव अनुभूति को द्रव्य मानकर सौंदर्य के उत्स, देश और तत्त्व की व्याख्या करनी होगी। इससे यथासंभव हम जानेंगे कि क्यों, कहाँ और कैसे सौंदर्य प्रकट होता है। सुन्दर होने के लिए किसी वस्तु की कौन-सी आवश्यक शर्तें हैं। हमारी प्रकृति के कौन से तत्त्व हमें सौंदर्य के प्रति संवेदनशील बनाते हैं। हमारी प्रकृति की उत्तेजना और वस्तु-संरचना के बीच क्या संबंध है। यदि इन बातों की ठीक व्याख्या न हो तो हम नहीं समझ सकते कि सौंदर्य-गुण-विवेचन क्या चीज है। इस अर्थ में सौंदर्य की परिभाषा इस निबंध का विषय है। इस सीमा के अधीन यह कार्य अपूर्णता के साथ संपन्न हो सकता है।

हमारे अधिकांश लेखक सौंदर्य-दर्शन को आलोचना या समीक्षा कहते हैं। आज भी कलाकृति के तार्किक गुण विवेचन को समीक्षा पद से ज्ञापित किया जाता है। परन्तु प्रकृत में सुख को समीक्षा कैसे कहा जाय। सूर्यास्त आलोचित नहीं होता, उसकी अनुभूति होती है और उसका उपभोग होता है। ऐसे अवसर पर समीक्षा शब्द का प्रयोग मानकों के साथ तुलना और निर्णय के तत्त्व पर अधिक बल देता है। यद्यपि सौंदर्य की व्याख्या इसी तरह की जाती है तथापि वह इस रूप में प्रत्यक्ष नहीं होता। प्रकृति और कला के श्रेष्ठ प्रकर्ष किसी नियम द्वारा शासित होने से बहुत दूर होते हैं। वे स्वयं उस मानक और आदर्श को प्रस्तुत करते हैं जिससे आलोचक उससे अवर प्रभाव को माप सकते हैं।

इसीलिए नामकरण और विज्ञान के इस युग ने अधिक उपयुक्त सौंदर्यशास्त्र पद का प्रयोग स्वीकार किया है। यह ग्रहणशीलता या प्रत्यक्षीकरण का सिद्धान्त है। आलोचना कुछ संकीर्ण शब्द है जिसमें ऐकान्तिक रूप से हमारे कूट निर्णय की ओर संकेत होता है पर सौंदर्यशास्त्र व्यापक पद ज्ञात होता है। इसके उदर में सुख और दुःख की सभी अनुभूति सन्निविष्ट होती है। कान्ट ने अपने देश-काल के सिद्धान्त को सभी प्रत्यक्षों के आकार रूप में माना। समय-समय पर संकुचित करके उसे कला-दर्शन के पर्याय के रूप में प्रयोग किया जाने लगा।

यदि हम समीक्षा और सौंदर्यशास्त्र इन दोनों शब्दों से व्युत्पन्न अर्थ को परस्पर मिला दें तो सौंदर्य सिद्धान्त के दो प्रधान गुण एकत्र हो जाते हैं। आलोचना में निर्णय प्रधान होता है और सौंदर्यशास्त्र में प्रत्यक्ष। दोनों के उभयनिष्ठ तत्त्व को लेकर अर्थात् निर्णय के उस अंश को जो दर्शन है और दर्शन के उस अंश को जो समीक्षा है, हम समीक्षा के क्षेत्र में अपनी मान्यता

को विस्तृत करते हैं। उसमें मूल्यों के सहज और आसन्न निर्णय होते हैं। अर्थात् उसमें आनन्द और वेदना निहित होती है। इसी तरह सौंदर्य के क्षेत्र से दर्शन की उन चीजों को निकाल कर जो आशंसनीय नहीं हैं जिनका वस्तु में मूल्य नहीं है हम उसके क्षेत्र को संकुचित कर देते हैं। इस तरह हम समीक्षात्मक या आशंसी दर्शन के क्षेत्र में पहुँच जाते हैं। मोटे तौर पर यही हमारा कथ्य है। आज के प्रचलित 'सौंदर्यशास्त्र' शब्द का प्रयोग कर हम कहना चाहते हैं सौंदर्यशास्त्र का संबंध मूल्यदर्शन से है।

पुराकाल से दार्शनिकों को यह बात ज्ञात रही है कि प्रकृति की प्रत्येक दृश्य घटना की व्याख्या पूर्ववर्ती दृश्य घटना द्वारा हो सकती है तथा शारीरिक गतियों का केवल भौतिक कारण है, जैसे बोलने में जीभ की गति और चित्रांकन में हाथ की गति। यदि इस प्रकार चेतना को जीवन में आनुषंगिक मान लिया जाय, उसे अनिवार्य न माना जाय तो मानव जाति पृथ्वी पर अपने अस्तित्व की सभी महत्वपूर्ण कलाओं को बिना किसी भावना, आदर्श और संवेग को धारण किये अर्जित कर लेती। प्राकृतिक वरण उन स्व-तंत्रों के स्वत्व की सुरक्षा करता जिन्होंने अपने परिवेश पर सार्थक प्रतिक्रिया की। आत्मसुरक्षा की प्रवृत्ति विकसित होती, बिना भय के संकटों का प्रतिकार होता और बिना अनुभूति के वेदनाओं का प्रतिशोध होता। ऐसे संसार में अत्यन्त पूर्ण संगठनों का अस्तित्व होता। गंभीरतम हितों की अभिव्यक्ति होती और पूर्व निर्णीत शिव की प्रत्यक्ष साधना होती। विशेष दुर्घटनाओं के प्रतिकार की सतत और स्वाभाविक प्रवृत्ति होती। अवेक्षकों के लिए मूक प्रदर्शन और चिन्तन के प्रमाण पेटेन्ट होते। सम्पूर्ण प्रक्रिया में निश्चित रूप से कोई चिन्तन, आशा या चेतन-उपलब्धि नहीं होती।

दर्शक प्राक्चिन्तन के उद्देश्य और साधन को कूटार्थ मान सकता है जैसे हम जल के विषय में मान लेते हैं जो अपना तल स्वयं ढूँढ़ लेता है या उस निर्वात के विषय में मान लेते हैं जिसका तिरस्कार प्रकृति करती है। परन्तु द्रव्य के अणु अपनी सहस्थिति के विषय में अचेत रहते हैं और सारी प्रकृति उनकी निवर्तमान व्यवस्था के विषय में अचेत रहती है। उस प्रक्रिया के मुग्ध दर्शक अपनी रुचि और प्रवृत्ति के आधार पर उसकी प्रगति या पराकाष्ठा देखते हैं। हमें पराकाष्ठा वहाँ माननी चाहिए जहाँ प्राप्त परिणाम हमारी व्यावहारिक या सौंदर्यपरक इच्छा की पूर्ति करता है। जहाँ यह तुष्टि होती है वहीं प्रगति माननी चाहिए। परन्तु मानव के अतिरिक्त और मानवीय अभिनति से अलग, ऐसी यांत्रिक दुनिया में किसी मूल्य का तत्त्व नहीं दिखाई देता। चेतना को हटाकर, अर्थ की संभावना को समाप्त कर दिया जाता है।

परन्तु केवल संपूर्ण चेतना के अभाव में ही संसार से मूल्य का लोप नहीं ोता है, मानव -अनुभूति की पूर्णता से कम तीव्र सारांकन से हम मानव को शुद्ध बौद्धिक प्रतिमूर्ति के रूप में ग्रहण कर सकते हैं, उस बुद्धि के रूप में मान सकते हैं जिसमें प्रकृति के रूपान्तरण संवेगहीन प्रतिबिंबित होते हैं। ऐसी स्थिति में प्रत्येक घटना का आलेख हो सकता है, उसके संबंधों का अवलोकन हो सकता है, उसका आवर्तन हो सकता है। यह सब कामना, आनन्द या खेद की झलक बिना हो सकता है। कोई घटना उद्वेगजनक नहीं होगी, कोई स्थिति भयानक नहीं लगेगी।

हमारे साथ बिना आकांक्षा के, केवल विचारों की दुनिया होगी। जैसे चेतना के अभाव में वैसे ही उसके भाव में भी सभी मूल्य और प्रकर्ष लुप्त होंगे। इसलिए किसी भी रूप में शिव के अस्तित्व के लिए केवल चेतना नहीं, अपितु संवेगनात्मक चेतना की आवश्यकता है। अवेक्षण से काम नहीं होगा, आशंसा की जरूरत होगी।

इस स्वयंसिद्धि को हम अभी स्वीकार कर लें क्योंकि यह सभी नैतिक दर्शनों के लिए महत्वपूर्ण है तथा अविनेय विचारों के लिए घातक है कि अन्ततः वरणीयता अयुक्त होती है। इसकी ईषत् आशंसा के बिना कोई मूल्य नहीं होता, इसके अभाव या भाव के पहले इसकी किंचित् वरणीयता बिना कोई शिव नहीं होता। सभी प्रकर्षों का मूल और सत् आशंसा और वरणीयता में निहित होता है। किसी चीज की इच्छा हम इसलिए नहीं करते कि वह शिव है बल्कि वह शिव इसलिए है कि हम उसकी इच्छा करते हैं।

यह ठीक है कि किसी सहज-प्रतिक्रिया के अभाव में भी हम व्यवहार के अनुरोध से इन उपाधियों का प्रयोग कर सकते हैं। हम स्वीकार कर सकते हैं कि इसलिए कोई क्रिया अशुभ है या कोई निर्माण शुभ है कि उसमें हम किसी ऐसे लक्षण को जानते हैं जिसका हमने उस विशेषण से उल्लेख सीखा है। लेकिन जब तक हमारे भीतर कोई भावाविष्ट घृणा या भावात्मक प्रसन्नता न हो, कोई नैतिक या सौंदर्यात्मक निर्णय नहीं हो सकता। यह केवल वाणी के औचित्य और वस्तुओं के रिक्त नामों का प्रश्न है। गुणों के निर्णय के लिए इन बातों में प्रयुक्त शाब्दिक या यांत्रिक तर्कवाक्य अनौचित्य के आवरण हैं। भाषा के साम्प्रदायिक प्रयोग में असंवेदन शक्ति बहुत तीव्र होती है। यदि हम वास्तविक भावनाओं का आग्रह करें तो हमारे निर्णय बहुत भिन्न होंगे परन्तु वे अधिक वैध और स्पष्ट होंगे। प्रायः शाब्दिक निर्णय चिन्तन के उपयोगी उपकरण होते हैं और अंततोगत्वा उन्हीं से मूल्यों का निर्धारण होता है।

जीवन्त संवेगों की आसन्न और दुर्बोध प्रतिक्रिया तथा हमारी प्रकृति के अयुक्ति सिद्ध अंश से मूल्य उत्पन्न होते हैं। युक्ति सिद्ध अंश सत् रूप में सापेक्ष होता है। वह हमें तथ्यों से निगमित निर्णय की ओर ले जाता है, या अंश से पूर्ण की ओर उन्मुख करता है। उन तथ्यों को नहीं अनावृत करता जिनसे अपना कार्य सम्पन्न करता है। यदि कोई वरणीयता या दृष्टि परमसिद्ध और पौराणिक कह दी जाय तो इसी आधार पर उसे अयुक्ति सिद्ध माना जायेगा। व्यवहितता, अनुमिति और संश्लेषण युक्ति सिद्धि के मूल तत्त्व हैं। स्वयंसिद्धि का आदर्श भी उतना ही यादृच्छिक है, उतना ही किसी परिमित संगठन के अभाव पर निर्भर है जितना कोई दूसरा आदर्श। अंततः केवल मन की शांति ही उसमें किसी काम की चीज होती है जिसकी आराधना दार्शनिक सहज भाव से करता है। इस कथन के शाब्दिक औचित्य के बावजूद कि तर्क में युक्तता आवश्यक है वास्तव में युक्तता की क्या आकांक्षा है, कौन-सी चीज उसे शिव बनाती है, उसे अपरिहार्य वस्तु बनाती है, उसे उसका पूरा प्राधिकार देती है, वह उसकी अपनी प्रकृति नहीं होती बल्कि सुरक्षित और मितव्ययी कार्य में तथा संबोध सुख में हमारी उसकी आवश्यकता होती है।

यह स्पष्ट है कि सौंदर्य मूल्य की एक विशेष जाति है और मूल्य के विषय में सामान्य रूप से जो कहा गया है वह उसके विशिष्ट रूप पर भी लागू होता है। इस प्रकार सभी बौद्धिक निर्णयों, वस्तु-तथ्यों और संबंधों के निर्णयों को त्यागकर सौंदर्य की परिभाषा करने का प्रयास

किया गया है। मूल्य निर्णय के स्थान पर तथ्य निर्णय को स्थानापन्न करना पाण्डित्यदर्प और उद्धृत आलोचना का लक्षण है। यदि हम ऐतिहासिक संबंध या उचित वर्गीकरण के प्रयोजन के लिए किसी वैज्ञानिक रीति से किसी कलाकृति या प्राकृतिक सौंदर्य की व्याख्या करते हैं तो उसका तात्पर्य यह नहीं है कि हम सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टि से उसकी व्याख्या कर रहे हैं। कलाकृति या उसके रचयिता की जन्मतिथि का अन्वेषण किसी प्रकार रोचक हो सकता है, वह प्रत्यक्ष भाव में किसी साहचर्य को जोड़ कर हमारी सौंदर्य आशंसा को अल्पमेव भावित करता है। यदि प्रत्यक्ष प्रभाव का अभाव हो और वस्तु अपने आप में अरुचि कर हो तो उसका परिवेश महत्वहीन होगा।

दूसरी ओर जब तथ्यों का पुनर्कथन कलात्मक प्रकर्ष का एकमात्र मानक बना लिया जाता है तब मूल्यों की जगह तथ्यों की स्थापना का आभास लक्षित होता है। कुछ अनाड़ी भावुक किसी सरल और भावुक नवलेखक की कृति की भर्त्सना इसलिए करते हैं कि वह मात्र अनुकरण है। परन्तु स्थापना यह है किसी आदर्श का ठीक-ठीक अनुकरण करना सौंदर्य-सृष्टि की पहली सीढ़ी है। वास्तव में शुद्धता एक प्रभाव तत्त्व है। यह परिमित वस्तुओं के संबंध में अत्याज्य है। उसका अभाव आमोद के स्थान पर निराशा और अतोष पैदा करता है। जैसे-जैसे प्रकृति विषयक हमारा प्रेम और ज्ञान बढ़ता है वैसे-वैसे हम सत्य का मूल्यांकन करना सीखते हैं। परन्तु सत्यनिष्ठा केवल एक गुण है क्योंकि उस रूप में वह हमारे आमोद का उपस्कारक है। वह प्रभाव के अन्य घटकों के समशील है। जब कोई व्यक्ति उसका ऐकान्तिक महत्व स्वीकार कर लेता है और किसी दूसरी चीज की आशंसा करने में अक्षम हो जाता है तो वह अपनी सौंदर्यग्राही क्षमता के ह्रास का कपट करता है। उसकी वैज्ञानिक प्रवृत्ति कलात्मक प्रवृत्ति का तिरस्कार करती है।

तथ्यों का अपना निजी मूल्य होता है। प्रत्येक मूल्य दर्शन से हम प्रसन्न होते हैं। ज्ञान और आश्चर्य विशेषतः तीव्र आवेग होते हैं। जब हम किसी अनुकरण में लक्षणभूत सत्य पाते हैं, प्रसन्न होते हैं। इस प्रकार का आनन्द बहुत उचित होता है और सभी अनुकृत कलाओं के उत्तम प्रभावों में सन्निविष्ट होता है। इसलिए सत्यता और आदर्शवाद रसात्मक रूप से शिव होते हैं परन्तु चूँकि प्रत्येक वस्तु का अनुकरण समान रूप से आनन्ददायक और प्रभावकारी नहीं होता है, इसलिए वह सम्पूर्ण नहीं होता है। समरूपता तोष का उत्तम उत्स है इसलिए आलोचक उसकी माँग करने का अधिकारी होता है। परन्तु सत्यशीलता की रसात्मक अवाप्ति विज्ञान और कला के क्षेत्र में सत्य के भिन्न-भिन्न मूल्यों को व्यक्त करती है। विज्ञान सूचना की आकांक्षा से प्रेरित होता है। उसमें हम सम्पूर्ण सत्य और केवल सत्य की ही माँग करते हैं। कला मनोरंजन की आकांक्षा से प्रेरित होती है, वह हमारी अनुभूति और कल्पना को उत्तेजित करती है। जैसे-जैसे कला इन साधनों का उपसेवन करती है उसमें सत्य निविष्ट होता है।

सत्य का वैज्ञानिक मूल्य भी चरम या ऐकान्तिक नहीं होता। वह आंशिक रूप से व्यावहारिक अभिरुचि और आंशिक रूप से रसात्मक अभिरुचि पर निर्भर होता है। जैसे-जैसे चयन की पीड़ापूर्ण प्रक्रिया द्वारा धीरे-धीरे तथ्यों की समरूपता में आदर्श लाये जाते हैं, हम अपने वातावरण के ऊपर काबू पाते जाते हैं। चयन को पीड़ापूर्ण इसलिए कहा गया है कि

सत्य और असत्य में समान रूप से हमारी सहज-प्रवृत्ति रमती है और यदि अनुभव द्वारा नियंत्रण न किया जाय तो किसी बात का निर्णय नहीं हो सकता है। प्राकृतिक विज्ञान का यह चिरंतन मूल्य है और यही आज हमें फल दे रहा है। प्रकृति और जीवन के विषय में हम अपने पूर्वजों से उत्तम दृष्टि नहीं रखते परन्तु हमारे पास उनसे अधिक भौतिक उपलब्धियाँ हैं। इसी कारण वस्तुओं की संरचना और इतिहास के सत्य को जानना श्रेयस्कर है। यह इसलिए भी अच्छा है कि इससे हमें बृहतर क्षितिज का दर्शन मिलता है, क्योंकि प्रकृति का दर्पण दिव्य और आकर्षक है, घोर करुणा और महाशान्ति से आपूर्ण है। यह पृथ्वी के बच्चे के रूप में हमारा जन्म अधिकार हमें वापस कर देता है और पृथ्वी पर हमारा देशीकरण करता है। व्यावहारिक और काल्पनिक इन दो गुणों से सत्य के सारे मूल्य व्युत्पन्न होते हैं।

इसी प्रकार वौद्धिक विवेक से भिन्न रसात्मक और नैतिक विवेक को एक कोटि में रखना चाहिए। ये दोनों मूल्य-विवेक हैं। बौद्धिक विवेक तथ्य निर्णय है। यदि इसमें कोई मूल्य होता है तो वह केवल व्युत्पन्न। हमारा सम्पूर्ण बौद्धिक जीवन यदि सार्थक है तो केवल हमारे सुख-दुःख के संबंध के कारण।

रसात्मक और नैतिक विवेक का संबंध, सुन्दर और शिव का संबंध बहुत गहरा है परन्तु इनकी भिन्नता भी महत्वपूर्ण है। इस भिन्नता का एक कारक रसात्मक विवेक है। यह मुख्यतः भावात्मक होता है, शिव का प्रत्यक्ष दर्शन होता है। नैतिक विवेक प्रधानतः अभावात्मक होते हैं, अशिव के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं। भिन्नता का यह दूसरा कारक है। सौंदर्य के प्रत्यक्ष-दर्शन में, हमारा निर्णय अनिवार्यतः वास्तविक होता है और आसन्न अनुभूति के लक्षणों पर आधृत होता है। यह चेतना में कभी वस्तु की अंतिम उपयोगिता का विचार नहीं होता। इसके विपरीत नैति। सार्थकता का निर्णय उसमें सन्निविष्ट उपयोगिता की चेतना पर आधृत होता है। इन दोनों विशिष्टताओं के स्पष्टीकरण की आवश्यकता है।

सुखवादी नीति को मानव की नैतिक भावना से सर्वदा संघर्ष करना होता है। जीवन की गम्भीरता और मर्यादा के पोषक सत्यनिष्ठ मन इस मान्यता का विरोध करते हैं कि सदाचार का लक्ष्य सुखभोग है। सुख उनके लिए प्रलोभन-सा लगता है और कभी-कभी वे इस सीमा तक चले जाते हैं कि इसके तिरस्कार को गुण कहने लगते हैं। सत्य यह है कि सुख की प्राप्ति के साथ नैतिकता का विशेष संबंध नहीं है। यह गंभीर रूप से और अधिक श्रेय रूप से दुःख के निरोध से संबंधित है। सुख की संचित आराधना में कुछ कृत्रिमता है, आत्म भोग की अनिवार्यता में कुछ विसंगति प्रतीत होती है। उस दिशा में हम किसी कर्तव्य की भावना नहीं रखते, जीवन के कर्तव्य को पूरा कर हम भोग को स्वाभाविक मानते हैं, सुखभोग की हमारी स्वच्छन्दता और उसका नैरंतर्य कर्तव्य के निमित्त परम आवश्यक है।

कुछ भयावह अनिष्टों से पलायन जीवन का अमंगल व्यापार है। ये हैं मृत्यु, बुभुक्षा, रोग, क्लान्ति, वियोग और घृणा। इन चीजों का अपडर प्रत्येक नैतिक निषेध के पीछे दण्ड लिए खड़ा रहता है। अन्तरात्मा सत् में व्यक्त होती है और जिस मन को इन बातों ने अभिभूत कर लिया है, वे सुख के अन्वेषण की निराशाजनक निस्सारता का अनुभव करते हैं। वे सोचते हैं कि अमोदों और परिवर्तमान आवेगों के प्रति आसक्त जीवन घातक खतरों में अनजाने फँस जाता है। जिस क्षण समाज अपने वातावरण के प्रारंभिक दबाव से मुक्त होता है और प्राथमिक

दोषों से सह्य रूप में सुरक्षित हो जाता है, नैतिकता शिथिल हो जाती है। आगे जीवन किन रूपों को स्वीकार करेगा, यह नैतिक अधिकारों द्वारा आरोपित नहीं होता है, उनका निर्धारण जाति की प्रतिभा, समय की माँग और प्रत्येक मन की रुचि तथा लब्ध साधन करते हैं। कर्तव्य का शासन स्वतंत्रता के शासन का नियंत्रण करता है और महिमा के बचाव के लिए विधि-निषेध करता है।

सौंदर्य की आशंसा और कला में उसका सन्निवेश ऐसी क्रियाएँ हैं जो हमारे अवकाश के क्षणों में सम्पादित होती हैं। उस क्षण हम अमंगल की छाया और भय की दासता से मुक्त होते हैं और अपनी प्रकृति के आनयन का अनुसरण करते हैं। वह हमें जहाँ ले जाती है वहाँ जाते हैं। इसलिए यहाँ जिन मूल्यों की हम चर्चा करेंगे वे गुणात्मक हैं। वे नैतिक जगत् में रिक्त माने जाते हैं। विरूपता कोई अपवाद नहीं है क्योंकि वह किसी वास्तविक पीड़ा का कारण नहीं है। अपने आप में वह विनोद का एक श्रोत है। जब उसका लक्षण मुख्यतया अप्रिय माना जाता है तब उसका दर्शन वास्तविक अनिष्ट हो जाता है जिसके प्रति हम व्यावहारिक और नैतिक धारणा बना लेते हैं। इसलिए सुखदायक कभी वास्तविक नैतिक निषेध का लक्ष्य नहीं होता।

अब हम रसात्मक और नैतिक मूल्यों का भेद निरूपित करने का प्रयास करेंगे। कर्म और क्रीड़ा के बीच जो भिन्नता है, वही यहाँ भी होती है। इन पदों का प्रयोग भिन्न अर्थों में हो सकता है। नैतिक वर्गीकरण के महत्त्व का जो अर्थ किया गया है वह इससे भिन्न हो सकता है। हम उन सब चीजों को क्रीड़ा कह सकते हैं जो अनुपयोगी क्रियाएँ हैं, उस कसरत को क्रीड़ा कह सकते हैं जो ऊर्जा व्यय करने के शारीरिक आवेग से पैदा होती है जिसे जीवन की आवश्यकता ने खर्च नहीं किया है। हमारी ऐसी सभी क्रियाएँ कर्म हैं जो जीवन के लिए आवश्यक या उपयोगी हैं। स्पष्ट रूप से यदि कर्म और क्रीड़ा का विभाजन इस प्रकार लक्ष्यपूर्वक उपयोगी और अनुपयोगी क्रियाओं में किया गया तो कर्म स्तुतिवाचक पद होगा और क्रीड़ा अवज्ञासूचक। अच्छा यह है कि हम अपनी सम्पूर्ण ऊर्जा का लेखा करें और उसका कुछ भी अंश निरुद्देश्य गति में बर्बाद न होने दें। इस अर्थ में क्रीड़ा अपूर्ण अनुकूलन का लक्षण है। बाल्यावस्था के लिए यह उचित है जब शरीर और मन वातावरण के साथ मिलकर चलने में सक्षम नहीं होते परन्तु युवावस्था में यह अनुचित कहा जाता है और वृद्धावस्था में दया का पात्र माना जाता है क्योंकि यह मानव प्रकृति के क्षय और जीवन के अवसरों को पकड़ने की असफलता का लक्षण है।

इस प्रकार क्रीड़ा चपल कृत्य है। इस अर्थ को समझ कर कुछ लोग उसके प्रति घृणा भाव रखते हैं। किसी अंश तक प्रत्येक उदार व्यक्ति इस भाँति सोचता है। वह सामाजिक आमोद, कला और धर्म को क्रीड़ा के अंतर्गत मानता है और इस शब्द से उसकी भर्त्सना करता है। जैसे-जैसे जाति अपनी मानसिक परिपक्वता की ओर अग्रसर होती है वैसे-वैसे क्रीड़ा-वृत्ति का ह्रास होता है। परन्तु यदि इस प्रकार के अनुकूलन की प्रक्रिया में हमारे जीवन के सभी अलंकारों को छिन्न कर दिया जाय तो हमारी प्रकृति का विकास रुक जायगा और मानव अधिक दरिद्र हो जायगा। संभवतः विकास की यही प्रवृत्ति है और हमारे वन्य पूर्वजों ने अपने श्रम और युद्ध के बीच, अपनी वासना और गाथा के साथ अपने देशीकृत वंशजों के लिए सुरक्षित जीवन से अच्छा जीवन व्यतीत किया।

हम आशा कर सकते हैं कि अत्यन्त उपयोगितावादी मन में भी परोपजीवी रूप में कुछ कल्पना शेष रहेगी। इतिहास की जो भी दिशा हो, हम यहाँ भविष्यवाणी नहीं कर रहे हैं, पर जो काम्य है वह प्रभावित नहीं होगा। इस आधार पर स्वतःस्फूर्त और आमोदजनक व्यापारों की भर्त्सना करना जीवन का अविचारित मूल्यांकन करना है कि वे आत्म-रक्षा के लिए व्यर्थ हैं। इस प्रकार की पद्धति के लिए शाश्वत गति की स्थापना करना विश्व का योग्यतम कृत्य होगा। स्वीकृत उपयोगिता के लिए किये गये कार्य के विरुद्ध व्यर्थता का आरोप घातक है परन्तु जो कृत्य स्वतः कृत्य के लिए ही किये जाते हैं उनका अपना औचित्य है।

मनुष्य की सभी उदार और काल्पनिक क्रियाओं को क्रीड़ा कहने में मान्य औचित्य है क्योंकि वे स्वतःस्फूर्त होती हैं और किसी बाहरी आवश्यकता के दबाव या भय वश नहीं की जातीं। आत्मरक्षा के लिए उनका उपयोग बहुत अप्रत्यक्ष और आनुषंगिक हो सकता है परन्तु इसी कारण वे व्यर्थ नहीं कही जा सकतीं। इसके विरुद्ध, हम स्वच्छन्द और उदार कृत्यों में, जीवन के अलंकरण और कल्पना के संस्कार में नियोजित शक्ति के अनुपात में, उपलब्धि के आधार पर किसी जाति की खुशहाली और सभ्यता के स्तर का मापन कर सकते हैं। क्योंकि मनुष्य अपनी प्रतिभा की स्वतःस्फूर्त क्रीड़ा में अपने आपको और अपनी खुशी को पाता है। दासता उसकी हीनतम अवस्था है। प्रायः वह पृथिवी की कृपणता और स्वर्ग की निष्ठुरता का वैसे ही दास होता है जैसे किसी मालिक या संस्था का। वह तब भी दास ही रहता है जब उसकी सारी शक्ति आपदा और मृत्यु के प्रतिकार में व्यय होती है, जब उसकी सभी क्रियाएँ बाहर से आरोपित होती हैं और उसके स्वच्छन्द भोग के लिए कोई दम या शक्ति शेष नहीं रहती।

यहाँ कर्म और क्रीड़ा का प्रयोग भिन्न अर्थों में किया गया है। ये दासता और स्वच्छन्दता के पर्याय हैं। यह परिवर्तन आत्मपरक दृष्टि से गोचर होता है। अब हम कर्म से केवल उपयोगी क्रिया का भाव नहीं ग्रहण करते बल्कि उसे भी कर्म मानते हैं जो अनिच्छापूर्वक और आवश्यकता की उत्तेजनावश किया जाता है। अब हम क्रीड़ा पद से उन क्रियाओं का ही संकेत नहीं करते जो निरुद्देश्य हैं बल्कि जो स्वतःस्फूर्ति के प्रयोजन के लिए की जाती हैं चाहे उनका बाह्य उपयोग हो या न हो। इस अर्थ में क्रीड़ा अत्यन्त उपयोगी व्यापार है। क्रीड़ा को निरपेक्ष बनाकर जहाँ तक वातावरण के साथ हमारा क्रमात् अनुकूलन होगा वहाँ तक यह कर्म भाव के उच्छेदन की ओर प्रवृत्त होगा और क्रीड़ा को सार्वत्रिक बनायेगा। क्योंकि अन्तर्मन के सभी विरोधों और भूलों के उन्मूलन के साथ मानव जाति अपनी स्फूर्ति से वह सब करने लगेगी जो उसके लिए हितकर है और बाह्य उत्तेजना और दबाव के बिना सुरक्षा और समृद्धिपूर्वक रहने लगेगी।

किसी अर्थ में सभी मूल्य रसात्मक होते हैं। इस अर्थ में कर्म अवज्ञासूचक और क्रीड़ा स्तुतिपरक पद हैं। कल्पना प्रसूत वस्तुओं की गरिमा और महत्व को मानने वाले लोगों को इस वर्गीकरण को अपनाने में हिचकने की जरूरत नहीं कि कर्म क्रीड़ा है। इससे हमारा यह संकेत नहीं है कि उनका कोई मूल्य नहीं होता, बल्कि उनका वास्तविक मूल्य होता है। उसमें सभी अर्थों का एक स्रोत होता है। स्पष्ट रूप से सभी मूल्यों को अंततः वास्तविक होना चाहिए। उपयोगी अपने परिणाम के प्रकर्ष के कारण शिव होता है परन्तु उसे कहीं न कहीं केवल उपयोगी होना अथवा केवल प्रकर्षशील होना त्यागना पड़ता है। कहीं न कहीं हमें शिव

की उस स्थिति पर पहुँचना होता है जहाँ वह अपने आप में शिव हो, अपने लिए ही शिव हो अन्यथा सम्पूर्ण प्रक्रिया निरर्थक होगी और हमारे पहले लक्ष्य की उपयोगिता भ्रामक होगी। हम यहाँ परस्पर प्रतिद्वन्दी रसात्मक और नैतिक मूल्यों के भेद-निरूपण के दूसरे कारक पर पहुँचते हैं।

यदि हम जीवन से सारे दोषों का वर्जन करने का प्रयत्न करें, जैसा लोकप्रिय कल्पना ने प्रायः किया है, तो रसात्मक सुखों के अतिरिक्त बहुत कम अमिश्र सुख-घटक अवशेष रहेंगे। हम वासना और बुभुक्षा की तुष्टि में भौतिक सुख प्रधान मानते हैं, परन्तु जब हम आदर्श रूप से हानि या विचलन की संभवता का वर्जन करते हैं तो वे भी रसात्मक रंग पकड़ लेते हैं। प्रकाश और संगीत के अतिरिक्त किस साधन से स्वर्ग की दिव्यता की प्रतीति हो सकती है। अधिकांश उदारमना धर्मगुरु सत्य ज्ञान को मोक्षदायक दृष्टि का सार मानते हैं, वह भी रसात्मक आह्लाद है क्योंकि सत्य का जब कोई और व्यावहारिक उपयोग नहीं रहता, वह भूदृश्य बन जाता है। उसकी रम्यता काल्पनिक होती है और उसका मूल्य रसात्मक होता है।

भावात्मक या सारभूत क्रियाओं के प्रति सभी मूल्यों की यह न्यूनता इतनी अपरिहार्य है कि इसने अत्यन्त साहसी और तर्कशील मन को भी अनुभावित किया है। व्यावहारिक उलझनों और जीवन में सत् और शिव मूल्यों के रूप में उन की स्थिति से—रसात्मक वस्तुओं की स्वच्छन्दता के आनयन से–सत् और शिव वस्तुओं का निषेध किया गया है। ऐसे विचारक प्रकृत रूप में मान लेते हैं कि नैतिक मूल्य वास्तविक और श्रेष्ठ होते हैं और चूँकि नैतिक मूल्य भौतिक अनिष्ट के अस्तित्व या प्राधान्य के लिए उत्पन्न नहीं होते, इसलिए वे इस अयुक्त मत का स्वागत करते हैं कि अनिष्ट के बिना किसी शिव की कल्पना नहीं की जा सकती।

निःसंदेह उपदेशकों के कठोर निषेध ने इस स्थिति में रहने में सहायता की है। पर वसन्त का मादक समीर या किसी सुन्दर रूप का दर्शन उन्हें उस स्थिति से च्युत करने के लिए पर्याप्त होगा। उनका नैतिक स्वभाव, उनकी कल्पना की बेड़ियाँ और उनकी प्राचीन धारणाएँ उन्हें पुनर्चिन्तन से रोकती हैं और यह स्वीकार करने से मना करती हैं कि नैतिकता साधन है साध्य नहीं है। यह मानव के अदेशीकरण की कीमत है और अनुकूलन के प्रारंभिक दोष का परिणाम है। यह सुरक्षा और संभवता की संकीर्ण सीमा के अधीन मानव आचार का दमन है। भय को हटायें, पीड़ा को दूर करें, दया के अवसर को हटायें तो नैतिकता की आवश्यकता अपने आप हट जायेगी, तब "तुम्हें यह नहीं करना चाहिए" जैसा कथन अशिष्ट समझा जायेगा।

उपदेश के उन्मूलन से जीवन का उच्छेद नहीं होगा। भावनाएँ तब भी व्यक्त होंगी, सहज प्रवृतियाँ तब भी कार्यशील रहेंगी और सभी जीवों को उन क्रीड़ाओं तथा व्यापारों की ओर ले जायेंगी जो उनके लिए प्रिय होंगे। उस आदर्श समाज का खाली समय हमारी प्रकृति के नानात्व, कला की असीमता तथा हमारे सहवासियों के सौहार्द से भर जायेगा। ये हमारे यथार्थ आनन्द के तत्त्व हैं। ऐसे तत्त्व हैं जो हजारों दुखों और प्रमादों के बीच जीवन के यथार्थ लाभ को प्रदान करते हैं।

जब इस प्रकार की अन्तरात्मा का निर्माण हो जाता है और युक्तियुक्त विचार आसन्न सत्ता ग्रहण कर लेते हैं तब उन विचारों के प्रति हमारी अभिवृत्ति रसात्मक हो जाती है। प्रतिष्ठा, सत्यनिष्ठा और स्वच्छता इसके स्पष्ट उदाहरण हैं। जब इन गुणों का अभाव कोई

प्रवृत्यात्मक क्षोभ उत्पन्न करता है जैसा सुसंस्कृत जन में होता है तब उसकी प्रतिक्रिया मूलतः रसात्मक होती है क्योंकि यह आक्षेप या परहित की इच्छा पर आधृत नहीं होती बल्कि रचनात्मक संवेदनशीलता पर निर्भर होती है। इस रसात्मक संवेदनशीलता को औचित्यपूर्वक नैतिक कहा जा सकता है क्योंकि यह अन्तरात्मा के संस्कार का प्रभाव होती है और शिव के श्रमसाध्य गुणों की अपेक्षा समाज में अधिक शक्तिशाली होती है क्योंकि यह बहुत अधिक स्थिर और ग्रहणशील होती है। यह नैतिक रूप से शिव की रसात्मक आकांक्षा है और मानव प्रकृति का श्रेष्ठ गुण है।

सत्ता के स्वतंत्र होने के लिए और वास्तविक मूल्य अर्जित करने के लिए अनुकरण सिद्धान्तों की आदर्श प्रवृत्ति कभी-कभी अमंगलकारी होती है। सहज प्रवृत्ति और उपयोगितावादी नैतिकता के विरोध की जड़ उक्त भावना और न्याय है। प्रत्येक मानव-सुधार सामान्य सिद्धान्तों की सत्ता के विरुद्ध उसके प्राथमिक हितों का पुनर्ज्ञापन होता है। ये सिद्धान्त जन-हितों का उचित रूप से प्रतिनिधान नहीं करते, फिर भी मानव की मूर्तिपूजक श्रद्धा प्राप्त करते हैं। इस नैतिक अंधविश्वास में शौर्य और धर्म पतन के पात्र नहीं होते। यह तब होता है जब यथार्थ शिव के स्थान पर कोई अमूर्त शिव रखा जाता है। कार्पण्य दोष इसका विशेष उदाहरण है। कुछ इसी तरह हमारे श्रद्धापरक जनों के अर्द्धांश का नैतिक सिद्धान्त है। कुछ उपयोगी आदतों का अभ्यास करने में व्यक्ति को उन लाभों का उत्सर्ग करना पड़ता है जो उन आदतों के प्राथमिक आधार और औचित्य होते हैं। मस्तिष्क की शक्ति को व्यय कर सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त होता है और सुख तथा स्वच्छन्दता की बलि देकर धन प्राप्त होता है।

यह भूल उस समय अधिक रमणीय हो जाती है जब व्युत्पन्न मूल्य अपने आप कुछ रसात्मक आकर्षणयुक्त हो जाता है जैसे जगत् के विस्तृत नाट्य में अपना अभिनय पूरा करने के निःसंग विचार में आकर्षण निहित होता है। चाहे उससे किसी अन्य को कोई लाभ हो। इसी तरह कृपण की वासना उस समय कुछ सामान्य हो जाती है जब उसकी आँखें केवल अपने बैंक खाते की संख्याओं से उतनी आर्कषित नहीं होतीं जितनी स्वर्ण की पीत आभा से। किसी दुःखदूर्ण अभिनय के दर्प और सचेत आत्मत्याग की महिमा में ऐसा ही आसन्न आकर्षण होता है। इस प्रकार अनेक अयुक्त निकष एक तरह की महत्ता प्राप्त कर लेते हैं। किसी लक्ष्य का चयन महत्तम शिव के रूप में किया जाता है। उसमें काल्पनिक मूल्य ही नहीं बल्कि वास्तविक मूल्य होते हैं। वह न केवल दूसरे मूल्यों की प्राप्ति का साधन होता है बल्कि स्वयं उसकी उपलब्धि एक मूल्य होती है।

आत्मनिग्रही के लिए प्राकृतिक विधान या तर्क की अनुरूपता का जो महत्व होता है वही ईसाई लोगों में भगवान् की आज्ञा के पालन का होता है। उपयोगिता के निकष पर परीक्षित मौलिक औचित्य के अलावा, इस अभिवृत्ति में विशेष भावात्मक और काम्य अर्थ होता है। यह भावात्मक और भावाविष्ट शक्ति भक्ति-उन्माद का रहस्य है। यह आस्था को विशिष्ट बना देती है और अन्तरात्मा के ऊपर ऐकान्तिक ईशत्व प्रदान करती है। इससे मानव प्रकृति की अनेक आकांक्षाओं के प्रति अन्याय होता है और वे एकांगी हो जाती हैं।

भगवान् या विवेक की आज्ञा का पालन पूर्व सुनिश्चित और श्रेष्ठ रूप से मनुष्य को उसके लक्ष्यों का संतुलन और उसकी इच्छाओं का संश्लेषण करने का अल्पतम पीड़ाजनक मार्ग प्रस्तुत करता है। अत्यन्त प्रेरक प्रकृति के लिए भी यह अनुशासन परमावश्यक है, क्योंकि यदि बलिदानी को यह विश्वास न हो कि न्याय के समय प्राकृतिक शक्तियाँ उसके पक्ष में होंगी, वह अपना उत्सर्ग नहीं करेगा। परन्तु मानव मन एक चंचल द्रव्य है और वे विधियाँ जो उच्चतम शिव के लिए उसे तैयार करती हैं, बिना किसी आंशिक त्याग के, अनेक विशेष आवेगों के दमन बिना, उसमें स्थापित नहीं की जा सकतीं। इसलिए विवेक की पुकार या परमदेव का आदेश उसे चरम संतोष प्रदान करता है। यह आदेश अनेक विकीर्ण और अपवर्ती शक्तियों के विरुद्ध होता है जिन्हें हम अमंगल शब्द से ज्ञापित करते हैं। अचिन्तनशील अन्तरात्मा अपने प्रकर्ष के अंतस्थ उत्स को भूलकर शान्त और संकुचित आसन्नता ग्रहण कर लेती है। मानो उक्त आदेश निरपेक्ष और वास्तविक रूप से आधिकारिक है। पर कोई यह नहीं वता सकता कि वह कहाँ से उत्पन्न हुआ। सहज प्रवृत्तियाँ सरलतापूर्वक इस रहस्यमयता को पैदा करती हैं। वे किसी रुचिकर और उत्सुक भावावेश से पूर्ण काल्पनिक क्रिया का सम्पादन करती हैं। भक्ति और प्रेम की कामना में निरपेक्ष रूप से अंतरात्मा में यह प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। क्योंकि इन सबमें इष्ट वस्तु के प्रति वैयक्तिकता, निश्चितता और ऐकान्तिकता होती है। यह बात कर्त्तव्यनिष्ठता के अनुकूल होती है। संकल्प की विधियाँ और भावावेश की ऊष्मा किसी पूज्य प्रभाव की चेतना में विगलित हो जाती है।

ये जटिलताएँ घोर सांसारिक और वाचाल पुरुष के लिए चाहे प्रवंचक हों, वे मानव-प्रकृति के आलोचक के ऊपर आरोपित नहीं हो सकतीं। यदि सामान्य वस्तुएँ विशेष संतोष प्रदान कर अपना स्वनिष्ठ मूल्य नहीं प्राप्त करतीं तो भी उनके प्रति कल्पनातीत रूप से सुखद और ओजपूर्ण धारणा होती है। कुछ सिद्धान्तों और रीतियों का वास्तविक लाभ किसी अर्थ में रसात्मक होने के लिए कम सत्य नहीं होता है। घोर उपयोगितावाद मानव-प्रकृति से कल्पना को घटा देता है, या कम से कम हमारी प्रसन्नता में उसके अमित योगदान का उपहास करता है। वह कल्पना को वस्तुतः शिव के ऊपर प्राथमिकता नहीं देता।

इसका एक उदाहरण लें। यदि यह सिद्ध किया जा सके कि किसी विशेष परिस्थिति में जन कल्याण की सुरक्षा के लिए राजतंत्र उपयुक्त है, इसलिए काल्पनिक और नाटकीय उत्तमता के आधार पर राजतंत्र वरेण्य होना चाहिए और उसे स्थापित करना चाहिए। परन्तु यदि इस अमूर्त लाभ से मतान्ध हो कोई दल जनता के महत्वपूर्ण हितों का त्याग कर दे तो उससे अन्याय व्यक्त होगा। किसी संदेह की स्थिति में कोई राष्ट्र पीड़ाजनक संघर्षों के पश्चात् निश्चय करता है कि वह अपनी भावात्मक माँग के लिए कितना त्याग करे। महत्वपूर्ण बात यह है कि किसी सिद्धान्त का प्रतिनिधि या वास्तविक मूल्य एक चीज है और उसका रसात्मक मूल्य दूसरी चीज। रसात्मक मूल्य का निर्णय बाहरी हानियों की तुलना में किया जा सकता है। जब कभी क्रोधवश, जनपीड़ा या सुख के अवमान वश किसी निरपेक्ष सिद्धान्त की स्थापना के लिए इस तरह के श्रेष्ठ लाभ की समीक्षा और संतुलन का बहिष्कार कर दिया जाता है, हमारे पास व्यावहारिक अनुशासन रहित नैतिकता की वैयक्तिक और विचित्र पद्धति होती है। यह प्रमाण है कि मिथ्याधर्मी कल्पना ने नैतिकता के सुष्ठ और वास्तविक राज्य को आक्रान्त किया है।

अब तक हमने अपने क्षेत्र से बौद्धिक और नैतिक निर्णयों को सावधानीपूर्वक पृथक् किया और देखा कि हमारा संबंध केवल मूल्यों के विविक्त और आसन्न प्रत्यक्षीकरण से है। परन्तु इन विभेदों के बावजूद सौंदर्य भावना के अत्यन्त स्पष्ट लक्षण की परिभाषा नहीं की जा सकी है। सारे आनन्द वास्तविक और प्रत्यक्ष मूल्य होते हैं। परन्तु वे सब सौंदर्य के प्रत्यक्षीकरण नहीं होते। वस्तुतः उस प्रत्यक्ष का सत् आनन्द होता है। स्फुट रूप से उस विशेष आनन्द में जटिलता होती है जो दूसरों में विद्यमान नहीं होती और जो भाषा और बुद्धि द्वारा उनके और दूसरों के बीच भद निरूपित करन का आधार है। इस भेद की कोटियों को लक्ष्य करना लाभप्रद होगा।

शारीरिक आनन्द सौंदर्य के विभावन आनन्द के समान नहीं होता। शारीरिक आनन्द से हमारा तात्पर्य उन आनन्दों से है जो शरीरपिंड से संबद्ध हैं। इसमें रूप और ज्ञान के सभी तत्त्व होते हैं। रसात्मक आनन्दों की भी भौतिक दशाएँ होती हैं। वे नयन-श्रवण की क्रिया पर निर्भर होते हैं, स्मृति और मस्तिष्क की दूसरी आदर्श क्रियाओं पर निर्भर होते हैं। परन्तु शरीर-क्रियात्मक अध्ययनों को छोड़कर हम इन आनन्दों को उनके शरीरपिंड से संबद्ध नहीं करते। रसात्मक आनन्द से संबद्ध विचार शारीरिक कारणों से संबद्ध विचार नहीं होते। ऐसे आनन्द जिन्हें हम शरीरनिष्ठ कहते हैं, और तुच्छ मानते हैं, हमारा ध्यान शरीर के किसी अंग की ओर आकृष्ट करते हैं और वे किसी दूसरी वस्तु को उतना व्यक्त नहीं करते जितना उस अंग को जिसमें वे उत्पन्न होते हैं।

यहीं शारीरिक और रसात्मक आनन्द में स्पष्ट अंतर दिखाई देता है। रसात्मक आनन्द का अंग अवश्य ही पारदर्शी होना चाहिए। उसे हमारे ध्यान का अवरोध नहीं होना चाहिए। उसे सीधे किसी बाह्य वस्तु तक ले जाना चाहिए। इस प्रकार रसात्मक आनन्द की महिमा और उसका परास बहुत बुद्धिग्राही होता है। आत्मा मुग्ध हो जाती है, मानो वह शरीर से अपना संबंध भूल चुकी है और कल्पना करती है कि वह स्वच्छन्दतापूर्वक सम्पूर्ण संसार में विचर सकती है। मन भारत से अमेरिका या इंगलैण्ड तक शरीर के किसी स्थानीय तनाव में चेतन परिवर्तन लाये बिना भ्रमण करता है। अशरीरी होने का यह भ्रम बड़ा उत्साहवर्द्धक और आनन्ददायक है जब कि रक्त-मांस मे अवगाहन और अंगों में परिसीमन हमारी चेतना को स्थूलता और स्वार्थ के रंग से भर देता है। सामान्यतः शारीरिक आनंद का तुच्छतर साहचर्य आपेक्षिक ग्राम्यता को समझने में मदद करता है।

कभी-कभी कहा जाता है कि आनन्द और सौंदर्य-भावना के बीच भेद रसात्मक तुष्टि की अनासक्ति के कारण होता है। यह माना जा सकता है कि दूसरे सुखों में हम अपनी भावना और वासना का उपकार करते हैं। सौंदर्य की आराधना में हम अपने से ऊपर उठ जाते हैं, वासनाएँ शान्त हो जाती हैं और हम किसी शिव के परिचय से मुदित होते हैं और उस पर अधिकार करने के फेर में नहीं पड़ते। चित्रकार निर्झर की ओर प्यासे आदमी की आँख से नहीं देखता, न तो लावण्यमयी कामिनी की ओर ग्राम्य भाव से देखता है। कहा जाता है कि यह भेद सुखभोग की निर्वैयक्तिकता में निहित होता है जो प्रकृत न होकर भी बड़ा तीव्र और कोमल होता है और ईषत् रसिक मन को तुष्टिकारक प्रतीत होता है।

दूसरी ओर रसात्मक प्रमोदों की अनुमित अनासक्ति बहुत मुख्य नहीं होती। किसी चित्र की आशंसा उसके क्रय की भावना के अनुरूप नहीं होती बल्कि उस इच्छा के निकट या उसको पूर्वगामी होती है। प्रकृति का सौंदर्य या मूर्तिकला का सौंदर्य उपभुक्त होने से समाप्त नहीं हो जाता। एक व्यक्ति के उपभोग के बाद भी दूसरे दर्शक को मुग्ध करने का सारा गुण यथावत् धारण करता है। परन्तु यह परिस्थिति आनुषंगिक है। नाट्य-अभिनय जैसे कालभंगुर और अचिरस्थायी रसात्मक तत्त्व का सुखभोग स्पर्धा का कारण हो जाता है और किसी भी दूसरे आनन्द की भाँति ईर्ष्या का विषय बन जाता है। मूर्ति का सौंदर्य कभी-कभी थोड़े लोगों के सुखभोग का विषय हो जाता है क्योंकि उसके लिए स्थान-विशेष की यात्रा आवश्यक होती है या उस तक पहुँचने का कोई दूसरा बाधा होती है। इसलिए ऐसा रसात्मक सुख उतने ही स्वार्थपूर्वक ग्रहण होता है जैसा दूसरा।

स्थापना यह है कि जब हम रसात्मक सुख का अन्वेषण करते हैं हमारे मन में कोई दूसरा भोग नहीं होता। हम अपने अहम् और स्वत्वाधिकार के तोष को ध्यान सुख से मिलाना नहीं चाहते। यह सत्य है, पर यह सभी प्रयत्नों और भोगों का मूल है। प्रत्येक वास्तविक आनन्द किसी अर्थ में अनासक्त होता है, उसका अन्वेषण किसी बाह्य प्रयोजन से नहीं होता। जिससे मन भरता है, वह परिगणन नहीं होता बल्कि संवेग श्लिष्ट कोई वस्तु या घटना होती है। तर्कशील व्यक्ति अहम् के विचार को उसके आनयन का निकष मानते हैं परन्तु वह अहम् जिसके परितोष और अभ्युदय के लिए मनुष्य जी सकता है, उद्देश्यों और स्मृतियों का संघात है। उससे कोई प्रत्यक्ष वस्तु ग्रहण होती है जिसमें कभी नूतन और अनासक्त अभिरुचि निहित होती है। वही परितोष से मिलकर स्वार्थपरता का निर्माण करती है, जो निष्कपट होती है और अत्यन्त परोपकारी निर्वैयक्तिक संवेगों से अधिक स्वार्थी नहीं होती। स्वार्थपरता की अन्तर-वस्तु परार्थता की संहति है। किसी की बुभुक्षा या प्रकृत प्रेम में अहम् जैसा निर्देश नहीं होता फिर भी अपने आहार, पान, भवन, भूमि, बालक, श्वान में अनुरक्त व्यक्ति स्वार्थी कहा जाता है। क्योंकि ये रुचियाँ सहज और स्वाभाविक होने पर भी दूसरों द्वारा सहभुक्त नहीं हैं। वह व्यक्ति निःस्वार्थी होता है जिसकी प्रकृति अधिक सार्वजनिक दिशोन्मुख होती है, जिसकी रुचि अधिक व्यापक रूप से विस्तृत होती है।

विचार केवल अपने वस्तु रूप में निर्वैयक्तिक होते हैं, अपने विषय या अभिकर्ता में आकर वे वैसे नहीं होते। चूँकि विचार व्यक्ति के होते हैं इसलिए अनासक्ति रुचि किसी की रुचि ही होती है। यदि सौंदर्य में हमारी रुचि न हो, यदि हमें अपने सुख से कोई मतलब न हो तो चाहे वस्तुएँ सुन्दर हों या असुन्दर हों, हम रसात्मक भावना का पूरा अभाव व्यक्त करेंगे। सुख की अनासक्ति सभी ग्राम्य और सहज तुष्टियों से विरक्ति है। वह आत्मा जैसी किसी सामान्य धारणा के नियमों से बद्ध नहीं होती है जिसकी सारी शक्ति उसके घटक तत्त्वों की स्वतंत्र ऊर्जा से उत्पन्न होती है। मैं अपनी आत्मा की चिन्ता करता हूँ क्योंकि आत्मा उस वस्तु का नाम है जो मेरे हृदय में है। व्यक्तित्व की मानससृष्टि को मौखिक रूप से खड़ा करना, उसे उन रुचियों से अलग, अनुरक्ति की कोई वस्तु बनाना जो उसकी विषय-वस्तु और तथ्य हैं, नैतिकतावादी को दंभी बना देता है और नैतिकता को अंधविश्वास। आत्मा विशेष

वस्तु है, जाति की छाया है। तर्क द्वारा उसके स्वरूप का निर्णय करने से पहले वस्तुनिष्ठ रुचियों से उसे अलग करना होगा।

सौंदर्य के प्रति हमारे प्रेम की उक्त अनासक्ति उसके दूसरे लक्षण का उद्‌घाटन करती है जिसे हम उसकी सार्वभौमता या सार्वजनिकता कहते हैं। ऐन्द्रिक सुख में कोई रूढ़िवादिता नहीं होती। कोई वस्तु जो हमें आनन्द देती है उसकी क्षमता में कोई ऐसी सत्ता नहीं निहित होती जो दूसरे को भी आनन्द दे। परन्तु जब हम कहते हैं कि कोई वस्तु सुन्दर है तो हमारे निर्णय का भाव यह होता है कि वस्तु अपने आप में सुन्दर है। समीक्षा के क्षेत्र में इस अभिव्यक्ति का अर्थ यह होता है कि वह दूसरे को भी सुन्दर लगनी चाहिए। इस सिद्धान्त के अनुसार सार्वभौमिकता का दावा रसात्मकता का सत् है जो सौंदर्य के प्रत्यक्षीकरण को संवेग के स्थान पर निर्णय बना देता है। जब तक हम अपने निर्णय में किसी विरोधाभासी सार्वजनिकता को स्वीकार नहीं करते, सारी रसात्मक धारणाएँ असंभव होंगी और सारी समीक्षा यादृच्छिक और आत्मनिष्ठ होगी। इस प्रकार हम दार्शनिक द्वन्द को बढ़ाते जायेंगे। पर संयोगवश हमें भूलभुलैया में जाने की आवश्यकता नहीं है। ऐसी समस्याओं के अध्ययन की अधिक सरल और स्पष्ट रीतियाँ हैं। इनके अनुसार हम प्रस्तुत कथन के सत्य को चुनौती दें और उसकी व्याख्या करें तथा मानव-प्रकृति में ही उसकी भूमि पाने का प्रयास करें। इसको सिद्ध करने के पहले, हम विचार के प्रकृत भ्रम या अशुद्धि को बद्धमूल और घातक पक्षपात के रूप में फैलाकर उसे किसी विस्तृत संरचना का केन्द्रविन्दु बनाने का साहस दिखाएँ।

सार्वत्रिकता का दावा कितनी प्रकृत भ्रान्ति है, इसे बताना कठिन नहीं है। दुर्भायवश रसात्मक वस्तुओं के विषय पर कुछ अधिक मतैक्य नहीं है और जो कुछ मतैक्य है भी तो वह मनुष्य की पैदाइश, प्रकृति और परिस्थिति की समानता के आधार पर परिमित है। यह ऐसी समानता है जो देश के अनुकूल सभी निर्णयों और भावनाओं में एकरूपता लाने की ओर प्रवृत होती है। यह कहना निरर्थक है कि एक व्यक्ति के लिए जो सुन्दर है वही दूसरे के लिए भी। यदि उनकी भावनाएँ एक जैसी हों, उनके साहचर्य और स्वभाव एक समान हों तो निश्चय ही दोनों के लिए एक वस्तु सुन्दर होगी। यदि उनकी प्रकृति भिन्न है तो जो रूप एक के लिए ग्राह्य होगा, दूसरे के लिए अग्राह्‌य हो सकता है। स्पष्ट है कि एक समान गुणों को स्वीकार करने का दावा एक प्रकार की क्षमता होने पर निर्भर है। परन्तु दो व्यक्तियों की ठीक-ठीक एक ही क्षमता नहीं होती और न तो दो व्यक्तियों के लिए वस्तुओं का ठीक-ठीक एक ही मूल्य होता है।

यहाँ हम जो कहना चाहते हैं मोटे तौर पर उसका तात्पर्य यह है कि कोई व्यक्ति निर्दिष्ट सौंदर्य देख सकता है यदि उसकी क्षमता, शिक्षा या अवधान ऐसा हो जैसा हमारा आदर्श उससे चाहता है और किसी व्यक्ति को हमारे आदर्श के अनुकूल कैसे होना चाहिए, इसका उत्स जटिल और अन्वेषण का विषय है। हम अपने संदिग्ध विचारों को सार्वजनिक रूप से स्वीकृत देखकर आश्वस्त होते हैं या प्रसन्न होते हैं। हम अपनी अनुभूति में अपने स्वाद का आधार पाने में असफल होते हैं और इसलिए उसे वहाँ ढूँढ़ने की कोशिश नहीं करते। यदि हम अपनी विचार-भूमि के प्रति दृढ़ हों तो हम उस व्यक्ति की भाँति भाषा की प्रतीकता को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लेंगे जो बलाघात पूर्वक अपनी भाषा का उच्चारण करने में प्रगल्भ होता है और

देशी रूप में उसके परिवर्तन को देखकर खुश होता है तथा उसमें रुचि लेता है। परन्तु देशीजन यह सिद्ध करने में बड़ा उत्साह दिखाते हैं कि उसकी विलक्षणता को प्रमाणित करने के लिए उनके पास औचित्य है और प्राचीन मत है। इसलिए ऐसे लोग जिनको अर्थबोध नहीं होता है और यह नहीं जानते हैं कि वे कैसे निर्णय करते हैं, हमेशा यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि वे लोक-ज्ञान के आधार पर निर्णय करते हैं।

इस प्रकार हमारे अपने निर्णय का प्रमाद और अल्पता विरोध नहीं प्रदर्शित करती। जब हम स्वयं अपने विश्वास का कारण नहीं बता पाते तब हम दूसरों के संदेह की भर्त्सना करते हैं। इस प्रकार दूसरे व्यक्ति का हमारा आदर्श हमारे अपने निर्णय के साथ उसके निर्णय का मतैक्य लिये होता है। इसलिए हम यह अपेक्षा करने में अयुक्त हो सकते हैं कि सभी जातियों को एक शैली की स्थापत्यकला की और सभी युगों को एक ही कवि की प्रशंसा करनी चाहिए।

परम्परागत इतिहास की सीमा में मानव अभिरुचि की वास्तविक एकता इस दावे में सहयोग देती है परन्तु सिद्धान्ततः यह अलभ्य है। वास्तविक मूल्य की किसी कल्पना-सृष्टि की आशंसा करने की मानव-क्षमता से इतर किसी अन्य वस्तु से इसका सरोकार नहीं होता। उसकी शुद्ध कसौटी यह है कि वह रचना आशंसक को किस कोटि और किस तरह का तोष प्रदान करती है। इस बात से सुन्दर संगीत की क्षति नहीं होती यदि संसार के आधे लोग बधिर होते। आज भी हम जानते हैं कि दस में से नौ व्यक्ति संगीत की लय-गति की बारीकियों के विषय में अनभिज्ञ होते हैं। परन्तु इस बात से मनुष्यता की बहुत बड़ी क्षति होती यदि तानसेन, सूरदास, पलुष्कर प्रभृति संगीतकार न पैदा हुए होते। किसी विशेष प्रकार के सौंदर्य की आशंसन-अक्षमता इस कारण भी होती है कि हममें किसी दूसरे प्रकार के सौंदर्य की गहन आशंसन क्षमता होती है। सुखभोग और सृजन दोनों की महानतम क्षमता अत्यन्त विशिष्ट और ऐकान्तिक होती है। यही कारण है कि कला के महान् युग अन्य युगों के प्रति असहिष्णु होते हैं।

एक विचारधारा के विरुद्ध दूसरी विचार पद्धति की आलोचना कलात्मक दृष्टि से स्वस्थ लक्षण है। क्योंकि इससे किसी विशेष तरह के सौंदर्य की महत्वपूर्ण आशंसा का संकेत मिलता है। उन लोगों की अनुरक्ति का पता चलता है जो द्वेष वृत्ति में पले हुए हैं। ये बातें दार्शनिक दृष्टि से परस्पर विरुद्ध लगती हैं। किसी दृष्टि से हम उन वास्तुकारों की निन्दा कर सकते हैं जिन्होंने अपने विचारों से पुराने भवनों की पूर्णता का खंडन किया और उनके स्थान पर नयी भवन कला का निर्माण किया। उन्होने खंडन द्वारा पुरानी भावना का ह्रास किया पर अपनी पद्धति में अद्भुत विश्वास प्रदर्शित किया, अपनी अभिरुचि का उपस्थापन किया। यह रसात्मक आस्था का सबसे बड़ा प्रमाण है। इसके विपरीत हमारी अंधभक्ति हमारी अक्षमता का लक्षण है। यदि हम कम शिक्षित हों, कम न्यायशील हों तो संभव है हम अपनी पुरानी रीति में अधिक दक्ष हों। यदि हमारी आशंसा बहुत सामान्य न हो तो वह अधिक वास्तविक हो सकती है। यदि हम अपनी प्रतिभा का पृथक् विनियोग करें तो उसमें विशेष चरित्र या लक्षणों की उपलब्धि हो सकती है।

रसात्मक निर्णय में हमारे अपने मत के साधारणीकरण की इच्छा के स्थान पर सार्वत्रिकता का दावा होता है। संवेदना के किसी तत्त्व का वस्तु के गुण में रूपान्तरण जैसी अभिव्यक्ति में

विचित्र पर ज्ञात मनोवैज्ञानिक घटना का संकेत है। हम कहें कि किसी वस्तु में अन्य लोगों को भी वही सौंदर्य देखना चाहिए जो हमें दिखाई देता है, क्योंकि हम सोचते हैं कि सौंदर्य वस्तु में है जैसे उसका रंग, अनुपात और आकार। हमारा निर्णय किसी बाह्य सत्ता या किसी बाह्य वास्तविक प्रकर्ष का प्रत्यक्षीकरण और अन्वेषण है। परन्तु यह धारणा ऊटपटांग और अनर्गल है। सौंदर्य एक मूल्य है। उसे किसी स्वाधीन सत्ता के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता जो हमारी भाव-वृत्ति को प्रभावित करती है और जिसे हम तत्पश्चात् देखते हैं। उसकी सत्ता प्रत्यक्षीकरण में होती है। दूसरे रूप में उसका अस्तित्व नहीं होता है। अदृष्ट सौंदर्य अननुभूत सुख है। यही व्याघात का मूल है। पर आधुनिक दर्शन के अनुसार दृष्ट जगत् के सारे तत्त्वों के विषय में यही कहा जाता है, सभी कुछ संवेदना है, और वस्तु रूप में उनके वर्गीकरण को शाश्वत और स्थायी होने की कल्पना हमारी बौद्धिक प्रवृति का कार्य है। यदि हम जीवन के विस्तृत अनुभवों का संगठन और वर्गीकरण न करें और संस्कारों की अव्यवस्था के बीच परम्परागत तथा परिचयात्मक वस्तुओं की दुनिया की रचना न कर सकें तो उनका सर्वेक्षण और संग्रहण करने में अक्षम होंगे।

प्रत्यक्षीकरण के आधुनिक सिद्धान्त व्याख्या करते हैं कि यह सब कैसे होता है। बाह्य वस्तुएँ हमारी उन इन्द्रियों को तुरंत प्रभावित करती हैं जिनके साथ उनके साहचर्य का प्रभाव होता है। एक वस्तु की बार-बार अनुभूति उसके सादृश्य के साथ संबद्ध होती है। इसलिए एक ही प्रत्यक्ष में उसके मिश्रण और समेकन की द्वैधी प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार नाम के साथ उन स्मृतियों और प्रतिक्रियाओं का समूह लग जाता है जिनका वास्तविक कारण बाह्य वस्तु होती है। परन्तु एक बार निर्मित यह दृष्टि उन विशेष अनुभूतियों से स्पष्टतः भिन्न होती है जिनसे इसका विकास होता है। यह स्थायी होती है और वे व्यभिचारी होती हैं। वे इसकी केवल आंशिक दृष्टि और झलक होती हैं। इस प्रकार विहित विचार सत् हो जाता है और उसकी सामग्री केवल आभास होती है। अतएव तत्त्व और गुण, सत् और आभास, द्रव्य और मन के भेद का अन्य कोई उत्स नहीं है।

इस प्रकार संकल्पित और विभक्त वस्तु में उसके प्रति हमारे विचारों में गृहीत सभी प्रभावों, भावनाओं और स्मृतियों का पहले संघनन होता है। वे स्वयं अपने को संश्लेषकारी कल्पना के चतुर्दिक साहचर्य के लिए निवेदित करती हैं। वस्तु से प्राप्त प्रत्येक संवेदना प्रारंभ में उसके गुणों में से एक गुण प्रतीत होती है। प्रयोग से और वस्तु की संरचना के सरल संप्रत्ययन की व्यावहारिक आवश्यकता से हम धीरे-धीरे वस्तु के गुणों को किसी न्यूनतम सीमा तक छाँटते हैं और उन्हीं स्वल्प गुणों के प्रभाव के रूप में अधिकांश प्रत्यक्षों को स्वीकार करते हैं। ये थोड़े से मौलिक गुण हमारे अनुभूति-क्रम की व्याख्या करने के लिए पर्याप्त होते हैं। रंग आदि जैसे अन्य सभी को हम केवल मन के ऊपर प्रभाव मानते हैं, उसे वस्तु का आभासी और गौण गुण समझते हैं।

इस विभाजन का व्यावहारिक औचित्य है। सुविधा और विचार की मितव्ययिता द्वारा निर्धारित होता है कि हम अपने संवेदनों में से किनको वस्तु भाव में संजोये रखें और उसे शेष का कारण समझें। वस्तुनिष्ठ होने का अधिकार और प्रवृत्ति सबमें बराबर होती है।

क्योंकि वे सब उस विचार-निपुणता की पूर्वगामी होती हैं जिससे हम द्रव्य को उसके संप्रत्यय से अलग करते हैं, वस्तु को अपनी अनुभूतियों से अलग करते हैं।

वस्तु के अधिकांश गुण दृष्टि और स्पर्श की प्रतिमाएँ हैं, उन्हें हम वस्तु का गुण समझते हैं। पहली कोटि के प्रभाव जिन्हें हम गौण मान सकते हैं वास्तव में सुख और दुःख हैं। वस्तु में सुख-दुःख को मानना बुद्धि और क्रिया द्वारा अमान्य हो जाता है। पर तत्त्वतः संवेग वस्तूकरण के पात्र होते हैं वैसे ही जैसे बोध के प्रभाव। कोई अनुमान कर सकता है कि आदिम और अनुभवहीन चेतना से युक्त संसार ऐसे लोगों से आबाद होगा जो अपने भय और वासना के प्रेतों के साथ होंगे।

विचार की पाशविक और काल्पनिक प्रवृत्ति ज्ञान के संकीर्ण क्षेत्रों में अब भी पाई जाती है। जहाँ यांत्रिक विज्ञान की प्रगति हो गई है, वहाँ सत् के संप्रत्यय के साथ संवेगात्मक या वासनात्मक तत्त्वों को मिलाना अत्यारोप होगा। वहाँ वस्तु के विचार का निर्माण ऐकान्तिक रूप से प्रत्यक्ष तत्त्व, रूप और गति के आधार पर होता है।

वस्तुसौंदर्य इस नियम का अपवाद है। सौंदर्य संवेगात्मक सत्ता है। वह हमारी आनन्दानुभूति है जिसे हम वस्तु का गुण मानते हैं। हमें इस अपवाद की प्रकृति को समझने का प्रयास करना चाहिए। किसी चीज का वैज्ञानिक विचार प्रत्यक्षों और प्रतिक्रियाओं के बीच घोर अमूर्तिकरण का परिणाम होता है, जब कि रसात्मक विचार कम अमूर्त होता है क्योंकि वह संवेगात्मक प्रतिक्रिया और प्रत्यक्षीकरण के सुख को संकल्पित वस्तु के संघटक के रूप में प्रतिधारित करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सौंदर्य भावात्मक, अंतस्थ और विषयभूत मूल्य है। अथवा सौंदर्य किसी वस्तु के गुण के रूप में मान्य रस या सुख है। सौंदर्य मूल्य है, इसका यह अर्थ नहीं है कि यह किसी वस्तु-तथ्य या संबंध का प्रत्यक्ष है। वह हमारा संवेग है, हमारी ऐच्छिक और आशंसी प्रकृति का प्यार है। वह वस्तु सुन्दर नहीं हो सकती जिससे किसी को रस नहीं मिलता। जिस सौंदर्य से सब लोग विमुख हों, वह सौंदर्य का उपहास है।

यह मूल्य भावात्मक होता है। उसमें किसी शिव की सत्ता का भाव होता है और (विरूपता की स्थिति में) अभाव होता है। वह कभी वास्तविक अनिष्ट का प्रत्यक्ष नहीं होता, वह कभी अभावात्मक मूल्य नहीं होता। सौंदर्य की भावना से मंडित होना शुद्ध लाभ है जो अपने साथ कोई अमंगल नहीं लाती। जब विरूपता मनोरंजक नहीं रह जाती, विक्षोभकारी हो जाती है, तब वह वास्तव में नैतिकता और व्यवहार के क्षेत्र में भावात्मक अशुभ हो जाती है। रस के विषय में यह कथन सत्य है कि शिव का अभाव अशिव है। रसात्मक शिव का अभाव नैतिक अशुभ है। रसात्मक अशुभ आपेक्षिक होता है अर्थात् उसमें उस देश-काल की आकांक्षा के अनुकूल अल्प शिव होता है। उसमें किसी रूप में अपने आप पीड़ा देने की शक्ति नहीं होती।

रसात्मक सुख किसी वस्तु या घटना की उपयोगिता का परिणाम नहीं होता, वह उसके प्रत्यक्षीकरण के कारण होता है अर्थात् सौंदर्य मौलिक शिव होता है। वह प्राकृतिक कृत्य के रूप में तोषकारी होता है। हमारे मन की किसी मूलभूत आवश्यकता और पात्रता

को तुष्ट करता है। इस प्रकार सौंदर्य भावात्मक मूल्य है, वह अंतस्थ होता है, वह रस होता है। नैतिक मूल्य प्रायः अभावात्मक होते हैं और दूरस्थ होते हैं। नैतिकता का संबंध अमंगल निवारण से होता है। शिव का लक्ष्य रस, केवल रस होता है।

अन्त में हम इन्द्रिय सुख को सौंदर्य के प्रत्यक्षीकरण से पृथक् करते हैं जैसा सामान्यतः संवेदना और प्रत्यक्ष में भेद किया जाता है। संवेदना से प्रारंभ होकर प्रत्यक्ष का मार्ग धीरे-धीरे तय होता है। इस मार्ग का अन्वेषण हो सकता है जो संवेदना से होकर आनन्द और सौंदर्य तक जाता है। इनके बीच कोई स्पष्ट विभाजन रेखा नहीं है। यह उस क्षण हमारी भावना की लब्ध वस्तुनिष्ठता की कोटि पर निर्भर है। चाहे हम कहें कि 'यह हमें सुखकर है' या 'यह हमें सुन्दर लगता है' बात एक ही है। यदि हम आत्मचैतन्य और आलोचक हैं तो पहली उक्ति का प्रयोग करेंगे, यदि आवेगयुक्त और ग्रहणशील हैं तो दूसरी का। सुख जितना ही दूरस्थ, समिश्र और संशिलष्ट होता है उतना ही वस्तुनिष्ठ प्रतीत होता है और दो सुखों के गठन से प्रायः एक सौंदर्य निर्मित होता है। एक अलंकार पृथक् रूप से प्रदर्शन और संवेदन का विषय होता है पर वही सत् और सौंदर्य के तत्त्व में योग देकर रंग को गहरा बना देता है। जैसे प्रत्यक्ष का सहयोग सत् करता है वैसे ही सुख का सहयोग सौंदर्य। यदि गंध की मधुरता विना रंग, रूप और गति सुन्दर न हों तो मधुरता को सुन्दर बनाने के लिए ये कितने आवश्यक होंगे। यदि सुगंध शीशी में बन्द हो तो उसे सुन्दर कहने का किसी को विचार भी नहीं होगा। परन्तु जब वही गंध उपवन के मादक समीर के साथ बहती है तो उपवन के सौंदर्य में एक और मुग्धकारी गुण जोड़ देती है और उसे सुन्दर होने में सहयोग देती है। इस प्रकार सुख के वस्तू-करण द्वारा सौंदर्य संगठित होता है अर्थात् रस या सुख की वस्तुनिष्ठता सौंदर्य है।

———

विश्वविद्यालय के उद्देश्य

१. अखिल जगत् की सर्वसाधारण जनता के एवं मुख्यतः हिन्दुओं के लाभार्थ हिन्दू शास्त्र तथा संस्कृत साहित्य की शिक्षा का प्रसार करना, जिससे प्राचीन भारत की संस्कृति और उसके विचार-रत्नों की रक्षा हो सके, तथा प्राचीन भारत की सभ्यता में जो कुछ महान् तथा गौरवपूर्ण था, उसका निदर्शन हो।

२. साधारणतः कला तथा विज्ञान की समस्त शाखाओं में शिक्षा तथा अन्वेषण के कार्य की सर्वतोमुखी उन्नति करना।

३. भारतीय घरेलू धन्धों की उन्नति और भारत की द्रव्य-संपदा के विकास में सहायक आवश्यक व्यावहारिक ज्ञान से युक्त वैज्ञानिक, तकनीकी तथा व्यावसायिक शिल्प-कलादि संबंधी ज्ञान का प्रचार और प्रसार करना।

४. धर्म तथा नीति को शिक्षा का आवश्यक अंग मानकर नवयुवकों में सुन्दर चरित्र का गठन करना।

OBJECTS OF THE UNIVERSITY

1. To promote the study of the Hindu Shastras and of Samskrit Literature generally as a means of preserving and popularizing for the benefit of the Hindus in particular and of the world at large in general, the best thought and culture of the Hindus, and all that was good and great in the ancient civilization of India,

2. To promote learning and research generally in Arts and Sciences in all branches,

3. To advance and diffuse such scientific, technical and professional knowledge combined with the necessary practical training as is best calculated to help in promoting indigenous industries and in developing the material resources of the country : and

4. To promote the building up of character in youths by religion and ethics as an integral part of education.